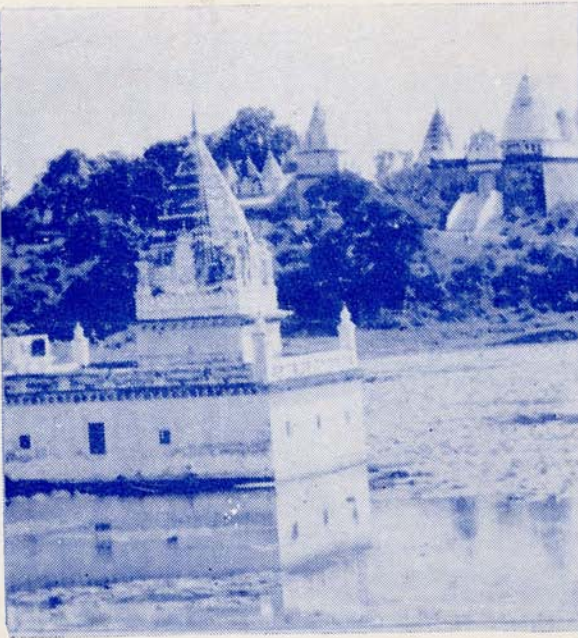


વર્ષ ૮; ક્રમ ૭૦૨
તા. ૨૦ ડિસેમ્બર ૧૯૭૨





बन्दौ रे तीरथ नैनागिरि

बुन्देली लोकधुन पर आधारित
एक बन्दना-गीत

□ कैलाश मड़बैया

ऊँची-ऊँची बजर पहड़ियाँ, जिनपै हूँसें लतायें।
पार्ष्वनाथ के समोसरण पै, जैसे ध्वज फहरायें।
बहे शीतल मन्द बयार
बन्दौ रे तीरथ नैनागिरि ॥

ऊपर मन्दिर, नीचे मन्दिर, मन-मन्दिर मे मन्दिर।
नैना रहे निहार, नीक निर्मल नीरव नैनागिरि।
दये तन-मन-धन सब हार
बन्दौ रे तीरथ नैनागिरि ॥

मध्य सरोवर का जल-मन्दिर सचमुच नैनन भाये।
क्षीरोदधि में जैसे जिनवर, स्वयं रथ लेकर आये।
करे लहर-लहर जयकार
बन्दौ रे तीरथ नैनागिरि ॥

वरदतादि ऋषि जहाँ से, पाये मोक्ष हुआरे।
बधों न सँवर जाएँ दर्शन से बिगड़े भाव हमारे।
नमो रे आ, रेजन्दीगिरि
बन्दौ रे तीरथ नैनागिरि ॥

चन्द्रा-सूरज, रैन-दिवस, जहाँ नित दीपक उजयारे।
प्रकृतिनटी आ करे आरती, तीर्थकर के द्वारे।

प्रभु नच आवाफ निवाह
बन्दौ रे तीरथ नैनागिरि ॥

तीर्थकिंठ

विचार-मासिक

(सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन)

वर्ष ८, अंक ७-८; नवम्बर-दिसम्बर १९७८
कातिक-मार्गशीर्ष वि. सं. २०३५; वी. ति. सं. २५०५

श्री नैनागिरि तीर्थ एवं आचार्य विद्यासागर विशेषांक

संपादक : डा. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन

वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : पांच रुपये
विदेशों में : तीस रुपये
आजीवन : एक सौ एक रुपये



हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कालोनी,
कनाड़िया रोड़,
इन्दौर-४५२००१
दूरभाष : ५८०४

नई दुनिया प्रेस
केसरबाग रोड़,
इन्दौर-२ से मुद्रित

क्या / कहाँ

बन्दों रे तीरथ नैनागिरि (वन्दन-गीत)	—कैलाश मड़वैया	आवरण-२
साधुओं को नमस्कार	—संपादकीय	५
शभो लोए सच्च साहूणं	—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	९
जैन साधु की चर्या	—डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	१५
एक और विद्यानन्द	—नीरज जैन	१७
वह लाजवाब है (शब्द-चित्र)	—नरेन्द्रप्रकाश जैन	२०
एक तपःपूत कवि की काव्य-साधना	—श्रीमती आशा मलैया	२१
युवापीढ़ी का ध्रुवतारा	—अजित जैन	२५
रोशनी का वह चेहरा (कविता)	—उमेश जोशी	२७
विद्याञ्जलि (कविता)	—श्रीमती आशा मलैया	२९
मोक्ष, आज भी संभव	—आचार्य विद्यासागर	३०
भेंट/एक भेद-विज्ञानी से	—नेमीचन्द्र जैन	३८
बालक विद्याधर से आचार्य विद्यासागर	—सतीशचन्द्र जैन	५०
आत्मा का क्या कुल ?	—आचार्य विद्यासागर	५२
एक तीर्थयात्रा, जिसे भूल पाना असंभव है	—नेमीचन्द्र जैन	५३
सद्गुरु की पहचान (बोधकथा)	—आनन्द स्वामी	५८

तीर्थयात्रा

	—डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य	५९
बुन्देलखण्ड-यात्रा की दो बड़ी उपलब्धियाँ (संस्मरण)	—श्रेयान्सप्रसाद जैन	६१
नैनागिरि : जहाँ खुलते हैं अन्तर्नयन	—सुरेश जैन	६३
बाबू बाबाजी की याद में (संस्मरण)	—स्व. अयोध्याप्रसाद गोयलीय	६७
प्रेम का अभाव ही है नरक	—भानीराम 'अग्निमुख'	७२
वाणी मुखरित हुई धरा पर (कविता)	—बाबूलाल जैन 'जलज'	७९
बचें हम, प्रश्नों की भीड़ से	—डॉ. कुन्तल गोयल	८१
सम्प्रदाय (ललित व्यंग्य)	—सुरेश 'सरल'	८३
समस्याओं से घिरा आज का शोध-छात्र	—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	८३
जैनविद्या : विकास-क्रम/कल, आज (५)	—डॉ. राजाराम जैन	८९
टिप्पणियाँ		
१ : ये गड़बड़ियाँ	—श्रीमती विमला जैन	९९
२ : महानता की कसौटियाँ	—गुलाबचन्द आदित्य	९९
चालीस वर्ष और सिर्फ चार आने !! (बोधकथा)		१००
कसौटी		१०१
समाचार-परिशिष्ट		१०५
निराकुलता	—नेमीचन्द पटोरिया	आवरण-३
प्रश्न भी स्वाध्याय		आवरण-४
चिह्न : नीरज जैन (आवरण-१, २); नरेन्द्रप्रकाश जैन (पृष्ठ ५०, ५१, ५२) सिस्टर जनवियेव (पृष्ठ-९८)		

घर-घर दीपक बरै, लखै नहि अन्ध है ।
लखत लखत लखि परै, कटै जम फन्द है ॥

कहन-सुनन कछु नाहि, नहीं कछु करत है ।
जीते जी मरि रहै, बहुरि नहि मरन है ॥

जोगी पड़े बियोग, कहैं घर दूर है ।
पासहि बमत हजूर, तू चढ़त खजूर है ॥

बाम्हन दिच्छा देता घर घर घालिहै ।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालिहै ॥

ऐसन साहब कबीर सलोना आप है ।
नहीं जोग नहीं जाप पुन नही पाप है ॥

आप अपनपौ चीन्हू, नख-सिख सहित कबीर ।
आनन्द-मंगल गावहू, होहि अपनपौ थीर ॥

देख बोजूद (बुजूद=सत्ता) में अजब विसराम है,
होय भौजूद तो सही पावं ।

साधुओं को नमस्कार

साधु क्या है ? साधु कौन है ? जैनधर्म में लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है, क्या 'लोक' संबोधन के अन्तर्गत सभी साधु पूज्य हैं ?

यदि नहीं, तो क्यों ?

यदि हाँ, तो क्यों ?

कभी-कभार व्यंग्य-उपहास में 'साधु' को 'स्वादु' भी कहा जाता है, ऐसा क्यों है ?

क्या साधु कोई स्वाद के लिए होता है,

और क्या स्वाद एक ही किस्म का है ?

क्या कीर्ति में कोई स्वाद है ? साधु-संस्था क्या इससे उदासीन चलती है, चल सकती है ?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि

'ऊपर से कुछ, भीतर से कुछ' इस संस्था के साथ भी है ?

जिसमें इसे लीन-लिप्त होना चाहिये उससे अलिप्त कहीं यह संस्था किसी अन्य दिशा में यात्रा तो नहीं कर रही है ?

आखिर साधु के कर्तव्य क्या हैं, क्या समाज के प्रति उसके कोई दायित्व हैं ?

वह त्याग, तितिक्षा, उत्सर्ग, करुणा, मत्प, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य की जीवन्त प्रतीक संस्था है ;

सोचें हम कि क्या आज वह इन सबका सच्चा-सही प्रतिनिधित्व कर रही है ?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम लाचारी में साधु को अपना आराध्य माने हुए हैं,

कहीं ऐसा तो नहीं है कि साधुओं में से अनेक किसी विवशता में दीक्षित हुए हैं और अब गले-पड़े दायित्व को ढो रहे हैं ?

क्या वेश से कोई साधु हो सकता है ?

क्या मात्र नग्नता साधुता की निशानी है ?

क्या कोई विशिष्ट वेश-भूषा, या विशिष्ट कोई पहचान, या व्रत-उपवास,

या कोई खास स्थान साधुत्व का संकेत है ?

क्या अंतरंग की कोई कसौटी हमारे पास है ?

क्या भीतर की खिड़कियाँ खोल किसी व्यक्ति को साधु या असाधु कहने का

कोई उपाय हमारे पास है,

अथवा

हम निपट निरुपाय हैं ?

क्या ऐसी कोई कसौटी हमारे पास है, जो साधुत्व को कस सके ?

क्या इस या इन कसौटियों को प्रत्येक सामाजिक जानता है ?

क्या ये कसौटियाँ व्यापक रूप से प्रचारित हैं ? क्या इन पर बदलते हुए सांस्कृतिक सामाजिक, और नैतिक-धार्मिक सन्दर्भों में विचार-पुनर्विचार होता रहा है ?

क्या इन-उतने प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने-पाने की कोई ईमानदार कोशिश हमने कभी की है ?

इसलिए नहीं कि हम साधु-संस्था को किसी तेज तेजाब में डालना चाहते हैं, वरन् इसलिए कि हम इससे अधिक उजास और प्रेरणा चाहते हैं ?

हम चाहते हैं

हमारा जो सांस्कृतिक बल क्षीण हुआ जा रहा है

उसे

हमारी यह संस्था संभाले, उसे बलवत्ता-गुणवत्ता प्रदान करे,

उसे स्थायी आधार प्रदान करे,

तथा

आनेवाली पीढ़ी को एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति खतरों से बचाये,

उसका दिशा-दर्शन करे ।

संसार से निराश व्यक्ति,

तनाव में तड़पता व्यक्ति,

अशान्ति, क्लेश, क्रल्ल, संत्राम, युद्ध, कलह, चोरी-तस्करी में

छटपटाता आदमी

इन साधुओं की शरण में आज लगातार पहुँच रहा है, किन्तु क्या

वह

भगवानों, योगियों, बाबाओं, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों और ज्योतिषियों का बाना

पहने इन साधुओं से निराश नहीं लौट रहा है ?

क्या अन्धविश्वासों के दुश्चक्र, या फेरे से वह कभी बाहर हुआ आज पुनः

साधु-मछेरों के उसी जाल में नहीं फँस रहा है ?

क्या किसी पुस्तक को प्रकाशित करना-कराना, या कोई मन्दिर बनवा देना,

या कोई दान-धरम कर देना ही वस्तुतः धर्म है ?

या किसी काम को सम्यक्त्व की खरी-असली कसीटी पर कस कर कोई क्रम

उठाना धर्म है ?

क्या आज जो साधु किसी आन्दोलन के प्रतीक बन गये हैं, उनका ऐसा होना

ठीक है ?

क्या उन्हें आन्दोलनातीत, अथवा संप्रदायातीत होने की आवश्यकता नहीं है ?

क्या साधुओं का मुख्य कार्य आत्मोत्थान नहीं है ?

क्या इस आत्मोन्नयन के लिए ही सर्वत्र-सदैव उन्हें सब कुछ नहीं करना चाहिये ?

क्या सामाजिक, अथवा सांस्कृतिक समारोहों में,

या ऐसे ही किन्हीं प्रपंचों में डबा-सना कोई साधु समाज को कोई

अमृत-कलश दे सकता है ?

क्या धर्म विज्ञान का दुश्मन शब्द है ?

या

विज्ञान धर्म का शत्रु शब्द है ?

क्या धर्म के किञ्चित् वैज्ञानिक होने की आवश्यकता से हम मुँह मोड़ सकते हैं,

और क्या विज्ञान को तनिक धार्मिक होने की जरूरत नहीं है ?

क्या ये दोनों एक-दूसरे से परिणीत हो कर एक-दूसरे को समृद्ध नहीं कर सकते ?

क्या जैनदर्शन के भेदविज्ञान का कोई वैज्ञानिक आधार है ?

क्या भेदविज्ञानी वह साधु हो सकता है जो सांसारिकताओं से सरोकार रख रहा है, और

उनकी हर परत में रस ले रहा है, या उनसे आविष्ट अथवा परिवेष्टित है ?
 भेदविज्ञानी का अर्थ केवल भेदविज्ञान का जानकार ही नहीं है,
 उसका विशुद्ध अर्थ है,
 पुद्गल और जीव द्रव्यों के पृथक्करण की साधना करनेवाला निःस्पृह साधक,
 ऐसा साधक,
 जिसके तरकश के तीर बराबर चल रहे हैं और
 जो
 पुद्गल और जीव की अनादि मैत्री को
 अवरिल तोड़ रहा है ।

साधुस्वाद के लिए कभी नहीं जीता,
 वह अस्वाद में जीता है, और जो लेता है वह मात्र शरीर को बनाये रखने के लिए,
 साधन को सक्रिय रखने के लिए ।
 वह पेट-समाता ग्रहण करता है ;

किन्तु देखा गया है कि कई साधु स्वाद में स्वाद लेते हैं, और सुस्वादु भोजन न
 मिलने पर शिकायत करते हैं,
 कुछ आवासीय सुविधाओं के आरामदेह न होने की शिकायत करते हैं,
 यानी

अब साधु सरदर्द होते हैं.
 वे सरदर्द ढोते नहीं हैं ।

ऐसे साधुओं की अलग से कोई पहचान नहीं है,
 कई सवस्त्र होकर भी दिगम्बर मुनि की भाँति निःस्पृह हैं, और
 कई निर्वस्त्र-दिगम्बर होकर भी भीतर वस्त्र पहने हैं,
 यानी बाना कसौटी नहीं है.

वस्तुतः विचारों का जीवन में जो आकार दिखायी देता है, वही असली कसौटी है ;
 ज्ञान और चारित्र्य का समन्वित रूप ही सच्चा प्रतिमान है ।

साधु एक खुली किताब है,
 या कहें कि वह

एक जीवन्त शास्त्र है,
 एक ऐसा शास्त्र, जिसमें चारित्र्य-लिपि का उपयोग हुआ है,
 जिसके अक्षर-अक्षर, वर्ण-वर्ण से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य
 प्रकट हो रहे हैं ।

इसलिए साधुओं की अपनी कोई जगह नहीं है,
 सारी घरा उनकी अपनी है,
 सारे प्राणी उनके अपने हैं,
 सारी धड़कनें उनकी अपनी हैं.

या हम यों कहें कि
 सूर्य की नोक-जितनी जमीन भी उनकी नहीं है,
 एक भी प्राणी उनका नहीं है,
 वे निरन्तर सल्लेखन में लगे हुए हैं,
 वे कषाय को कृश-क्षीण करने की कला में दक्षता प्राप्त किये जा रहे हैं,

इस बीच जो भी उनके सहज संपर्क में आ रहा है, स्वर्ण बन रहा है,
 वे इस चिन्ता से मुक्त हैं कि कौन-क्या हो रहा है,
 या किसे क्या हो जाना चाहिये ?
 वे अपनी चिन्ता से भी मुक्त हैं,
 वे विगत कल की चिन्ता से भी मुक्त हैं,
 वे आगामी कल की चिन्ता से भी मुक्त हैं,
 वे आज में, अभी में,
 विगत-अनागत की गलियों से विमुक्त हैं,
 वे वर्तमान के अध्येता हैं,
 वर्तमान एक क्षण पर मुस्थित है,
 उसे 'फील' करना, उसे 'सेन्स' करना कठिन है,
 उसकी अनुभूति दुष्कर है,
 उसकी पहचान मुश्किल है,
 असंभव कुछ नहीं होता ;
 किन्तु आधे से अधिक साधु अतीत के पुजारी हैं,
 उनका एक मोटा प्रतिशत भविष्य की कामनाओं का याचक है,
 एक बहुत छोटा,
 कहिये,
 नगण्य प्रतिशत अनुसंधान कर पाया है वर्तमान का ;
 वस्तुतः साधु वे हैं, जो वर्तमानता की खोज में अपना अप्रमत्त-सावधान पग डाले हुए हैं,
 अपनी नामिकाग्र दृष्टि गड़ाये हुए हैं,
 क्षण-सिन्धु में जो गोते ले रहे हैं,
 क्षण के दुर्ग को जिन्होंने तोड़ा, या जीत लिया है,
 वे हैं साधु ।
 साधुवेशी अधिकांश अस्तित्व आज ऐसे हैं, जिन्हें क्षण ने जीत लिया है,
 विरल ही ऐसे हैं,
 जिन्होंने क्षण की छाती पर अपनी विजय का झण्डा गाड़ा है ।
 यह 'ममय' की कसौटी है,
 इस कसौटी को मत्र साधु उपलब्ध नहीं होते,
 यह कसौटी भी मत्र साधुओं को उपलब्ध नहीं होती,
 जिन्हें यह कसौटी मिलती है,
 या जो इस कसौटी को मिलते हैं,
 "णमो लोए मव्व साहूणं" पद
 उन्हीं के लिए प्रयुक्त है ।
 वे प्रणम्य हैं,
 प्रणम्यों के प्रणम्य हैं ;
 जहाँ भी वे हैं उन्हें नमस्कार,
 जिस वेश में भी वे हैं, उन्हें उस बाने में नमस्कार,
 जितने वे हैं उतने सबको नमस्कार,
 उन पर सर्वस्व निष्ठावर,
 उन पर सर्वोत्सर्ग ।

□

णमो लोए सव्वसाहणं

६६ आज की विडम्बनाएँ देखकर मेरा यह मत बन गया था कि इस काल में सच्चा दिगम्बर जैन साधु होना संभव नहीं है; किन्तु जब से आचार्य विद्यासागरजी के दर्शन किये हैं, मेरे उक्त मत में परिवर्तन हुआ है और मन कहता है कि उपादान यदि सशक्त हो तो बाह्य निमित्त कुछ नहीं कर सकते।

□ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

अखण्ड जैन परम्परा का मूलमंत्र पञ्चनमस्कारमंत्र या नवकारमंत्र है। इसे अनादि मूलमंत्र के रूप में माना जाता है। इधर षट्खण्डागम का यह आद्य मंगल है, तो उधर भगवतीमंत्र की भी यही स्थिति है। प्रसिद्ध खारवेल के शिलालेख का प्रारम्भ भी इसी मंत्र के आद्यमंत्र से होता है। दिगम्बर परम्परा में यह णमोकार या पञ्च नमस्कार मंत्र के नाम से प्रसिद्ध है, तो श्वेताम्बर परम्परा में नवकार के नाम से। पञ्च नमस्कार मंत्र में तो पाँच ही पद हैं; किन्तु उसका माहात्म्य बतलाने वाला जो प्राकृत पद्य है उसके चार चरण जोड़ने से नवकार होता है। श्वेताम्बर परम्परा में 'नवकार' का ही प्रचलन है। उसके लघु नवकार फल में कहा है—

जिणसासणस्स सारो चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो ।

जरस्स मणे नवकारो संसारो तस्स किं कुणइ ॥

× × ×

जे कोई गया मोक्खं गच्छति य के वि कम्मफलमुक्का ।

ते सव्वे वि य जाणसु जिण णवकारप्पभावेण ॥

(जो जिन शामन का गार है और चौदह पूर्वी का उद्धार रूप है ऐसा नवकार मंत्र जिसके मन में है, संसार उसका क्या कर सकता है? जो कोई भी कर्मफल से मुक्त होकर मोक्ष गये, जाते हैं और जागेंगे, वे मंत्र नमस्कार मंत्र के प्रभाव से ही जानी।)

इस पञ्च नमस्कार या नवकार मंत्र में नमस्करणीय हैं पंचपरमेष्ठी—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु। साधुपद से ही परमपद की तैयारी का आरम्भ होता है। इससे यह पद आरम्भिक पद है और इसी से उसको सबसे अन्त में रखा है; क्योंकि नमस्करणीयों में यह सबसे लघु होता है।

आज के भाषाविज्ञानी भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हमारे इस मंत्र को अनादि मानने के लिए तैयार नहीं हैं; क्योंकि सबसे प्रथम साधु शब्द ही प्राचीन नहीं माना जाता।

तीर्थंकर : नव-दिस. ७८

९

‘साधु’ से ‘मुनि’ शब्द प्राचीन है। ऋग्वेद में ‘मुनयोवातरशना’ के द्वारा वातरशन (दिगम्बर) मुनियों का उल्लेख मिलता है। इसके सिवाय जिनागम में ओंकार में पञ्चपरमेष्ठी को समाविष्ट माना है। पञ्चपरमेष्ठी के वाचक पाँच शब्दों के आद्य अक्षरों को मिलाकर ‘ओम्’ बना है। अरहंत (अ), अशरीर-सिद्ध (अ), आचार्य (आ), उपाध्याय (उ), मुनि (म्) = (अ + आ + आ + उ + म् = ओम्) इसमें भी मुनि पद का म् लिया है; अतः कम-से-कम ‘साधुण’ तो अतिप्राचीन प्रतीत नहीं होता।

इस अंतिम पद में दो शब्द अधिक हैं—लोए और सब्ब। उनको मिलाकर अर्थ होता है—लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो। षट्खण्डागम की धवला टीका के आरंभ में पञ्च नमस्कार मंत्र की व्याख्या शंका-समाधानपूर्वक विस्तार से की गयी है। उसमें स्पष्ट किया है कि ये दोनों शब्द देहली-दीपक न्याय से पूर्व के भी चारों पदों में संयुक्त होते हैं, अर्थात् लोक के सब अरहंतों को नमस्कार हो, लोक के सब सिद्धों को नमस्कार हो, लोक के सब आचार्यों को नमस्कार हो; लोक के सब उपाध्यायों को नमस्कार हो; लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

आज के कुछ विवेचक इन दोनों पदों पर आपत्ति करते हैं कि इनकी क्या आवश्यकता है? जैनागम के अनुसार ‘लोक’ केवल आज की दुनिया जितना ही नहीं है। उस सब लोक के सब परमेष्ठियों को नमस्कार करने के लिए ये पद दिये गये हैं। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में इसे सुस्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार के प्रारम्भ में भी पृथक्-पृथक् पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार किया है। वर्तमान चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार करने के अन्तर ही उन्होंने मनुष्य-लोक में वर्तमान अरहन्तों को नमस्कार किया है। यही भावना लोए और सब्ब पद में समाविष्ट है। उसी भावना के अनुसार स्वामी कुन्दकुन्द ने भी नमस्कार किया है।

आज के समय में एक नयी आपत्ति ‘साधु’ के साथ सम्बद्ध ‘सब्ब’ पद पर सुनने में आती है। वह आपत्ति यह है कि इसमें सब साधुओं को नमस्कार किया है। उसमें आज के भी सब साधु आ जाते हैं। उनमें सभी तो वन्दनीय नहीं हैं। तब उन्हें कैसे नमस्कार करें? इस आपत्ति के कारण कुछ लोगों ने इस अन्तिम पद को ही अलग कर दिया है; वे उसे पढ़ते नहीं हैं, ऐसा भी हमने सुना है। श्री . . . तक के सम्बन्ध में यह चर्चा सुनी है, क्योंकि वे णमोकार मंत्र के अन्तिम पदों को सुस्पष्ट नहीं बोलते, जैसा आद्य पदों को बोलते हैं। उस पर से लोग अपने मन से कल्पना कर लेते हैं; अतः इस स्थिति पर प्रकाश डालना हमें आवश्यक प्रतीत हुआ है। उसी के लिए यह प्रयत्न है।

‘साधु’ शब्द तो लोक-प्रचलित है। सभी सम्प्रदायों में इसका व्यवहार अपने-अपने सम्प्रदाय के साधु के लिए होता है। प्रायः सब साधु गृहत्यागी होते हैं और अपने-अपने ढंग से साधना करते हैं। नंगे रहते हैं या लंगोटी लगाते हैं, भभूत मलते हैं, सुलफा पीते हैं। हाथी-वाड़े रखते हैं। कुम्भ के मेले में तरह-तरह के साधुओं को देखा जा सकता है; किन्तु ‘सर्वसाधु’ पद की मर्यादा में वे सब नहीं आते। जैन ग्रंथों में सच्चे

साधु की व्याख्या पायी जाती है, उसकी परिधि में जो आता है वही 'सर्व साधु' में वन्दनीय है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

(जो विषयों की आशा से परे है, आरम्भ और परिग्रह से रहित है। ज्ञान, ध्यान तथा में लीन रहता है; वह तपस्वी प्रशंसा का पात्र है।)

इसके विपरीत गुरुमूढ़ता का स्वरूप कहा—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवतिनाम् ।

पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डि मोहनम् ॥

(जो परिग्रह और आरम्भ सम्बन्धी हिंसा में संलग्न हैं, संसार-रूपी भँवर में पड़े हैं, ऐसे पाखण्डियों (साधुओं) का आदर-सत्कार गुरुमूढ़ता है।)

उक्त श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने साधु के लिए 'पाषण्डी' शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन समय में यह शब्द साधु के अर्थ में व्यवहृत होता था। अशोक के शिलालेखों में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है; किन्तु आज यही शब्द पाखण्डी के रूप में बनावटी साधुओं के लिए व्यवहृत होता है। साधुओं के कदाचार से शब्द का अर्थ ही बदल गया है; अतः सर्वसाधु में पाखण्डी साधु ग्राह्य नहीं हैं, भले ही वे नग्न रहते हों और उन्होंने जिन मुद्रा का वेप भी धारण किया हो।

पं. आशाधरजी ने अपने अनगारधर्मामृत में ऐसे पाखण्डियों की निन्दा करते हुए कहा है—

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्याहर्तीं

वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः ।

लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छाधयाचापरे

स्तेच्छन्तीह तर्कस्त्रिधा परिचयं पुं देहमोहैस्त्वज ॥९६॥

(दिग्म्बरत्नरूप जैनी मुद्रा तीनों लोकों में वन्दनीय है, समीचीन प्रवृत्ति—निवृत्ति रूप व्यवहार के लिए प्रयोजनीयभूत है; किन्तु इस क्षेत्र में वर्तमान काल में उस मुद्रा को छोड़ कर कुछ अहंकारी तो उससे विपरीत मुद्रा धारण करते हैं—जटा धारण करते हैं, शरीर में भस्म रमाते हैं। अन्य द्रव्य जिर्नलिग के धारी अपने को मुनि मानने वाले अजितेन्द्रिय हो कर उस जैनमुद्रा को केवल शरीर में धारण करके धर्म के इच्छुक लोगों पर भूत की तरह सवार होते हैं। अन्य द्रव्य जिर्नलिग के धारी मठाधीश भट्टारक हैं, जो जिर्नलिग का वेप धारण करके म्लेच्छों के समान आचरण करते हैं। ये तीनों पुरुष के रूप में साक्षात् मिथ्यात्व हैं। इन तीनों का मन से अनुमोदन मत करो, वचन से गुणगान मत करो और शरीर से संसर्ग मत करो। इस तरह मन, वचन, काय से इनका परित्याग करो।)

आशाधरजी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान् हैं। उस समय भट्टारक-पन्थ भी अधोगति को प्राप्त था। यद्यपि उस समय के भट्टारक नग्न ही रहते थे; किन्तु उनके आचरण म्लेच्छों के समान थे। कुछ जैन दिगम्बर मुनि भी केवल द्रव्यलिंगी थे। यहाँ आशाधरजी ने मन, वचन, काय से उनका परित्याग करने को कहा है और उन्हें पुरुषरूप मिथ्यात्व कहा है; मिथ्यात्व ने ही मानो पुरुष का शरीर धारण कर लिया है।

प्राचीनकाल में तो साधुगण वन में ही वास करते थे। रत्नकरण्ड में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के लिए कहा है—‘गृहती मुनिवनमित्वा’ (अपने घर से मुनि वन में जावे); किन्तु उत्तरकाल में वनवास का स्थान, ग्रामों के समीप हो गया। इस पर से आचार्य गुणभद्र ने अपने आत्मानुशासन में खेद प्रकट करते हुए लिखा है—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावय्यां यथा मृगाः ।

वनाद् विशन्त्युपग्रामं कली कष्टं तपस्विनः ॥

(जैसे रात के समय इधर-उधर से भयभीत मृग वन से ग्रामों के करीब आ बसते हैं, खेद है कि इस कलिकाल में तपस्वीजन भी वन छोड़कर ग्रामों के निकट वास करते हैं।)

वनवास में त्रैत्यवास प्रारम्भ होने पर ही भट्टारक पन्थ ने जन्म लिया। मन्दिरों में रहने वाले साधुओं ने मन्दिरादि के निमित्त जमीन-जायदाद आदि का दान लेना स्वीकार किया और इस तरह वे दिगम्बर वेष में भट्टारक बन गये। उन्हीं के आचरण की निन्दा आशाधरजी ने की है।

पं. दौलतरामजी ने छद्माला में लिखा है—

मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवेयक उपजायो ।

पं निजआत्मज्ञान विना सुख लेश न पायो ॥

(इस जीव ने अनन्त वार मुनिव्रत धारण किये और मरकर ग्रैवेयक पर्यन्त जन्मा; किन्तु अपनी आत्मा का ज्ञान (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष) न होने से सुख का लेश भी नहीं पाया।)

यह कथन मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के लिए है। पञ्च परावर्तन करते हुए मिथ्यादृष्टि भी द्रव्य जिनलिंग धारण करके नव ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म ले सकता है। यहाँ द्रव्य जिनलिंग से मतलब शरीर से नग्न हो कर मुनि की तरह चर्या करना मात्र नहीं है; किन्तु एक जिनमुद्रा के धारक का जितना बाह्याचार है, वह सब वह निष्ठापूर्वक करता है। गुप्ति-समिति आदि का पूर्ण पालक होता है। सम्यग्दृष्टि मुनि से उसके बाह्याचार में कोई कमी नहीं होती। यदि कमी है तो केवल सम्यक्त्व की है। इसी से उसका सब निष्ठापूर्वक किया गया बाह्याचार भी निष्फल होता है।

आज के स्वर्ग-सुख के कामी धर्मात्मा तो इस पर भी आपत्ति कर सकते हैं। कि उसे निष्फल क्यों करते हैं? क्या नौ प्रवेयक तक जाना कोई साधारण बात है? पञ्च परावर्तन की मर्यादा में जो आता है, मुनिपद धारण करके भी वही मिलता है तो मुनिपद को निष्फल ही कहा जाएगा। पञ्च परावर्तन से छुटकारा होना ही धर्म का सच्चा फल है; अतः आज के समय में इस क्षेत्र से मुक्ति नहीं मिलती, फिर भी मोक्ष की इच्छा रख कर ही धर्म-साधना करने में हित है। स्वर्ग-सुख की चाह भी पतन का ही कारण है।

अतः सम्यक्त्व के बिना मुनिपद की भी कोई कीमत नहीं है; किन्तु सम्यक्त्व तो दुर्बोध्य होने पर भी स्वसवेद्य है, उसके होने पर प्रथम संवेग आदि होते हैं। प्रथम प्रतिमा के धारी के तीन स्पष्ट विशेषण समन्तभद्रजी ने दिये हैं—सम्यग्दर्शन शुद्ध, संसार शरीर भोगों से विरक्त, पञ्च परमेष्ठी के चरण ही उसकी शरण हैं। प्रथम प्रतिमा आचार-मार्ग का प्रवेश-द्वार है; जिसमें कम-से-कम ये तीन बातें हों उसे ही जैन आचार-मार्ग पर चलना चाहिये। तब मुनिपद तो उच्च पद है, उसमें तो ये बातें अवश्य होनी चाहिये; किन्तु आज ऐसे भी मुनि हैं जिनमें ये मूल बातें नहीं है—

(१) सब से प्रथम तो मुनि को अन्य किसी भी पन्थ विशेष का आग्रह न हो कर एकमात्र वीतराग मार्ग का आग्रह होना चाहिये। तेरापन्थ, बीसपन्थ— ये मुनियों के पन्थ नहीं हैं, गृहस्थों के हैं। वे ही द्रव्य पूजा करते हैं और उसी को लेकर ये पन्थ प्रवर्तित भी हैं; किन्तु आज गृहस्थ इन पन्थों का वैसा आग्रही नहीं है, जैसे मुनि और आचार्य हैं। उन्होंने ही इस पन्थवाद की अग्नि को प्रज्वलित किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि यदि उनकी यह प्रवृत्ति चालू रही तो दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसी स्थिति पैदा हो सकती है। जो पन्थ का मोह नहीं छोड़ सके वे संसार के मोह से दूर नहीं हैं। कहाँ संसार और मोक्ष में समभाव का उपदेश और कहाँ पूजा के सचित-अचित द्रव्य का और जलाभिषेक पञ्चामृताभिषेक का आग्रह!

(२) दूसरी बात है शासन देवों की पूजा की प्रवृत्ति को बल देने की। कहाँ प्रथम प्रतिमाधारी को 'पञ्चगुरुचरण-शरण' होना कहा है और कहाँ जिनके चरणों को हम अपना शरण मानते हैं वे हमारे गुरु जिनेतर देवों को पूजने का उपदेश देते हैं? क्या ऐसा करने वाले दिगम्बर जैन मुनि कहे जा सकते हैं? जिनकी एकमात्र वीतराग देव पर आस्था नहीं है वह तो जैन कहलाने का भी पात्र नहीं हैं। जिनका देव जिन है, वे ही जैन हैं। सच्चा जैन धीर-से-धीर संकट में भी अन्य की शरण नहीं लेता। अशरण भावना का तात्पर्य ही यह है। दानतरायजी ने कहा है—

शुद्धात्म अह पञ्चगुरु जग में शरणा दोय ।

मोह उदयतं जीव को आन कल्पना होय ॥

(निश्चय से शरण अपनी शुद्धात्मा है और व्यवहार से शरण पञ्चगुरु हैं। शेष सब मोहभाव हैं।)

(३) परिग्रह-न्याय का मतलब केवल शरीर से नग्न रहना नहीं है। साधु के पास पीछी-कमण्डलु और एक-दो शास्त्र, जो स्वयं लेकर चल सके, होना चाहिये। आज संघों के नाम पर परिग्रह का कोई परिमाण ही नहीं है। मानो दिगम्बर जैन साधु-संघ न होकर महत्तों का कोई अखाड़ा हो। आज हम यह तक सुनते हैं कि अमुक संघ के इतने हजार के नोट दीमक खा गयी। यह क्या दिगम्बर मुनि-मार्ग है? ऐसा परिग्रह तो श्वेताम्बर साधु भी नहीं रखते।

आज के अपने गुरुजनों की इस तरह की विडम्बनाएँ देख कर मेरा यह मत बन गया था कि इस काल में सच्चा दिगम्बर जैन साधु होना संभव नहीं है; किन्तु जब से आचार्य विद्यासागरजी के दर्शन किये हैं मेरे उक्त मत में परिवर्तन हुआ है और मन कहता है कि उपादान सशक्त हो तो बाह्य निमित्त कुछ नहीं कर सकते।

भर जवानी की अवस्था में इतनी असंलग्नता। मैंने ऐसे भी मुनि देखे हैं जिन्हें स्त्रियाँ घेरे रहती हैं। जो उनसे तेल-मर्दन कराते हैं उनकी तो बात छोड़ ही दीजिये। उनसे वार्तालाप में रस लेते हैं ऐसे भी हैं; किन्तु युवा मुनिराज विद्यासागरजी तो हमारे जैसे मनुष्यों से भी वार्तालाप नहीं करते, स्त्रियों की तो बात ही क्या है? सदा अपने अध्ययन में रत रहते हैं। वहाँ मैंने गप्प-गोष्ठी होते नहीं देखी। राव-रंक सब समान हैं। परिग्रह के नाम पर पीछी-कमण्डलु है। जब विहार करना होता है, उठा कर चल देते हैं। न जहाँ से जाते हैं उन्हें पता, न चहाँ पहुँचते हैं उन्हें पता। न गाजे-बाजे के साथ स्वागत-सन्मान की चाह है, न साथ में मोटर, लॉरी और चौकों की बहार है, न कोई माताजी साथ में हैं। बाल शिष्य-मण्डली है।

मैंने किसी मुनि के मुख से ऐसा भाषण भी नहीं सुना। एक-एक वाक्य में वैदुष्य झलकता है। अध्यात्मी कुन्दकुन्द और दार्शनिक समन्तभद्र का समन्वय मैंने उन्हीं के भाषणों में सुना है। मुझे उन्हें आहारदान देने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैंने प्रथम बार अपने जीवन को धन्य माना है। यदि संसार, शरीर और भोगों में आसक्त श्रावकों के मायाजाल से बचे रहे, तो वे एक आदर्श मुनि कहे जाएंगे।

मैं भी पञ्च नमस्कार मन्त्र की जाप त्रिकाल करता हूँ। और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' जपते समय वे मेरे मानसपटल पर विराजमान रहते हैं। जिनका मन आज के कतिपय साधुओं की स्थिति से खिन्न हो कर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद से विरक्त हुआ; उनसे हमारा निवेदन है कि वे एक बार आचार्य विद्यासागरजी का सत्संग करें। हमें विश्वास है कि उनकी धारणा में परिवर्तन होगा। □

जैन साधु की चर्या

“केवल बाहर से वसनों को ओढ़ना ही परिग्रह नहीं है, अपितु आहार में आसक्ति रखना, अमुक वस्तु में स्वाद लेना, संसार के विषयों के प्रति रुचि या चाह होना, अपने नाम और यश की कामना करना, 'मेरा कोई अभिनन्दन या स्वागत करे' ऐसा विकल्प होना, किसी के अच्छे-बुरे की अभिलाषा करना इत्यादि सभी परिग्रह की कोटि में हैं।”

□ डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

स्वसवेद्य समरसानन्द की सहज अनुभूति से समुल्लसित स्वरूप की साधना में रत स्वात्मा का अवलोकन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सहज ही आत्माराम में विचरण करने वाले परमार्थ में जैन साधु कहे गये हैं। जो केवल व्यवहार में विमूढ़ हैं, जिन्हें शुद्धात्मा का परिचय नहीं है, केवल साधुता का वेश ही धारण किये हुए हैं, वे परमार्थ से जैन साधु नहीं हैं। जैन साधु ही उस शुद्धात्मचर्या में तल्लीन रहते हैं, जिस परमतत्त्व तथा सत्य के साक्षात्कार के लिए विश्व में नाना जन तरह-तरह के नाम-रूपों तथा बाह्य क्रियाओं एवं मतों को अपना कर अपनी-अपनी मान्यताओं तथा पक्षों का पोषण कर रहे हैं; परन्तु वास्तव में जैन साधु सभी प्रकार के मत, मान्यताओं, पक्षों तथा आचार-विचारगत परिग्रहों से रिक्त यथार्थतः साधुता का पालन करता है। पालन करता है—यह कहना भी भाषा की असमर्थता है। जैन साधु तो अपनी चर्या में अपने गुण-पर्याय रूप परिणामते हुए अपने-आप का अवलोकन करते हैं। उस दशा में केवल विज्ञान घन स्वभाव अपने पूर्ण उज्ज्वल स्वरूप का चैतन्य का पूर्ण प्रकाश एकत्व रूप से उदित होता है, उस समय कोई द्वैत भासित नहीं होता है, अनादि काल की अज्ञान दशा विघट जाती है और स्वतत्त्व का उदय हो जाता है। यही ज्ञानियों का प्रभात है। अज्ञान-अन्धकार से प्रकाश में आना योगियों की चर्या है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय का सहज सन्देश जैन साधुओं की चर्या से सहज प्रकट होता है। जिस अनात्म-दशा में संसार के तथाकथित विद्वान्, वैज्ञानिक तथा अन्वेषणकर्ता प्रत्येक समय सोते रहते हैं, उससे भिन्न आत्मस्थिति में ज्ञानी साधु प्रत्येक समय में जागृत रहते हैं—यहाँ तक कि जिस घोर अन्धकार से व्याप्त रात्रि में चर-अचर सभी जीव सोते रहते हैं, उस समय भी ज्ञानी अपने ज्ञान में जागते रहते हैं। ज्ञान-चेतना के समक्ष काम-वासनाओं, पर-भावों, विभावों तथा परसमय के मिथ्या भाव टिक ही नहीं पाते हैं। केवल ज्ञान-चेतना का विलास ही उत्तम मुनियों की चर्या है, जो स्थायी एवं सहज आनन्द की जननी है, जिसे एक बार उपलब्ध हो जाने के अनन्तर कुछ प्राप्तव्य एवं करणीय नहीं रह जाता है। वास्तव में जैन साधु की चर्या सच्ची शान्ति एवं आनन्द में निहित है। जब शुद्ध के लक्ष्य से प्रेरित अनन्तविकल्पी ज्ञान एक शुद्धात्मनिष्ठ होकर ज्ञानस्वभाव में तन्वय

हो कर परिणमित होता है तब सच्चे सुख की किरण उद्भासित हुए बिना नहीं रहती, क्योंकि साधु-चर्या ही धर्म है और धर्म में अविनाभाव रूप से सच्चा सुख विलसित होता है, अतः धर्म-परिणत आत्मा नियम से आनन्द का भोग करता है। मच्चा आनन्द ही उसका जीवन है। यही साधु-चर्या का प्रत्यक्ष परिणाम है।

जानो साधु का ज्ञानरूप परिणमन करना अन्तरंग चर्या है, किन्तु बाहर में ज्ञान-ध्यान एवं अध्ययन में लीन रहना, स्व-समय में स्थिर होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य का पालन करना और रत्नत्रय की आराधना के लिए अन्तरंग तथा बाहर सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होकर महाव्रतों एवं मूलगुणों का पालन करना आर्ष श्रमण-मार्ग है। ऐसे ही साधु वीतरागी गुरु कहे जाते हैं। वीतरागता की पूर्ण उपलब्धि ही उनका धर्म लक्ष्य होता है। वे स्वयं वीतरागता के एक शिखर होते हैं; इसलिए उस शिखर पर अधिरोहण करने की इच्छा से नैतिकता को अपनी व्यवहार-बुद्धि से धर्म मानने वाला श्रावक उनसे वीतराग-मार्ग की शिक्षा व उपदेश प्राप्त करता है। उनके वीतराग चारित्र्य में चौबीसों घंटे आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। उनके यम, नियम, व्रत, उपदेश आदि सभी एक रस-धारा से आप्यायित होते रहते हैं। वहाँ शान्ति व आनन्द के सिवाय, ध्यान व अध्ययन के अतिरिक्त जगत् का कोई व्यापार नहीं चलता; अतः साधु सब प्रकार से नग्न होकर तन से, मन से, विकारों से—यथार्थ में त्यागी होता है। जो केवल वस्त्र को साधुत्व के लिए बाधक समझता है, वह साधु-चर्या के योग्य नहीं हो पाता; क्योंकि आत्मचर्या में वस्त्र बाधक नहीं है, किन्तु वस्त्र का परिग्रह बाधक है। जो वस्त्र का परिग्रहण किये हुए है, वह उसकी आसक्ति से परे नहीं हो सकता; अतः तृण-मात्र भी धारण करना अपरिग्रह महाव्रत से बाहर है। पूर्ण अपरिग्रही तिल, तुष मात्र भी परिग्रहण नहीं कर सकता। केवल बाहर से वस्त्रों को ओढ़ना ही परिग्रह नहीं है, किन्तु आहार में आसक्ति रखना, अमुक वस्तु में स्वाद लेना, संसार के विषयों के प्रति रुचि या चाह होना, अपने नाम और यश की कामना करना, 'मेरा कोई अभिनन्दन या स्वागत करे'—ऐसा विकल्प होना, किसी के अच्छे-बुरे की अभिलाषा करना—सभी परिग्रह की कोटि में हैं।

सच्चा त्याग अन्तरंग का माना गया है; किन्तु बाहरी साधनों को देख कर अन्तरंग के परिग्रह का अनुमान किया जाता है। इस कारण अन्तरंग त्याग के साथ बहिरंग त्याग का भी उपदेश दिया गया है। इस प्रकार साधु की चर्या बही है जिसमें अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का किसी प्रकार ग्रहण नहीं होता। सभी प्रकार से स्वावलम्बी जीवन की चर्या का नाम साधुचर्या है, जिसमें सम्पूर्ण स्वतन्त्रता का सागर लहराता रहता है और जिस आत्मनिष्ठ साधना में साधक अपने साध्य की पूर्णता को उपलब्ध होता है; अतः बाहरी जीवन की प्रत्येक क्रिया में उसे अपनी आत्मचर्या का, आनन्द-रस का ही स्वाद संवेदित होता रहता है। इस तरह बाहरी क्रियाओं में जैन साधु को क्लेश एवं पीड़ा का अनुभव न होकर आनन्द रस का उच्छलन ही होता है। जैनागमों में जैन यतियों, मुनियों तथा साधुओं की चर्या का यही रहस्य उद्घाटित किया गया है कि वे आत्मज्ञान से भीतर-बाहर प्रकाशित होते हुए आत्मचर्या में निरत रहते हैं, लौकिक किंवा व्यावहारिक जगत् के द्वैत से परे रहते हैं, एवं अद्वैत की समरसी भूमिका को आलोकित करते रहते हैं। □

एक और विद्यानन्दि

“क्या नाम है ?” —प्रेम-सनी वाणी में एक छोटा-सा प्रश्न था।

“विद्याधर” —उत्तर इससे अधिक संक्षिप्त हो नहीं सकता था।

“हमारे साथ रहोगे तो विद्यानन्दि बना देंगे।” —गुरु की इस स्वस्ति-पूर्ण आश्वस्ति में गहन अर्थ गर्भित था। बस, उस दिन, उसी क्षण विद्याधर का सर्वस्व ही विलीन हो गया। बनने में तो ममय लगा पर मिटना तो तत्काल हो गया।

□ नीरज जैन

साधु के साथ आङ्ग्वर और गृहस्थ के साथ परिग्रह—पाप होते हुए भी—आज की भौतिक मानसिकता में पाप माना नहीं जाता। साधु-संस्था में यत्र-तत्र दिखायी देने वाले शिथिल यत्नाचार और आरम्भ-प्रियता को देखते-देखते हम उस बात के आदी हो गये हैं और हमने यह बात प्रायः स्वीकार कर ली है कि ज्ञान, ध्यान और तप की मत्त आराधना करने वाला, पूर्णतः निरारम्भी और यथार्थ अपरिग्रही साधु, अब केवल कथा-पुराण और आगम में ही ढूँढा जा सकता है। यदि कहीं कोई विरल साधक अपनी निर्मल साधना से आचार्य मन्तमन्त्र द्वारा प्रदत्त तपस्वी की परिभाषा को चरितार्थ करने भी हैं तो उन तक हमारी दृष्टि पहुँचना बड़े भाग्य की बात है, क्योंकि ऐसे तपस्वी लोकसंजन की भावना में रहित जनमेदिनी में असंपृक्त, भौतिक कोलाहल से दूर ही कहीं मिल पाते हैं।

हम भाग्यशाली हैं कि मोक्षमार्ग के साक्षात् उपासक ऐसे दिगम्बर तपस्वी संतों की परम्परा हमारी पीढ़ी तक अक्षुण्ण और अविच्छिन्न बनी हुई चल रही है। भौतिकता के इस मादक विषाक्त वातावरण में विज्ञान की चकाचौंध के बीच जहाँ जीवन की सारी मानवीय स्थापनाओं का घोर अवमूल्यन हो रहा है, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी जहाँ कथनी और करनी की दूरी निरन्तर बढ़ती ही जा रही है, वहीं कुछ ऐसे साधक भी हैं जो अपनी एकान्त निष्ठापूर्वक मूक साधना में संलग्न हैं। जो दिगम्बर मुद्रा के निर्भीक, निःस्पृह और स्वाधीन जीवन-दर्शन को अपने पर ही मूर्तिमान करते हुए भगवान् कुन्दकुन्द की मूल साधना-पद्धति की व्यावहारिकता का निःशब्द उपदेश दे रहे हैं। ज्ञान, ध्यान और तप के अतिरिक्त न जिनके पास कहने को कुछ है, न करने को।

बुन्देलखण्ड की एक सुन्दर उपत्यका में, सिद्ध क्षेत्र नैनागिरि की सनातन तपोभूमि पर इस वर्ष चातुर्मास-योग धारण करने वाले कठोर तपस्वी और अतिशय ज्ञानाराधक आचार्य श्री विद्यासागरजी एक ऐसे ही साधक हैं। तीस-बत्तीस वर्ष की अल्प वय, शुभलक्षणों वाला, गौर, सुकोमल शरीर, गरिमा-मण्डित सुदर्शन मुखाकृति और ओज-पूर्ण, किन्तु सनेह-सनी वाणी। तन से नितान्त निरीह और मन से अति निःस्पृह। नम्रता और सौम्य की साकार प्रतिमा।

पिछले तीस महीनों से मुझे लगातार उनका सत्संग मिल रहा है। जब १९७६ और ७७ के दो चातुर्मास कुण्डलपुर में हुए तब उनके दर्शन का खूब लाभ हुआ। बाद में भी दर्शनों का योग लगता रहा। पाँच इन्द्रियों के विषयों पर उनके प्रवचन सुने। समयसार कलश की टीका पर उनकी पैनी और विश्लेषणात्मक टिप्पणियों का आकलन किया। अकलंक देव के वार्तिक पर उनके अनूठे चिन्तन की झलक पायी तथा षट्स्रण्डायम की अतल गहराइयों से चुने मणि-मुक्ताओं का उनका संकलन भी देखा।

विद्यासागरजी के गुरु स्वनामधन्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज स्वतः एक तपःपूत मनीषी थे। संस्कृत के वे अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी साधना ही उनके इस सुयोग्य शिष्य के रूप में आज साकार विचरण कर रही है। प्रथम दर्शन में जब कच्ची मिट्टी के लौंदे की तरह एक बालक अध्ययन-साधन की ललक से उनके समक्ष उपस्थित हुआ तभी उनकी अनुभवी और भविष्यचेता दृष्टि ने उस अनगढ़ शिला में एक कुशल शिल्पी की तरह मनोहर शिल्प-सौंदर्य की सारी संभावनाएँ स्पष्ट देख ली थीं। अबोध शिष्य के साथ अनुभवी गुरु का बहुत संक्षिप्त वार्तालाप उस दिन हुआ।

“क्या नाम है?” प्रेम-मनीषाणी में छोटा-सा प्रश्न था।

“विद्याधर”—उत्तर इससे संक्षिप्त हो नहीं सकता था।

“हमारे साथ रहोगे तो विद्यानन्दि बना देंगे”— गुरु की इस आश्वस्ति में गहन अर्थ भरे थे। इसमें जैन आगम के उद्भट प्रणेता, ‘श्लोक वार्तिक अलंकार’ के रचनाकार आचार्य विद्यानन्दि की ज्ञान-गंगा के प्रति प्रणति भी थी। एक अबोध-जिज्ञासु पात्र को योग्यतम आचार्य, चिन्तक और लेखक के रूप में विकसित करा देने की अपनी क्षमता के आत्मविश्वास की घोषणा भी थी और बालक विद्याधर को एक निरापद और श्रेयस्कर अभय अवलम्बन का आश्वासन भी था। बस, उस दिन, उसी क्षण विद्याधर का सर्वस्व ही विलीन हो गया। आगे बनने में तो समय लगा पर मिटना तत्काल हो गया।

और तब से जो घटता गया वह एक दीर्घ साधक, समर्पित साधु की साधना-यात्रा का वृत्तान्त है, जो न कहीं लिखा है न छपा है। जो उस उदय के साक्षी हैं उनकी स्मृतियों में से यदा-कदा उसकी झलक मिल जाती है। महाराज के स्वमुख से सुनने या उनकी लेखनी से लिखे इस वृत्त को देखने की लालसा दो वर्षों से अधूरी है, शायद कभी पूरी हो।

शिष्य ने धर्म, दर्शन, न्याय, व्याकरण, और साहित्य-रचना की सीढ़ियाँ जब तक पार कीं, तब तक साथ-ही-साथ व्रती, बह्यचारी, गृहत्यागी बनाते हुए महाव्रती के दुर्गम शिखर तक, उस अनुकम्पावान महात्मा ने अपने इस भव-भ्रमण-भीरु बटुक को जैसे अंगुली पकड़ाकर ही पहुँचा दिया।

एक दिन वह दुर्लभ घड़ी आयी जो गुरु के जीवन की सबसे कोमल और

सबसे अधिक प्रतीक्षित बेला होती है। वह घड़ी जब कोई गुरु अपने ही शिष्य को अपने से बड़ा बना कर गौरवान्वित होता है। उस घड़ी का आनन्द या तो गुरु को मिलता है या माता को।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने आचार्य-पद अपने इस सुयोग्य शिष्य को सौंप कर उस दिन स्वतः अपने इस नवाभिषिक्त आचार्य की प्रथम वन्दना करके विनय और मार्दव का एक अनुपम उदाहरण समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

इस प्रकार 'विद्याधर' से 'विद्यासागर' और फिर 'आचार्य विद्यासागर' बन कर इस महान् आत्मा ने ज्ञान, ध्यान और तप की जिस त्रिवेणी में अपने-आपको सराबोर किया उसका अमृत जन-जन को पान कराते अत्यन्त निरपेक्ष भाव से उनका विहार हो रहा है। उनकी जीवन-पद्धति पूर्णतः निराडम्बर और सादगी-पूर्ण है। संघ में किसी को ब्रह्मचर्य का द्रत देना हो या ऐलक दीक्षा, केशलुंच हो या विहार, हर कार्य बिना प्रचार के, बिना दिखावे के, अत्यन्त शास्त्रोक्त पद्धति से वे करते हैं। समीपवर्ती श्रावकों को भी बाद में ही इस सब कार्यकलाप की सूचना हो पाती है।

आज एक ओर जहाँ साधु-मार्ग भी हमारी आडम्बर-प्रियता में डूब गया है, वैराग्य भी जहाँ महोत्सवों का मुख्यापेक्षी है, केश-लुंच भी जहाँ पूर्व-प्रचारित और जनकुल शामियाने में शोभा पाते हैं, दीक्षाएँ भी जहाँ पोस्टर चिपका कर और पर्चे बँटवाकर भीड़-धर्मा ढंग से ली और दी जा रही हैं, वहाँ आचार्य विद्यासागरजी की निर्दोष साधना साधु-मार्ग के अकम्प दीपक की तरह प्रज्वलित है। इतना ही कठोर है अपनी शिष्य-मण्डली पर उनका अनुशासन। उनके बटुक शिष्य भी अपनी लगन, विनम्रता और ज्ञान-भक्ति द्वारा यही आश्वस्त करते हैं कि उनमें भी भविष्य के विद्यासागर हैं।

इन विशेषताओं के ही कारण, आज दो वर्ष से बुन्देलखण्ड में आचार्य विद्यासागर के दर्शनार्थी भक्तों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। कानों-कान उनकी कीर्ति देश के कोने-कोने तक व्यापती जा रही है सामान्य भक्त हो या साधक, विद्वान् हो या व्यापारी, मुमुक्षु हो या त्यागी, जो एक बार उनके प्रभावक व्यक्तित्व की छवि निहार पाता है, वह सदा के लिए उनका भक्त हो जाता है। जो एक बार स्याद्वाद-सम्मत उनकी "विविध नय-कल्लोल विमला" वाणी का अमृत चख पाता है, वह बार-बार उसके आस्वादन का आकांक्षी बन कर उनके चरणों में मस्तक झुका देता है।

हम गौरवान्वित हैं कि 'आचरण में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और विचारों में अनेकान्त' ही जिसका जीवन-सिद्धान्त हो ऐसे साधु इस कलिकाल में भी एकदम असंभव नहीं हैं। ऐसी साधना का एक उत्तम उदाहरण हमारे भाग्य से हमारे पड़ोस में ही विराजमान है, जिसका प्रातःस्मरणीय शुभ नाम है आचार्य विद्यासागर।

□

वह लाजवाब है

(एक शब्दचित्र)

वह मुनिगण-मुकुट है
उसका कोई जवाब नहीं
वह लाजवाब है
वह सैकड़ों में अकेला है
अनवेला है
उसका कोई जोड़ नहीं
वह तो वस वह ही है

वह भला है
भोला है
भद्र भावों से भरा है
खरा है
वदन का इकहरा है
छरहरा है
उम्र से जवान है
साधक महान् है
भूखा है ज्ञान का
शत्रु है अभिमान का
भुलावों से दूर है
तपश्चरण में शूर है

उसका चिन्तन मौलिक है
उसकी वार्ता अलौकिक है
विचारों में उदारता है
प्रामाणिकता है
शालीनता है
सर्वजनहितैषिता है

साम्प्रदायिकता से वह परे है
संकीर्णता के घेरों से मुक्त है

वह आत्मजयी है
आत्मकेन्द्रित है
नासादृष्टि है
निजानन्द-रसलीन है
मोह-माया-मत्सर-विहीन है
उसे लुभाती नहीं है
बाहरी दुनिया की चमक
उसके स्वभाव में है
एक स्वाभिमाती की ठसक
उसके सबसे बड़े गुण हैं--
अनासक्ति और निःस्पृहता
क्षमाशीलता और समता
निर्ममता और निर्भयता

वह आलोक-पुंज है
ज्ञान-दीप है
ज्योति-पुरुष है
विराजी रहती है प्रतिक्षण
उसके बेहरे पर
एक निर्मल-निश्छल मुस्कान
उसकी हर छवि है अम्लान
उसका नहीं है जबाब
वह है लाजवाब '

0

□ नरेन्द्रप्रकाश जैन

एक तपःपूत कवि की काव्य-साधना

△ ऐसा लगता है कि उपमा कालिदासस्य के समान यमक विद्यासागरस्य का आभाणक प्रसिद्धि को प्राप्त होगा ।

△ संस्कृत साहित्य में वीर, शृंगार एवं करुण रसों की ही प्रधानता रही है; लेकिन आचार्यश्री की तपःपूत लेखनी का स्पर्श पा कर शान्त रस अपनी संपूर्ण गरिमा से सर्वोपरि प्रतिष्ठित हो गया है ।

□ श्रीमती आशा मलेया

जब तपःपूत लेखनी से काव्य प्रभूत होता है तब निःसन्देह ही वह साधना की आराधना का ही परिष्कार होता है । वास्तविक काव्य-साधना तो उस कवि की ही हो सकती है, जिसका तन, मन, बचन सब कुछ आन्तर एवं बाह्य तप से परिपूत हो उठा हो। वास्तव में ऐसे तपस्वी कवि आज के भौतिकवादी युग में सुदुर्लभ ही हैं; लेकिन भाग्यवशात् हम लोगों के बीच एक ऐसे 'तरुण तपस्वी-कवि' का उदय हुआ है, जिसके काव्य को साधना कहा जा सकता है। ये तपस्वी कवि हैं परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी। यद्यपि मैं अज्ञ हूँ, तथापि अपनी अल्पमति के अनुसार आचार्यश्री की काव्य-गरिमा की एक सामान्य झाँकी प्रस्तुत कर रही हूँ। आचार्यश्री का काव्य मम्मट की निम्न उक्ति को पूर्णतः चरितार्थ कर रहा है—

नियतिःकृतनियमरहितां ह्लादकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसहचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति ॥

मम्मट ने काव्य को 'कान्तासम्मित तयोपदेशयुजे' माना है, लेकिन जब हम आचार्यश्री के काव्य का अवलोकन करते हैं तब प्रतीति होती है कि आचार्य-प्रवर का काव्य 'मातासम्मिततयोपदेशयुजे' है; क्योंकि 'कान्तासम्मित उपदेश' में तो किञ्चित् स्वार्थ ही हो सकता है; लेकिन 'मातासम्मित उपदेश' तो हर परिस्थिति में कल्याणकारी ही होता है। आचार्यश्री के काव्य का प्रत्येक पद श्रेयोमार्ग की ओर उन्मुख करने वाला है, अतः वह 'माता सम्मित' ही हो सकता है।

संस्कृत साहित्य में वीर, शृंगार एवं करुण रस की ही प्रधानता रही है; लेकिन आचार्य श्री की तपःपूत लेखनी का स्पर्श पा आन्तररस अपनी गरिमा की महिमा से सर्वोपरि प्रतिष्ठित हो गया है। आचार्य-प्रवर के काव्य का रसास्वादन कर ऐसी प्रतीति होती है कि 'शान्त एव एकोरसः'। शान्तरस स्वभावतः माधुर्य और प्रसाद की वृष्टि करता है। यदि इसका परिष्कार किसी शान्त तपस्वी की लेखनी द्वारा हो तो उसके चमत्कार का क्या कहना ! आचार्यश्री का शान्तरस से आप्ला-

वित काव्य, हृदय के अतल तल का स्पर्श कराता हुआ हृदयन्त्री के समग्र तन्तुओं को एक साथ झंकृत कर अलौकिक आनन्द की वर्षा कराता है। शान्त रस की छटा दिखाने वाला यह उदाहरण—

चारित्र के मुकुट से शिर ना सजोगे,
आरूढ़ संयममयी रथ पं न होंगे।
स्वाध्याय में रत रहो नुम तो भले ही,
ना मुक्ति-संजिल मिले दुःख ना टले ही।।”

--जैन गीता

लगता है आचार्यश्री को 'शतक-काव्य' की परम्परा विशिष्ट रूप से प्रिय है। 'शतक-काव्य' की गणना संस्कृत-साहित्य में मुक्तक काव्य के अन्तर्गत की जाती है। मुक्तक का अर्थ है वह काव्य, जो बिना किसी बाह्य उपकरणों (सन्दर्भादि) के सद्यः रस-प्रतीति में समर्थ हो। मुक्तक काव्य के विषय में आनन्दवर्धन की निम्न उक्ति महत्त्वपूर्ण है—

“मुक्तकेषु प्रबन्धेषु ह्य रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।।”

इस प्रकार 'शतक-काव्य' में एक अनुपम माधुरी होती है, जो सहृदयों को रस-विभोर कर देती है। आचार्यश्री की तपःपूत लेखनी से संस्कृत-शतकों की त्रिवेणी तथा हिन्दी-शतकों का चतुर्वर्ग प्रसूत हुआ है। संस्कृत तथा हिन्दी के ये 'सप्तदशक' सप्तसिन्धु की सप्तधारा के समान सम्पूर्ण भारतवर्ष के शुष्क जीवन को रस-सिञ्चित कर शान्ति की हरीतिमा में परिवर्तित कराने में सर्वथा ममर्थ हैं। ये सप्तशतक हैं—
(१) श्रमण शतकम् (संस्कृत) : आर्याछन्द में निबद्ध यह शतक अनुपम माधुरी से युक्त है; (२) निरञ्जन शतकम् (संस्कृत) : द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध यह शतक, एक अलौकिक संसार का परिचय कराता-मा लगता है; (३) भावना-शतकम् (संस्कृत) : अभी अप्रकाशित है, इसमें चित्रालंकार का विशिष्ट प्रयोग 'मुरज बन्ध' के माध्यम से किया गया है; हिन्दी-शतक—(१) श्रमण शतक; (२) निरञ्जन शतक; (३) भावना-शतक (शीघ्र प्रकाश्य); (४) निजानुभव शतक। इन चारों शतकों में 'वसन्ततिलका छन्द' प्रयुक्त हुआ है।

वसन्ततिलका आचार्यश्री का सर्वप्रिय छन्द है, क्योंकि 'जैन गीता' तथा 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' भी इसी छन्द में निबद्ध हैं। जिस प्रकार कालिदास 'मन्दा-क्रान्ता' में सिद्धहस्त हैं, उसी प्रकार आचार्यश्री 'वसन्ततिलका' में प्रवीण। उन्होंने अपने इस छन्द के बारे में एकाधिक बार कहा भी है—

वे कामधेनु सुरपादप स्वर्ग में ही
संता लिए दुख धुले सुख वे विदेही।

ऐं आदका स्तवन शाश्वत मोक्ष-दाता
ऐसा वसन्त तिलका यह छन्द गाता ॥

—निरञ्जनशतक (हिन्दी)

विविध अलंकारों का मञ्जुल प्रयोग काव्य-माधुरी के वर्द्धन में पूर्णतः सफल-सुफल है । 'श्रमण-शतकम्' (संस्कृत) के आर्याछन्द में निबद्ध निम्न श्लोक में यमक की मनोहारी छटा दर्शनीय है—

भव हेतु भूता क्षमा, व्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा ।
तां विस्मर नृदक्ष ! मायतः सैव शिवदाने क्षमा ॥

ऐसा लगता है कि 'उपमा कालिदासस्य' के समान 'यमक विद्यासागरस्य' का आभाणक (कहावत) प्रसिद्धि को प्राप्त होगा । निम्न श्लोक में 'अपह्नुति' की विशिष्ट मनोहारी छवि है—

असित कोटिमिता अभिताः तके,
नहि कचा, अलिमा स्तव तात ! के ।
वरतपोऽनलतो बहिरागता
सघन धूञ्मिवेण हि रागता ॥

--निरञ्जनशतकम् (संस्कृत)

मुक्तक काव्य के रूप में आपकी अन्य हिन्दी-रचनाएँ हैं—समाधिशतक, योगसार, कल्याण मन्दिर-स्तोत्र, तथा एक्रीभाव स्तोत्र (मन्दाक्रान्ताछन्द)। प्रबन्ध काव्य के रूप में 'जैन गीता' (समणसुत्त का भावानुवाद) और 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' (समयसार का भावानुवाद)। वैसे तो ये दोनों काव्य अनुवाद-ग्रन्थ की कोटि में आते हैं; लेकिन आचार्यश्री की मौलिक प्रतिभा के समावेश ने दोनों ही मौलिक उपमा से अनुप्राणित हैं। सर्वत्र मौलिक उपमाओं, नित-नदीन कल्पनाओं, अधुनातन दृष्टान्तों से परिपूर्ण हैं ये दोनों 'प्रबन्ध-काव्य'। अनुवाद को भी इतना सरस बनाया जा सकता है, इसका उदाहरण ये दोनों हैं। देखिये, 'जैन गीता' में 'णभोकार-मन्त्र' का भावानुवाद—

हे शान्त सन्त अरहन्त अन्त ज्ञाता,
हे शुद्ध बुद्ध शिव सिद्ध अबद्ध धाता ।
आचार्य वर्य उवमाय सुताधु सिन्धु,
मैं बार बार तुम पाद पयोऽन्न बन्दू ॥

निश्चित ही उपर्युक्त उद्धरणमात्र अनुवाद न होकर, रस-सिद्ध कवि की मौलिक प्रतिभा का पारस-स्पर्श पा एक नयी आभा का सृजन कर रहा है।

इसी प्रकार 'कुन्दकुन्द के कुन्दन' के निम्न छन्द की छटा दुरूह सिद्धान्तों को किस सरसता एवं सहजता से प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका परिचय कराने में समर्थ है—

मोहादिका उदय पाकर जीवरागी
होता स्वयं नहि कभी कहते विरागी।
धूलि बिना जल कलंकित क्या बनेगा ?
क्या अग्नि योग बिन नीर कभी जलेगा ?

इसी प्रकार 'भावनाशतकम्' के अन्त में द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध, गीर्वाणवाणी में प्रस्तुत 'शारदा-स्तुति' कोमलकान्त पदावली के माध्यम से रमान्वित के नये क्षितिज का दर्शन कराती है—

असि सदा हि विषक्षय कारिणी,
भुवि कुदृष्टहयेऽतिविरागिनिः।
कुरु कृपां करुणे कर वल्लकि,
मयि विभोः पदपंकज षट्पदे ॥

'जैन गीता' की 'मनाभावना' तथा 'कुन्दकुन्द के कुन्दन' की 'अन्तर्घटना' देखकर लगता है आप मात्र 'पद्य-कवि' ही नहीं उच्चकोटि के 'गद्य-कवि' भी हैं। जन्मना, कन्नड़ भाषी होते हुए भी हिन्दी पर इतना अधिकार! आपके मगध का अवलोकन कर, यह अपेक्षा है कि मगध के क्षेत्र में भी आपसे कुछ नवीन मौलिक साहित्य का सृजन होगा।

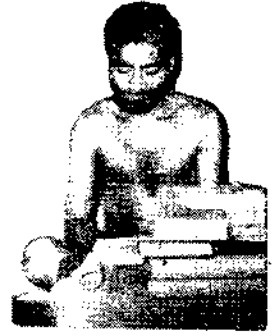
आप जब प्रकृति-प्रदत्त स्वर-लहरी में उपर्युक्त किसी भी छन्द का गायन करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत ही स्वयं मूर्तिमान होकर मुखरित हो उठा हो। तपस्वी, संगीतज्ञ कवि के मुख से काव्य-पाठ का श्रवण कितना आनन्ददायी होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव ही किया जा सकता है. शब्दों में उसका प्रकटीकरण असम्भव है।

परम पूज्य 'तपस्वी-कवि' से समाज को अनेक आशाएँ हैं। जिस प्रकार 'महर्षांशु' अपनी महत्त्व-महत्त्व किरणों से लक्षातिरक्ष कर्णों को आलोक से परिप्लावित कर देता है उसी प्रकार अचार्यप्रवर का 'काव्य-सूर्य' कोटि-कोटि सहृदयों को रममित्त कर स्वानुभव का पान करा, मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ करेगा, यह विश्वास है। □

“अपने अज्ञान का आभास होना ही ज्ञान की ओर एक बड़ा कदम है।”
—डिजराइली

युवापीढ़ी का ध्रुव तारा

जो चरित्र में से
दिशादर्शन
करता रहा है



- ...लेकिन यह हुआ। ज्यों घने बादलों के मध्य बिजली कौंधने-कड़कने से चकती नहीं है, ठीक वैसे ही तरुणाई की उच्छृंखलताओं के मध्य बिजली-सा कौंधता एक शिशु-तरुण कर्नाटक के बेलगाँव की माटी में जन्मा।
- मैं जिस दिन पहुँचा, वे उत्तरोत्तर स्वस्थ होने लगे थे। चलने में अशक्य थे। आहार लेने लगे थे; लेकिन मानेंगे नहीं शायद आप कि इतनी गहन रूग्णता के बाद भी उनकी मुखाभा तनिक भी मुरझायी नहीं थी।

□ अजित जैन

मंगल ग्रह की ओर ब्रेतहामा दीड़ती संस्कृति और एक निःस्पृह, अपरिग्रही, अपराजेय, मनीषी दिग्ग्वर माधु; कैसी विचित्रता है! इसे विचारकवर्ग भीतिकता और अध्यात्म की संज्ञा देता है। कवीन्द्र रवीन्द्र और डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है कि इन दोनों के बीच कोई सेतु स्थापित हो। आइन्स्टीन ने स्वयं वाह्य पदार्थों के रहस्य को जानने में बिताये अपने जीवन से ऊब-थक कर डॉ. राममनोहर लोहिया को लिखे एक पत्र में इच्छा व्यक्त की थी कि 'मैं एक जन्म और चाहूँगा ताकि यह खोज सकूँ कि वह कौन है, जो वाह्य पदार्थों की खोज करता है'। इस विघटित चिन्तन और विज्ञान के युग में एक धनाढ्य खानदान का २२ वर्षीय माहसी बेटा दीक्षा ग्रहण करे; इस रूग्ण, तनाव-संत्रास-भरी, युवापीढ़ी के बीच नौ वर्ष की वय में नवीं कक्षा तक तालीम ले पाने वाला कोई तरुण तरुणाई को चुनौती देकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे, तो सहसा बात समझ के पार उलंघ जाती है।

...लेकिन यह हुआ। ज्यों घने बादलों के मध्य विजली चमकने में चुकती नहीं है, ठीक वैसे ही तरुणाई की उच्छृंखलताओं और निरंकुशताओं के मध्य विजनी-सा कौंधता एक युवक-शिशु कर्नाटक के बेलगाँव की पावन माटी में जन्मा। धन्य है वह ग्राम, उसकी चन्दन-जैसी माटी, वहाँ के लोग, वहाँ का पुण्य; जहाँ युवापीढ़ी के मरुदण्ड आचार्य विद्यासागरजी-जैसी महान् विभूति ने जन्म लिया!

सागर से छतरपुर की ओर जाती बस, बीच में दलपतपुर, दलपतपुर में रेशन्दीगिर, यानी नैनागिरि। वस यही महस्र-महस्र युवकों की आकांक्षा के प्रतिरूप आचार्य विद्यासागर माधना, तप तथा ज्ञान के उन मुक्ता-मणियों को पाने में लगे हैं, जिन्हें पाकर मंगल ग्रह की यात्रा बचकाना सावित होती है। ज्यों आग में तपे-तपे सोने की आभा देखते बनती है, वैसे ही इस आत्मवीर को देखने से आँखों की अपनी चिरनिधि मिल जाती है और वे गहन शीतलता का अनुभव करती हैं।

८ सितम्बर १९७८। अपनी पूज्या माताजी के साथ नैनागिरि पहुँचा। वस में बैठा हर आदमी आचार्यश्री के अस्वस्थ होने पर मौन, अवाक्, हतप्रभ, और चिन्तित था। मैं भी। मेरी एक चिन्ता और थी। मेरी नज़र में आचार्य विद्यासागरजी युवापीढ़ी में ममग्र जीवन-क्रान्ति के लिए संकल्पित उन मनीषियों में से हैं, जो कर्हणा के शासन में जन्मते हैं, अन्यथा ऐसी विभूतियाँ मृतिक के कगार पर ही होती हैं। मैं तो इस विश्वास को संजोये हुए हूँ कि आज की तरुण पीढ़ी की परती जमीन के चित्त में गहरे कहीं सुषुप्त पड़ी उर्वरा को जगाने में आचार्य विद्यासागरजी की एक अपूर्व भूमिका होगी और इस देश में पुनः उदात्त सांस्कृतिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक मूल्यों की एक हरी-भरी फसल लहलहायेगी। ...तो मैं चिन्तित था कि कहीं यह जमीन परपी न रह जाए और फिर सैकड़ों साल की एक बदकिस्मत खाई आड़े आ जाए। इसलिए, महज इसलिए, मैं भी आचार्यश्री की अस्वस्थता को लेकर अन्य माथी मुसाफिरों की तरह अन्यमनस्क और बेभान था।

नैनागिरि पहुँचा। धूप तेज थी; लेकिन प्रभाव डालने में लगभग असमर्थ। भीतर गहरे आचार्यश्री के पुण्य-दर्शन की उत्कण्ठा ने धूप की तीक्ष्ण तपन को विस्मृत कर दिया था। सुना कि वे बोल नहीं रहे हैं। दर्शन अवश्य होंगे। यह भी सुना कि १-२ दिन पूर्व वे काफी अस्वस्थ थे, अब स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं। यह भी जाना कि जिस रात उन्हें १०६ डिग्री की सीमा लांघता ज्वर था, उस रात हजारों-हजार भाई रेशन्दीगिरि के मन्दिर में पलकों पर प्राण लिये, पाषाण-खण्डों पर चिन्तातुर बैठे रहे थे। वैद्य-हकीमों के प्रयत्न-पुरुषार्थ से नयी पीढ़ी के इस हिमालय को मौत के मुँह से बाहर लाया जा सके, इस मंगल कामना के साथ उस रात हजारों-हजार लोग उपस्थित थे। यह जानते हुए भी कि काल अपरिहार्य है, उससे वचना-वचाना किसी के हाथ नहीं है। कैसी भयावह निशा थी वह! लेकिन तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की समवसरण-स्थली नैनागिरि का पावन क्षेत्र और हमरे दिन की वह भाग्यशालिनी सुबह—हजारों कण्ठों से यही सुना कि “कहीं ध्रुव-तारा डूबता है?”

मैं जिस दिन पहुँचा, उनका स्वास्थ्य उत्तरोत्तर संभल रहा था। चलने में अशक्य थे। आहार लेने लगे थे; लेकिन शायद मानेंगे नहीं आप कि इतनी गहन रुग्णता के बाद भी उनके हाथ-पैरों में कहीं-कोई प्रमाद नहीं था, और मुख-मण्डल की आभा कहीं हारी नहीं थी। कैसा सुखद वातावरण था उस महाभाग रेशन्दीगिरि का!! उसके वृक्ष, वृक्षों की हरी-भरी शाखाएँ, उनके नये-नये पात; रास्ते, उनके दोनों किनारे, उन पर रेत; तालाब, उस पर कमल; खेत, हरे-भरे; पवन, मन्द-मन्द, शीतल, सुवासित—यह सब आचार्यश्री के मंगल विहार से बद्ध और सुखद लग रहा था।

मुझे एक विस्मय हुआ। उन दिनों आचार्यश्री के प्रवचन बन्द थे; लेकिन लगता था जैसे सारा वातावरण अनुगुजित है, उनके उपदेशों से, उनकी देशना से। अबोला-भा कहीं कुछ लगा नहीं। विगत की बातों को दुहराते लोगों की भीड़ में यथापूर्व जीवन्त उल्लास दीख पड़ रहा था। और फिर उनका संघ; संसार की व्यर्थता और निस्सारता को पहचानने वाले तीन-चार युवाओं का समुदाय, जिनमें से दो उनके सहोदर हैं। वय होगी यही कोई १९ से २३ के बीच। कोई शिलाखण्ड पर ध्यानाहड़ है, किसी का सर किसी ग्रन्थ पर झुका हुआ है, कोई मामाधिक में (शेष पृष्ठ २८ पर)

रोशनी का वह चेहरा

ओं युग के महान् संत
 मुनि विद्यासागरजी
 तुम रोशनी के वह चेहरे हो
 जो हमें
 आध्यात्मिक सौन्दर्य की
 नई ऊर्जा
 नई ऊष्मा
 और नई ताजगी की
 अनुपम सुषमा प्रदान करता है,
 जो हमारी सृष्टि में
 ज्ञान की एक ऐसी
 खूबसूरत मीनार निर्मित करता है
 जिससे हम
 अन्धकार की घाटियों से निकलकर
 आलोक के प्रकोष्ठ में
 प्रवेश करते हैं
 मानवीय सौन्दर्य की
 गरिमा का संदर्शन करते हुए ।
 सच मुनिजी,
 तुम इतिहास के वह
 स्वर्णम परिच्छेद हो
 जो हमें सदैव प्रेरणा की पथरेखा
 प्रेंट करता है
 हमारे अज्ञानता के पिरामिडों को
 ध्वंस करते हुए ।
 गति की पगडण्डियों के
 विशाल प्रकाश-खण्ड !
 तुमको कोटि-कोटि प्रणाम !!
 तुम्हारे पद-चिह्न हमेशा हमें
 नई स्फूर्ति, नई शक्ति और नया ज्ञान
 देते रहेंगे, हमारे जीवन को युग की
 अभिनव चेतना से परिपूर्ण करते हुए ।



मानव की विराटता के महान् प्रतीक !
 तुम्हारे दिशा-बोधक विचार
 तुम्हारी दृष्टि की उच्चता
 और तुम्हारे संकल्पों के
 उच्चतम आदर्श
 हमें एक ऐसी दुनिया में
 ले जाते हैं, जहाँ हम
 सम्पूर्ण संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर
 संकुचित स्वार्थों से पृथक् होकर
 और सत्य शिवं सुन्दरम् को
 मधुमत्स्य वातावरण का
 सान्निध्य लेकर
 तुम्हारे पावन, गरिमापूर्ण
 व्यक्तित्व को नमन करते हैं
 तुम्हारे दिग्दर्शित मार्ग पर
 चलने का संकल्प करते हुए ।

□ उमेश जोशी

(युवा पीढ़ी का ध्रुवतारा : पृष्ठ २६ का शेष)

डूबा है—किसने चरण छुए, किसने नमन किया, कौन पास आकर बैठ गया, उठ गया—विलक्षण प्रतिभा और अभीक्षण साधना के धनी इन निःस्पृह साधकों को इसका कोई भान ही नहीं था। और जब देख ही लेते तब मात्र एक स्वस्तिकर मुस्कराहट ओठों के बीच उभरती, मानो वह युवापीढ़ी को उस कठोर-कष्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने का निमन्त्रण ही हो।

आचार्य विद्यासागर आज की युवापीढ़ी के जीवन में एक अभिनव चारित्रिक क्रान्ति का सूत्रपात करना चाहते हैं। युवकों के लिए एक चुनौती की तरह है उनका मध्यप्रदेश विहार—कभी कुण्डलपुर, कभी नैनागिरि। वस्तुतः यह युवकों की परीक्षा का समय है। धर्म को वृद्धावस्था की विवशता, या लाचारी नहीं बरतू युवावस्था की स्वाभाविकता बनाना चाहिये। आचार्यश्री का जीवन इसी तथ्य की मिद्धि पर न्यौछावर है।

इधर के दस-बीस वर्षों में देश की युवापीढ़ी में उदात्त जीवन-मूल्यों के प्रति जो रज्जान बढ़ी है, उसकी पृष्ठभूमि पर आचार्यश्री विद्यासागरजी-जैसे मुनि मनीषी एक अकम्प लौ वाले दीपक की तरह विद्यमान हैं। आज वह क्षण उपस्थित है जब कि समाज की युवापीढ़ी को आचार्यश्री के चरणों में बैठ कर जीवनावलोकन करना चाहिये, सारे देश में आध्यात्मिक मूल्यों की खोज और प्रसार के लिए अनु-सन्धान-केन्द्र स्थापित होने चाहिये, प्राचीन धार्मिक और नैतिक ग्रन्थों को नूतन भाषा-शैली में रूपान्तरित किया जाना चाहिये, ताकि मंगल ग्रह की ओर बेभान भागती इस मानव-पीढ़ी को किसी बड़े अमंगल से बचाया जा सके। असल में, अंगार हैं, किन्तु उनकी ऊर्जा पर प्रमाद की राख छा गयी है। आचार्य विद्यासागरजी उस मनहूस राख को हटा कर अंगारों को उनकी मौलिक ऊर्जा लौटाने के पुरुषार्थ में लगे हैं। जैन-जैनतर सभी विचारकों को इस तथ्य पर विचार करना होगा कि जब एक २२ वर्षीय तरुण साधु (वर्तमान वय ३० वर्ष) ऐसी कठोर साधना और दुष्टैर तपश्चर्या कर सकता है, तो कोई कारण हमारे पास जेप नहीं है कि हम उन धार्मिक मूल्यों की ओर अधिक दृढ़ता से न लौटें, जो ग्राह्यत शान्ति, अहिंसा और सत्य को जनमते हैं, और सत्य, शिव, मुन्दरम् में आस्था रखने वाली समाज की आधारशिला बन सकते हैं। □

शौच : लोभ को सर्वोत्कृष्ट निवृत्ति

"स्त्री यदि अपने पति के साथ मरना चाहती है तो पुत्र उसे रोकता है। लोभ का पिता मोह है और माता माया है। अब मोह मरता है तो उसके साथ माया भी मरने को तैयार होती है; किन्तु लोभ उसे मरने नहीं देता। इसलिए लोभ का निग्रह करने के लिए शौच श्रेयता की आरक्षण करना चाहिये। शौच को देवता इसलिए कहा है कि देवता को अपने शरणागत का पक्षपात होता है; अतः जो शौच की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें लोभ के चंगुल से छुड़ा देता है। लोभ की सर्वोत्कृष्ट निवृत्ति को शौच कहते हैं।"

—अनगार धर्माभूत, अ. ६, श्लो. २८

विद्याञ्जलि

तुम त्याग और विराग के परिपूर्ण धाम,
वाचाल करते हैं मुझे तब गुण ललाम ।
है शक्ति मुझमें नहीं गुरो, तब स्तवन की,
प्रकटित तथापि हो रही भक्ति स्वमन की ॥
है ज्ञान अद्भुत गुरो, तब आत्मा का,
जो है कराना परस परमात्मा का ।
ज्ञानवारिधि में मिटा दी भेद-सरिता,
देती मुनार्थी स्वतः निज की सुकविता ॥
मान को दिया गु-रो, तुमने अमान,
देते तथापि तुम सभी को मुमान ।
हैं आप कहते नहीं मुझको ही मान,
हो पीर हरते गुरो, सबकी समान ॥
तुम-सा सरल गुरु इस धरा पर कौन होगा ?
तुम-सा तरल भी और अब यहाँ कौन होगा ?
ऋजुता स्वयं ही है गुरो, तब है लुभाती,
है आर्तजन के दुःखों को झट मिटाती ॥
सत्य तब सुवचनों में ऐसा भरा है,
असत्य की हो जाती स्वयं विराधना है ।
तुम बोलते हो सत्य, न कटु कदापि,
बोलते तुम सरस न अहित तदापि ॥
है लोभ का कर दिया तुमने विनाश,
है शौच का कर लिया तुमने सुवास ।
धारा बहा दी गुरो, तुमने तोप की अब,
स्नपित हो पाते छटा स्व-तोष की सब ॥
हो अकिंचन तथापि तुम पूर्ण कंचन,
पूर्ण कंचन भी तब सम्मुख है अकिंचन ।
छोड़कर भी हे गुरो, सब, पा गये तुम,
प्राप्त करके सभी कुछ खो गये हम ॥
है काम को सब विधि मिल गया विराम,



उपलब्धि

हो रहे हो, गुरो, तुम, अब मुकाम ।
प्रतिक्षण तुम ब्रह्ममय ही हो रहे हो,
परिपूर्ण बनके अपूर्णता को खो रहे हो ॥
स्वरस का जब पान तुमने कर लिया है,
रसों का परित्याग तुमने कर दिया है ।
काम आयेगा कहाँ अब अन्य रस भी ?
जब स्वरस में तुम हो रहे सरस ही ॥
'विविक्त-ज्ञयनासन' से मय को मिटाते,
एकान्त बन में पहुँच 'समय' को जभाते ।
ऐसा ही अद्भुत गुरो, मुतप तुम्हारा,
देता है बस, निज का, निज को महारा ॥
विद्याञ्जलि अर्पित गुरो, सद्भावना है,
होती प्रकट स्वयं ही बस सुभावना है ।
ग्रथित हो रही धुमा सत्प्रेरणा है,
शमित हो रही स्वतः चिरवेदना है ॥

□ श्रीमती आशा मलैया

मोक्ष : आज भी संभव

□ निराकुलता जितनी-जितनी: जायन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाए, उतना-उतना मोक्ष आज भी है ।

□ मोह का अभाव हो जाए, तो आप आज ही मुक्ति का अनुभव कर सकते हैं। मुक्ति का मार्ग है, तो मुक्ति भी है। मुक्ति है तो आज भी राग-द्वेष का अभाव है।

□ आचार्य विद्यासागर

प्रतिक्रमण का अर्थ

आक्रमण संसार है, प्रतिक्रमण मुक्ति है। प्रतिक्रमण का अर्थ है किये हुए दोषों का मन-वचन-काय से, कृत-कारित-अनुमोदन से विमोचन करना। मोचन शब्द से ज्ञात होता है कि छोड़ने के अर्थ में मोक्ष शब्द आया है। अनादिकाल से धर्म छूटा है और छोड़ा जाएगा; यही पाप है।

संसारी प्राणी दूसरे को दण्ड देना चाहता है, पर अपने-आप दण्डित नहीं होना चाहता। मुनि ही एक ऐसा जीव है जो दूसरे को दण्ड देना नहीं चाहता है और वह खुद प्रत्येक प्राणी के सम्मुख-वह सुने या न सुने-अपनी पुकार पहुँचा देता है: एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक सब जीवों के प्रति मैं क्षमा धारण करता हूँ, मैं क्षमा करता हूँ और मेरे द्वारा मन-वचन-काय से, कृत-कारित-अनुमोदन से किसी भी प्रकार से आप लोगों के प्रति दुष्परिणाम हो गये हों, तो उसके लिए क्षमा चाहता हूँ और आप लोगों को भी क्षमा करता हूँ। ये प्रतिक्रमण के भाव हैं।

लेकिन आप तो आक्रमक बने हैं। आक्रमक क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, रागी और द्वेषी होता है। प्रतिक्रमणी रागी नहीं होगा; मानी होगा वह तो मन के ऊपर मान करेगा कि मैं तेरे से बड़ा हूँ, तुझे निकाल ही दूंगा। मान का अपमान करनेवाला यदि कोई संसार में है, तो वह मुनि है। लोभ को भी प्रलोभन देने वाला यदि कोई है, तो वह मुनि है। क्रोध को भी गुस्सा दिलानेवाला यदि कोई है तो वह मुनि है। वह क्रोध का उदय आ जाए, तो खुद शान्त बन जाता है। क्रोध यदि जलता रहे और उसके लिए ईंधन नहीं मिले, तो अग्नि थोड़े ही जलेगी, वह तो शान्त हो जाएगी। इस प्रकार दशलक्षण धर्म के माध्यम से वह सारी कषायों को शान्त कर देता है। वास्तविक क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी तो मुनि है वह इनसे, जैसे लोभ को भी प्रलोभन देकर अपना काम निकाल लेता है। इस तरह वह प्रतिक्रमण करनेवाला बड़ा काम कर रहा है, वह अपना काम गुप्तचुप करता रहता है। उसकी भावना अहंनिश्च चलती रहती है।

आत्मा को निर्दोष बनाना ही मुक्ति है। मोक्ष तो फल है और निर्जरा साधना है। साधना का अर्थ एकदेश मुक्ति का मिलना है। एकदेश आत्मप्रदेशों से दोषों का निवारण होना निर्जरा है। पूर्णरूपेण अभाव को प्राप्त होना मोक्ष है।

हमारा जीवन जो मुक्ति के लिए आगे बढ़ रहा है, उसके लिए माधक कम-से-कम बने। संसारी प्राणी अनादिकाल से इसमें रचता-पचता आ रहा है। उसके लिए कोई छोर नहीं है, बिगनिंगलेस है; आदि नहीं है, अन्त भी नहीं है। यह संसार तो अनादि-अनन्त है। हम इसमें भटकते-भटकते आ रहे हैं। तात्कालिक पर्याय के प्रति जो आस्था है, उसको भूलना होगा और त्रैकालिक जो आ रहा है उस पर्याय को धारण करनेवाला द्रव्य है मैं आत्मा कौन हूँ, इसके बारे में चिन्तन करना होगा। प्रायः हमारे आचार्यों ने इसीलिए पर्याय को क्षणिक बताते हुए, क्षणभंगुरता और निस्सारता के बारे में उल्लेख किया है। सारी-की-सारी पर्यायें निस्सार ही होती हैं, ऐसा नहीं है; किन्तु संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग पर चलने के लिए पर्याय की हेयता बताना अति आवश्यक है। इसके बिना उसकी आत्मा उस पर्याय से हटकर त्रैकालिक जो द्रव्य है, उसके प्रति नहीं उठ सकती और जब तक उसकी दृष्टि उस अजर-अमर द्रव्य के प्रति नहीं जाएगी, तब तक संसार में रचना-पचना छूटेगा नहीं।

संसारी प्राणी की स्थिति यह है कि क्षेत्र का प्रभाव उसके ऊपर ऐसा पड़ जाता है कि उस चकाचौध में जब वह फँस जाता है, तब अतीत में बहुत ही अच्छा भी क्यों न कार्य किया हो, उसे भी वह भूल जाता है और जीवन के आदि में लेकर अंतिम समय तक यों कहना चाहिए वह उन्हीं भोगों में व्यस्त हो जाता है। चारों गतियों में सारे जीव व्यस्त हो जाते हैं; लेकिन मनुष्य-मति ही एक ऐसी है, जिसमें व्यस्तता नहीं पायी जाती। व्यस्तता बनायी भी जा सकती है और मनुष्य-जीवन में ही व्यस्तता को धक्का लगाया जा सकता है। वह एक विशेष कोटि का विवेक जागृत कर सकता है। यह विवेक एक छोटे बच्चे में भी पाया जा सकता है।

मुनिचर्या में वीतरागता कः मूलक

इस प्रकार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन हो गया, वह चारित्र पर अग्रसर होगा ही। उसके अन्दर तड़प लगी रहती है कि किस प्रकार मैं मुक्ति के मार्ग को प्राप्त करूँ, वह कहाँ पर है, किस कोने में है, उसको ढूँढता रहता है। कोई उदाहरण के लिए आ जाए, तो वह कह देता है कि बम अब बताने की कोई आवश्यकता नहीं। सम्यग्दृष्टि को मुनि की प्रत्येक क्रिया में वीतरागता दीख पड़ती है। इसमें कोई सन्देह नहीं, मुनिचर्या के विधान के अन्तर्गत जो नियम हैं, वे सारे वीतरागता के द्योतक हैं। मुनि तो उन्हें निर्जरा का निमित्त बनाता है। वे सभी कार्य उसके लिए निर्जरा के निमित्त बन सकते हैं। इस प्रकार चौबीसों घण्टे बैठते, उठते, जाते और बोलते समय भी आप मुनियों के माध्यम से शिक्षा ले सकते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चरित्र की भूख को तीव्र बना देते हैं। इनके उत्पन्न होने के उपरान्त चारित्र की तीव्रता बढ़ जाती है, क्योंकि उसमें जल्दी-से-

जल्दी मुक्ति की भावना होती है। आसन्न भव्य में हमारी गिनती नहीं आ रही है, अतः जल्दी करना चाहिये; शुभस्य शीघ्रम् ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्ति का मार्ग छोड़ने के भाव में है और जो छोड़ देगा, उससे प्राप्त होगी निराकुल दशा। उसको कहते हैं, वास्तविक मोक्ष। वास्तविक मोक्ष अर्थात् निराकुलता। निराकुलता जितनी-जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाए, उतना-उतना मोक्ष आज भी है। निर्जरा के माध्यम से भी एकदेश मुक्ति मिलती है, पूर्ण नहीं मिलती। एकदेश आकुलता का अभाव होना यह उसी का प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है। राग-द्वेषादि जितने-जितने भाग में हम आकुलता के परिणामों को समाप्त करेंगे, उतने-उतने भाग में निर्जरा बढ़ेगी, उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। तो आकुलता को छोड़ने का नाम ही है मुक्ति। आकुलता को छोड़ने का अर्थ ही यह हुआ आकुलता के जो कार्य हैं, आकुलता के जो साधन हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-सबको छोड़कर जहाँ निराकुल भाव जागृत हो, उस प्रकार का अनुभव करने का नाम ही तो निर्जरा है। इसीलिए बार-बार एक-एक समय में भी आप निर्जरा को बढ़ा सकते हैं, निर्जरा के बढ़ने से मुक्ति भी अपने पास आयेगी।

मोक्ष : आत्मा का उज्ज्वल भाव

सात तत्त्वों में एक तत्त्व मोक्ष भी है और वह आत्मा से पृथक् तत्त्व नहीं है, जो आत्मा का ही एक उज्ज्वल भाव है। यह मोक्ष-तत्त्व बाकी के जितने भी तत्त्व हैं, वे सारे-के-सारे तत्त्व एक दृष्टि से गौण हो सकते हैं, समाप्त हो सकते हैं, लेकिन मोक्ष-तत्त्व अनन्तकाल तक रहेगा, क्योंकि वह फल के रूप में है। सभी का उद्देश्य वही है, अपने को मोक्ष प्राप्त करना।

नियतिवाद का सभ्यक् स्वरूप

जिस समय जो होनेवाला है, आनेवाला है, उस समय वह आ ही जाएगा। मुक्ति तो अपने को मिल ही जाएगी। प्रयास करने से कैसे मिलेगी? प्रयोग करना व्यर्थ है। बिलकुल ठीक है, यदि नियत ही आपका जीवन बन जाए, तो उस जीवन को मैं सौ-सौ बार नमन करूँ। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है, उसी समय आयेगी, अपना वहाँ पर कुछ नहीं चल सकता। 'होता स्वयं जगत् परिणाम', अपने-अपने स्वयं परिणामन होते रहते हैं, लेकिन 'मैं जग का करता क्या काम?' इस ओर भी तो ध्यान देना चाहिये ना? 'होता स्वयं जगत् परिणाम' तो बहुत अच्छा लगता है और मैं जग का करता क्या काम नहीं—सब काम, क्योंकि मुक्ति के मार्ग पर तो आने के लिए कहता है, समय पर सारी पर्यायें नियत हैं। प्रत्येक समय में प्रत्येक पर्याय होती है और वह पर्याय यदि नियत है—यह श्रद्धान हो जाए, तो मुक्ति दूर नहीं है। वही मुक्ति है। नियतिवाद के ऊपर डट जाना ही मुक्ति है। नियतिवादी के सामने सब आत्मसमर्पित (सरेंडर) हो जाते हैं।

ध्यान रखना कि नियतवादी को क्रोध नहीं आता, मान नहीं आता। उसे किसी की गलती नजर नहीं आती। उसके सामने मात्र नियत, प्रत्येक पर्याय नियत है। देखो,



मोक्ष-मार्गं / गिनिये—एक, गम्यदर्शन; दो, गम्यज्ञान; तीन, सम्यक्चारित्र

जानो, बिगड़ो मत — यह सूत्र अपनाया जाता है। वह देखता रहेगा, जानता रहेगा, लेकिन बिगड़ेगा नहीं। लेकिन आप बिगड़े बिना रहते नहीं। देखते हैं, जानते भी हैं और बिगड़ जाते हैं, इसलिए नियति को छोड़ देते हैं। नियति के माध्यम से सारे शत्रु आत्मसमर्पित हो जाते हैं। भगवान् ने देखा वह नियत देखा, बिलकुल सही-सही देखा, वह जो कुछ पर्याय निकलती है, यह तो भगवान् ने देखा था उसी के अनुसार हो गया। क्रोध-मान-माया-लोभ के लिए कोई स्थान नहीं। क्रोधादि के ऊपर यदि विश्वास ज्यादा हो जाता है, तो क्रोध कर लेते हैं, तो ध्यान रखना, आप नियतिवाद के ऊपर ही क्रोध कर रहे हैं और भगवान् के ऊपर ही क्रोध कर रहे हैं; क्योंकि भगवान् ने जो देखा, उसको मान नहीं रहे हैं। क्रोध करने का अर्थ सारी-की-सारी व्यवस्था के ऊपर पानी फेर देना है।

बिलकुल क्रम से पर्याय आती हैं—यह भगवान् और उसके जो दास हैं, भक्त; वे भी जानते हैं। लेकिन मामला कहाँ बिगड़ रहा है? बिगड़ तो वहाँ रहा है, जिधर कषाय के वशीभूत होकर आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर नियत-वाद से स्खलित हो जाता है। जिस समय वह बिलकुल शुद्ध रहता है; नियतिवाद का अर्थ भी यह है कि अपने-आप में समता के साथ बैठ जाना, कुछ भी हो, परिवर्तन सामने, उससे किसी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं करना। यह नियतिवाद का

वास्तविक अर्थ है। प्रत्येक कार्य के पीछे संसारी प्राणी अहंबुद्धि या दीनता का अनुभव करता रहता है। कार्य तो होते रहते हैं, लेकिन वह आत्मा उनमें कर्तृत्व भी रखता है, यह बात नहीं है। भगवान् इसीलिए तो सारे विश्व के लिए पुण्य हैं कि उन्होंने कर्तृत्व को एक द्रव्य में मिद्ध करके भी बाह्य कारण के बिना उसमें किसी भी कार्यरूप परिणत होने की क्षमता नहीं होना दर्शाया है। कार्य-रूप जो द्रव्य परिणत होता है उससे बाहर का भी कोई हाथ है, इससे वह अभिमान कर नहीं सकेगा, मैंने किया, ऐसा कह नहीं सकेगा।

मुक्ति -- इच्छा का अभाव

दूसरी बात यह है बाहरवाला ही सब कुछ करता हो तो उस समय दीनता आ जाएगी, तो उस समय बाह्य तथा इतर अपना उपादान है और निमित्त कई प्रकार के हैं—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अलग-अलग हैं। इस प्रकार जो बाह्य और अन्दर है, उसे कहकर दीनता को समाप्त करने का एक कारण उन्होंने बताया, आभ्यन्तर कारण उपादान नहीं, उसके माध्यम से यह कार्य होता है। उसमें कार्य में ढलने की क्षमता उपादान है, इसलिए दीनता नहीं अपनाना चाहिये। सारे-के-सारे कार्यों में मेरा हाथ है—इस पथिक के मन में 'अहंभाव' जागृत न हो इसलिए वे कह देते हैं कि तेरे अन्दर क्षमता तो है, लेकिन वह क्षमता व्यक्ति के रूप में तभी व्यक्त हो सकती है, जबकि दूसरे का भी उसमें हाथ लग जाता है। इस प्रकार कहने से दीनता और अहंभाव—दोनों हट जाते हैं, कार्य निष्पन्न हो जाता है। इन दोनों को हटाने के लिए नियतवाद रखा है; अर्थात् मैं कर्ता हूँ, यह भाव निकल जाए, समय पर सब कुछ होता है, मैं करनेवाला कौन? यह भाव आ जाए, इससे तो समता आ जाए। जब वह दूसरे पर निर्भर है तो मैं कहाँ कर सकूँगा, क्योंकि समय पर ही होना इसके लिए आचार्यों ने बताया है। उन्होंने यह भी बताया कि मुक्ति के लिए ऐसे कोई हम पकनेवाले नहीं हैं, जिस प्रकार आम डाली के ऊपर पक जाते हैं और उनको मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार हम संसार में नहीं रह सकेंगे। जो आसन्न भव्य बन जाता है, वह पाल रख कर अपनी आत्मा को तपा देता है; लेकिन उतावली आ गयी तो ऐसी-की-ऐसी स्थिति हो जाती है।

आप निराकुल होकर, एकाग्र होकर जो साधना बनानी चाहिये, वह साधना बनाओ। यहाँ तक कि आप भोक्ष के प्रति भी इच्छा मत रखो। इच्छा का अर्थ ही संसार-मोह है और इच्छा का अभाव ही मुक्ति है। मुक्ति ऐसी चीज है जिसे निराकुल भाव का उद्घाटन करके अन्दर प्राप्त करना है, जहाँ पर जाना है। आज तक राग का ही बोलबाला रहा है, अब वीतराग अवस्था का ही मात्र उद्घाटन करना चाहिये।

वीतरागता

संसारी प्राणी को दुःख क्यों हो रहा है? इसका कारण है राग। सकल संसार त्रस्त है, आकुल-विकल है। इसका कारण विषय-राग को हृदय से नहीं हटाना

है। वीतरागता को हृदय में नहीं बैठाया, जो शरण है, तारण-तरण। इसलिए हमें वीतराग अवस्था को ही अपने हृदय में स्थान देना है, राग को फेंक देना है। यह ध्यान रखना, राग के लिए भी एक जगह दी जाए और वीतरागता के लिए भी एक जगह दी जाए, ऐसा होगा नहीं; क्योंकि इन दोनों के बीच में लड़ाई होती है। दोनों की लड़ाई में विजय किसकी होगी—कह नहीं सकते कि अब किमका बल ज्यादा हो। इसलिए राग रहेगा, तो वीतराग अवस्था नहीं होगी। हाँ, राग में कमी आ सकती है, राग में कमी आते-आते एक वार समापनपूर्ण वीतराग भाव प्रकट होंगे, वह स्वभावनिष्ठ प्राणी बनेगा और उसके सामने संसार ही नतमस्तक हो जाता है।

सुख को चाहते हुए भी यह संसारी प्राणी राग को छोड़ नहीं रहा है और दुःख को नहीं चाहते हुए भी दुःख इसीलिए पा रहा है। राग जो है वह दुःख का कारण है और सुख का कारण वीतराग है। वीतरागता कोई बाहर से नहीं आती। राग बाहर की अपेक्षा रखता है, किन्तु आत्मा में होता है और वीतराग भाव 'पर' की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है; इसलिए आत्मा की अपेक्षा आपको आज तक हुई नहीं और पर की अपेक्षा हुई; इसलिए अपेक्षा का अर्थ है यह संसार, और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। कौन चाहता है अपेक्षा? संसारी प्राणी किसी-न-किसी में अपेक्षा रखता है; मात्र अपेक्षा आत्मा की रहे और संसार से अपेक्षा हो जाए, तो ऐसा प्राणी मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए संसार-दशा से ऊपर उठने का उपक्रम और मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को अपनाकर निग्रन्थता को अपनायें। जब तक आप अपने को बिलकुल खुला नहीं बनायेंगे, अकेले आप नहीं रहेंगे, तब तक आप को मुक्ति भी नहीं मिलेगी। तब तक मुक्ति का पथ खुलेगा नहीं।

मुक्ति का पथ

मुक्ति का पथ है 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः'। ये वीतरागता के प्रतीक हैं। इन तीनों के साथ कोई भी सांसारिक अङ्गुष्ठ नहीं रहेगा, सांसारिक परिग्रह का कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। एकमात्र शरीर रहेगा और उस शरीर को भी परिग्रह कब माना है, जब शरीर के प्रति मोह हो जाता है। शरीर को मात्र उस मोक्ष-पथ में साधक मानकर जो चलता रहता है, वह व्यक्ति निःस्पृह ही मुक्ति का भाजन बन सकता है।

आज भी मुक्ति का अनुभव किया जा रहा है। यह भी ध्यान रखिये, एक द्रव्यमुक्ति होती है और दूसरी भावमुक्ति। द्रव्यमुक्ति भावमुक्तिपूर्वक ही होती है। भावमुक्ति हुए बिना द्रव्यमुक्ति होती नहीं। द्रव्यमुक्ति का अर्थ एक प्रकार से शरीर और आठ कर्मों का छूटना है। भावमुक्ति का अर्थ भाव छोड़ना है। भाव छोड़े तो फिर क्या रहेगा, तो फिर द्रव्य रहेगा! इस प्रकार मोहभाव हट जाना ही मुक्ति है। जो भी दृश्य देखने में आ रहे हैं, उन सभी के साथ मोह है; जिन-जिन

के साथ आपका मोह है, वही तो संसार है और जिन-जिन पदार्थों के प्रति मोह नहीं है, उन पदार्थों की अपेक्षा से तो आप मुक्त हैं। आपके साथ जो पदार्थ हैं, उन पर आपने जो स्वामित्व जमाया है, उम अपेक्षा से आप बन्धित हैं। किन्तु छोड़ना है, यह सीमित है; वह भाव हट जाए, मोह का अभाव हो जाए, तो वस आज मुक्ति है। आप आज ही मुक्ति का अनुभव कर सकते हैं।

आज भी रत्नत्रय के आराधक रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा को जिन्होंने बनाया है, ऐसे मुनि महाराज हैं, जो आत्मा के ध्यान के बल पर आज स्वर्ग चले जाते हैं; स्वर्ग में भी इन्द्र होते हैं अथवा लोकान्तिक होते हैं और वहाँ से सीधा मोक्षमार्ग मिल जाता है। लौट कर आ जाते हैं और मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज भी मुक्ति है। जिसका सम्यग्दर्शन नहीं छूटता है, रत्नत्रय की पूर्ण भावना की थी, वह भावना वहाँ जागृत होती है। रत्नत्रय नहीं हो, तो भी उसकी भावना 'भुझे कब मिले'—इस प्रकार उसका एक-एक समय कटता रहता है और उस श्रुत की आराधना करता रहता है। इस अपेक्षा से सोचा जाए, तो आज मुक्ति नहीं, यह कहना एक प्रकार की भूल है। मुक्ति का मार्ग है, तो मुक्ति है और मुक्ति है तो आज भी राग-द्वेष का अभाव है, वह किस अपेक्षा से है, आपको समझना चाहिये। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा से जो किसी से राग नहीं है, द्वेष नहीं है, वह मुक्ति है। इसको आचार्यों ने बार-बार नमस्कार किया है। यह जीवन आज बन जाए, तो कम नहीं है। ये भी सिद्ध परमेष्ठी के समान बन सकते हैं। उम्मीदवार अवश्य हैं, कुछ ही समय के अन्दर उनका नम्बर आने वाला है। यह सौभाग्य आज आपको भी प्राप्त हो सकता है; लेकिन अभी आप लोगों की धारणा कुछ अलग हो सकती है, विश्वास अलग हो सकते हैं, रुचियाँ अलग हो सकती हैं।

मोक्षमार्ग वातानुकूलित नहीं

आज स्वर्ण-जैसा अवसर है, यह जीवन बार-बार नहीं मिलता है। जीवन की सुरक्षा, जीवन का विकास-उन्नयन जो कोई भी है, वे सारे जीवन का मूल्यांकन समझने वालों को मिल सकते हैं। उसको जो व्यक्ति बहुमूल्य समझता है, वह साधना-पथ पर कितने ही उपसर्ग हों, किन्तु सहर्ष उसे अपनाता है। दुःखों, परीपहों और उपसर्गों को सहर्ष अपनाते वाले मुनि हैं। प्रतिकार करने वाले मिलेंगे, लेकिन रास्ता ही इनमें से होकर है, हम क्या करें? भगवान् महावीर ने जो रास्ता बताया; वे देखकर स्वयं ही वही से गये हैं; वह उपसर्ग और परीपहों में ही होता है, वह रास्ता कोई वातानुकूलित हो, 'एयर कण्डीशण्ड' हो, उस रास्ते से चले जाएँ, ऐसा कोई है ही नहीं। काल्पनिक रास्ता तो हो सकता है, लेकिन मोक्षमार्ग तो वही है, जो परीपह-उपसर्गों से ही प्राप्त होता है। जो उसे धारण करने के लिए तैयार हैं, उनको वह अवश्य मिलता है। उसे उत्साहपूर्वक सहर्ष सारा तन-मन-धन

लगा कर अपनाना चाहिये। जो व्यक्ति एक बार भी इस रास्ते पर चलना आरंभ कर देता है, उसे फिर भागने की आवश्यकता नहीं है। आपको वहाँ अनन्तकाल तक विराम मिलेगा; फिर एक समय ऐसा आयेगा, जब आप अपनी सत्ता में रहेंगे, जब सारे-के-सारे जेय पदार्थ आपके अधीन रहेंगे। आप ज्ञाता एक मौलिक द्रव्य बने रहेंगे; अतः उस मुक्ति के भाजन हम बन सकते हैं, लेकिन इस 'सकने' की अपेक्षा से अभव्य भी बन सकते हैं। हमारे पास जो भी शक्ति है, क्षमता है, उसके अनुसार प्रारम्भ कर देना चाहिये।

प्रतिक्रमण का अर्थ है, मुक्ति का अर्थ है अपनी ओर देखना। प्रतिक्रमण अर्थात् आत्मा की ओर आना और आक्रमण अर्थात् बाहर की ओर जाना। इस प्रकार मुक्ति का अर्थ प्रतिक्रमण है, निर्जरा है। यदि आप समझना चाहें, तो सब कुछ है, नहीं समझना चाहें, तो कुछ भी नहीं है।

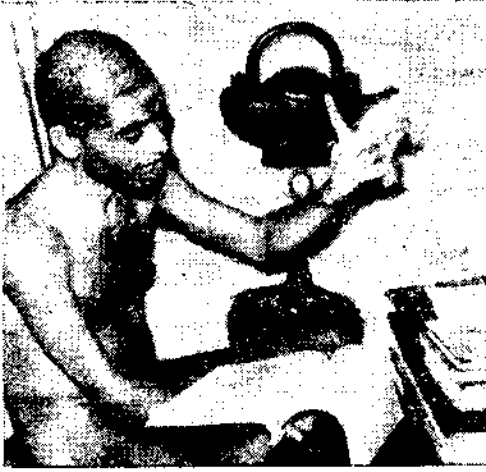
मुक्ति अविपाक निर्जरा का एक फल है और यह तप के माध्यम से होती है। आप इस प्रकार तप कीजिये जिससे आत्मा तप कर एकमात्र स्वर्ण बन जाए, स्वर्ण ही रह जाए। आप भगवान् से प्रार्थना कीजिये, अपनी आत्मा से भी यह प्रार्थना कीजिये, अपने भावों के सामने भी यही पुकार कीजिये कि आपके मोह-जन्य भाव पलट जाएँ और हमारे अन्दर जो मोक्षजन्य भाव हैं, जो निर्विकार भाव हैं, वे जागृत हो जाएँ।

(नैनागिरि तीर्थ में सात तत्त्वों पर दिये गये प्रवचनों में से मोक्ष-तत्त्व का संपादित विवेचन; केसेट से आलेखन : वीरेन्द्रकुमार जैन, सागर; संपादन : प्रेमचन्द्र जैन)। □

साधु की विनय

मुझसे एक सज्जन ने एक दिन प्रश्न किया—'महाराज, आप अपने पास आनेवाले व्यक्ति से बैठने की भी नहीं पूछते। बुरा लगता है। आप में इतनी भी विनय नहीं।' मैंने उनकी बात को बड़े ध्यान से सुनकर कहा कि 'भैया, समझो एक साधु की विनय और आपकी विनय एक-सी कैसे हो सकती है? आपको मैं कैसे कहूँ 'आइये बैठिये'। क्या यह स्थान मेरे बाप का है? और मान लो कोई केवल दर्शन-मात्र के लिए आया हो तो? इसी तरह मैं किसी से जाने की भी कैसे कह सकता हूँ? मैं आने-जाने की अनुमोदना कैसे कर सकता हूँ? मान लो कोई रेल या मोटर से प्रस्थान करना चाहता हो, तो मैं उन वाहनों की अनुमोदना कैसे कहूँ, जिनका मैं वर्षों पूर्व त्यागकर चुका हूँ? और मान लो कोई केवल परीक्षा-मात्र करना चाहता हो तो, तो उसकी विजय हो गयी और मैं पराजित हो जाऊँगा। आचार्यों का उपदेश मुनियों के लिए केवल इतना है कि वे केवल हाथ से कल्याण का संकेत करें और मुख का प्रसाद बिखेर दें। इससे ज्यादा उसे कुछ और नहीं करना है।'

—आचार्य विद्यासागर



भेंट, एक भेदविज्ञानी से

(स्वाध्याय-चर्चा; नैनागिरि तीर्थ;
सिद्धशिला; सोमवार, ३० अक्टूबर,
१९७८; कार्तिक कृष्णा १४, वी.
नि. सं. २५०४, वि. सं. २०३५;
पूर्वाह्न ११.२०-११.५०; चर्चा-
कार—आचार्यश्री विद्यासागरजी,
जीवनकुमार सिधई, श्रीमती आशा
मलैया, डॉ. नेमीचन्द जैन;
संकेत-वि.-आचार्यश्री विद्यासागरजी,
जी.—जीवनकुमार; आ.—आशा
मलैया; ने.—नेमीचन्द जैन।)

वस एक

ने.—प्रायः सभी जानते हैं कि भेदविज्ञान जैनधर्म की रीढ़ है, किन्तु कोई इसकी स्पष्ट इबारत नहीं करता। कारण स्पष्ट है। इबारत हर आदमी नहीं दे सकता। वस्तुतः परिभाषा करने/देने का अधिकार ही उसे है, जो उममें डूबा हो, पल-पल उसे जी रहा हो; अतः यदि आप इसे परिभाषित करेंगे, तो यह हम सब पर बड़ा उपकार होगा।

बि.—वात यह है कि हम इसे समझने में प्रारंभ में ही भूल करते हैं। ज्ञान तो हमें पाना नहीं है, उसे सम्यक् बनाना है। ज्ञानघन तो हम स्वयं हैं। वह आत्मरूप है; ज्ञान और विज्ञान में भी भेद की एक सूक्ष्म रेखा है। ज्ञान में जब पार-दर्शन की शक्ति आती है, तब वह विज्ञान हो जाता है। ज्ञान पर्याय में अटकता है, सम्यग्ज्ञान उसके पार निकल जाता है। सामान्य जन ज्ञेय पर फिमल जाता है, सम्यग्ज्ञानी अचूक चलता है, अनवरुद्ध चलता है।

ने.—आइन्स्टीन को जैनधर्म का विशेष ज्ञान नहीं था, किन्तु वह 'सबस्टेन्स' और 'फॉर्म' की विशिष्टताओं से परिचित था। जानता था कि पर्याय में संघर्ष है, वस्तु में नहीं है। बहुधा हम पर्याय में अटक जाते हैं वस्तु को सटीक नहीं देख पाते। मैं मानता हूँ कि भेदविज्ञान इसमें हमारी काफी-कुछ सहायता कर सकता है।

बि.—बिलकुल। मेरी समझ में चिन्तन के द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है। चिन्तन करने के लिए बैठने से वह नहीं होता। इस तरह तो चिन्तन चिन्ता में बदल जाता है (हँसी); इसलिए चिन्तन को सहज-मुक्त छोड़ना होता है। चिन्तन ही, वस्तुतः एक ऐसा माध्यम है, जो सत्य के आमने-सामने हमें खड़ा कर सकता है।

ने—उसमें से तो गुजरना ही चाहिये; किन्तु यदि हम 'है' की जगह 'था' या 'गा' में चले गये तो वहाँ विचलन का खतरा है।

वि—आचार्यों ने 'होने' को हानिकारक नहीं कहा है। चिन्तन 'करने' को यानी कर्तृत्व को क्षतिकारक बताया है।

ने.—मेरी समझ में 'होने' को छोड़ कर 'करने' में विभाव की स्थिति है, स्वभाव का आच्छादन है।

वि.—हाँ।

ने.—'होने' में स्वभाव है, 'करने' में विभाव।

वि.—वैसा होगा ही।

ने.—इस तरह भेद-विज्ञान स्वभाव और विभाव को पहचानने-जानने और उनके पृथक्करण का विज्ञान है।

वि.—जितने भी मनीषी हुए हैं, सारे-के-सारे पहले लिखने की ओर आकृष्ट नहीं हुए, लखने (आत्मावलोकन) की ओर हुए। बात यह है कि जब भी हम लिखने की ओर प्रवृत्त होते हैं, देखने की हमारी धारा टूट जाती है; और होने यह लगता है कि जो भी हमने देखा होता है, उसे भी लिपिबद्ध करने में हम खुद को असमर्थ पाते हैं।

ने.—वह क्षण बीत जाता है न।

वि.—बिलकुल।

ने.—'लखने' का क्षण अपना काम संपन्न करने के बाद जब लौट नहीं पाता तब फिर उसे लेखबद्ध करना तो कठिन होगा ही।

वि.—बिलकुल।

ने.—लिखा भी गया तो वह आत्मदर्शन से भिन्न कुछ इतर ही होगा, कोरा लेखन होगा, लखन नहीं होगा।

वि.—बिलकुल। स्मृति में कुछ भी लाना मानो ज्ञान को सताना है। स्वाभाविक धारा यों होगी कि लेखनी लिखे, आत्मा लखे; आत्मा लिखे यह असंभव है।

ने.—'सल्लेखन' में भी तो 'लेखन' आता है (हँसी)।

वि.—सल्लेखन में लेखन का अर्थ लेखन नहीं है। यहाँ लेखन का अर्थ क्षीण करना है। सल्लेखन के दो भेद हैं—कषाय-सल्लेखन, काया-सल्लेखन। प्रमुख अर्थ है 'कषाय का क्षीण करते जाना'।

ने.—स/ल्ले/ख/न।

वि.—हाँ, यहाँ लिखने को कुछ नहीं होता, लखने को ही सब कुछ होता है।

ने.—मैंने तो यह प्रसंग वातावरण को किञ्चित् विनोदमय करने के लिए उठाया था, किन्तु इससे काफी सीख सका।

वि.—ठीक है। वही कहा तो ठीक ही है। कषाय-सल्लेखन कषाय को निरन्तर क्षीण करते जाना है। बिलकुल सहज होते जाना सल्लेखन है। इस तरह जब हम कषाय नहीं करते हैं तो जो कषाय पहले से हैं, वे आपोआप कटती जाती हैं। कोई भी प्राणी जब विभाव-परिणति के साथ कर्तृत्व-बुद्धि को जोड़ता है, तब कषायें और सघन हो जाती हैं। वे विभाव हैं, इसलिए उन्हें सहज ही सर्वथा छोड़ना चाहिये।

□

ने.—कई बार कई लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि जब आत्मा दीखती नहीं है तब वह होती ही शायद हो। वह उसके होने में शंकालु हो जाते हैं। अब आप ही बतायें ऐसे आदमी को 'आत्मा है' इसकी प्रतीति कैसे करायें?

वि.—आत्मा होती है, या नहीं होती है; इस तरह की शंका करने वाला ही तो आत्मा है। वह होती है अथवा नहीं होती है—यह तलाश कौन कर रहा है, कौन सोच रहा है इस तरह? वही तो वह है।

ने.—'जो प्रश्न कर रहा है, वह आत्मा ही तो है स्वयं'; ठीक है।

वि.—उसके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता।

ने.—कई बार मेरे सम्मुख धर्मसंकट तब आ उपस्थित होता है, जब कोई युवा पूछ बैठता है कि कम-से-कम शब्दों में बताओ कि जैनधर्म क्या है? कम-से-कम शब्दों में धर्म की परिभाषा देना मुझे कई बार असमंजस में डाल देता है। आप बतायें इस उलझन को कैसे सुलझाया जाए?

वि.—शब्दों में तो जैनधर्म समझाया ही नहीं जा सकता, उसे दिखाया जा सकता है (हँसी)। वस्तुतः उसे जीना आवश्यक है, यानी चरित्र में लाना आवश्यक है। सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका में पूज्यपाद ने एक मार्ग की बात कही है कि भव्य वही है जो परहित नहीं चाहता, स्व-हित चाहता है। आज हम समझाने में लगे हुए हैं, कोई ऐसा नहीं दीखता जो समझना चाहता हो। जो स्व-हित का लक्ष्य लिये हुए है, 'भव्य' उसी का संबोधन है।

ने.—लोग 'स्व-हित' में स्वार्थ मूँधेंगे।

वि.—वास्तव में जो व्यक्ति स्वयं अपना हित नहीं करेगा, वह दूसरे का हित भी नहीं कर पायेगा।

ने.—स-हित होना जरूरी है।

वि.—बिलकुल। आप कर ही क्या सकते हैं तब तक, जब तक उस मार्ग को अपनाते नहीं हैं, समझते नहीं हैं। मार्ग को पहले जब स्वयं समझेंगे, तभी दूसरों को समझा सकेंगे; यह समझना ही 'स्व-हित' है, इसमें पर-हित स्वयमेव मन्निहित है। जैसे, जिसे भव्य कहा है, वह आकर पूछता है कि भगवन् सत्य क्या है? क्या है आत्मा का स्वरूप? यद्यपि देशना की यह प्रभा भगवान् के शरीर-माध्यम से प्रकट हो

रही है, तथापि भव्य जिज्ञासा कर रहा है। यहाँ दूसरे से कोई सरोकार ही नहीं है। मोक्ष का मार्ग, और उसका उपाय सरल है।

आ.—मैं जानती हूँ मोक्ष-मार्ग इतना सरल नहीं है।

बि.—बहुत सरल है।

ने.—जो, आचार्य श्री, बहुत सरल होता है, वही बहुत कठिन भी तो होता है।

बि.—किन्तु कब तक ?

ने.—जब तक सरलतम नहीं हो पाता।

बि.—इसी को कहते हैं राई की ओट पहाड़। अब कठिन कहें तो ठीक है, सरल कहें तो ठीक है।

ने.—कहीं पढ़ा था, अच्छा लगा यह कि 'टू सिम्प्लिफाइ ए थिंग इज टू यूनिवर्स-लाइज इट'—अर्थात् किसी चीज का सरलीकरण उमका सार्वभौमीकरण है। इस तरह आपने भेदविज्ञान को जीकर काफी सरल कर दिया है। वस्तुतः सरल हो जाती हैं जटिलताएँ जब जीने लगता है आदमी उन्हें। अगला प्रश्न है आचार्यश्री, कि अगर हम भेदविज्ञान को जीना चाहें तो वैसा करना कहाँ से शुरु करें? इसका क, ख, ग कहाँ से करना होगा ?

बि.—जिसके पास भेदविज्ञान हो कम-से-कम उसे देखे तो वह, उसके भलीभाँति दर्शन तो करे (हँसी)।

जी.—हाँ, यह बिलकुल ठीक है। जो जिसका मालिक है वह अपनी मिल्कियत देखे तो, उसके दर्शन तो करे।

ने.—इसे थोड़ा और स्पष्ट कीजिये।

बि.—(हँसते हुए) और स्पष्ट कैसे करें, (हँसी)।

आ.—जब देखना आपको है, तब स्पष्ट दूसरा कैसे करेगा ?

ने.—हाँ, बिम्ब ही है, प्रतिबिम्ब होता तो उसकी सतही सफाई हो सकती थी।

आ.—उस मार्ग पर चढ़ने की प्राथमिकताएँ पूछ रहे होंगे शायद।

बि.—प्राथमिकताएँ स्पष्ट हैं। जहाँ जाना है वहाँ के दर्शन तो हों कि हमें वहाँ जाना है। अभी तो हम मात्र फामूले पढ़कर क्रदम उठाते हैं। इसीलिए मैं समयसार पढ़ने को नहीं कहता, उसे जीने को कहता हूँ।

ने.—'कम-से-कम' से आशय यहाँ क्या है ?

बि.—जब प्रारंभ हो जाएगा तब मितिमम (कम-से-कम) में से मैक्लिमम (अधिक-तम) स्वयं हो जाएगा। आचार्यों ने कहा है कि जिनवाणी के माध्यम से आँखें खुलने के बाद ही उनमें ज्योति आ सकती है, लेकिन गुरु के समागम से तीनों मिल जाते हैं। उनकी वाणी जिन-वाणी होती है, उनकी मुद्रा देखते हैं तो वह जिनेन्द्र

भगवान् के समान होती है, और चर्या देखते हैं तो मोक्षमार्ग के पथिक की अनुभूति हो जाती है। इस तरह गुरु में तीनों का समावेश हो जाता है। हमारे भगवान् बोलते नहीं हैं, ममझाते नहीं हैं, मौन रहते हैं, बल्कि यूँ कहना चाहिये कि शास्त्र पढ़ने से कई बार गड़बड़ हो जाती है, क्योंकि शास्त्र मूक होते हैं, व्याख्या नहीं कर पाते। कभी यह इंगित नहीं कर पाते कि इसका यह अर्थ निकालो। मत्स्य को देखते हुए भी मत्स्य का कथन नहीं करते भगवान्। यों कहना चाहिये कि जिस समय भगवान् को केवलज्ञान होता है, उनकी वाणी खिरती है। जो भी है वह वचनयोग है। जिनशासन जो चलता है, वह गणधर परमेष्ठी के योग की बात है। भगवान् को जैसे केवलज्ञान हुआ वैसे ही उनके पास वचनयोग है। यह वचनयोग ठीक वैसा ही है, जैसे मैनलाइन में विद्युत् तरंगों; लेकिन स्विच के बिना इन तरंगों का क्या-कुछ हो सकता है? स्विच गणधर परमेष्ठी हैं। वे न आयें तो बैठे रहें। भगवान् के पास केवलज्ञान से लेकर तीव्र शुक्लध्यान पर्यन्त अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहती है, तब तक वचनयोग तो होता ही है। इसे उन्होंने रोका नहीं। उसका निग्रह नहीं किया। श्रुत अर्थात् समुद्र; जिस प्रकार केवलज्ञान समुद्र है, उसी तरह श्रुत भी समुद्र है, अन्तहीन है। हाँ, उसके माध्यम से जो ग्रहण किया जाता है, वह सान्त-सीमित है। लट्टू जलता है, १० वाट का, १०० वाट का, जीरो वाट का, किन्तु विद्युत् तो पूरे वेग से प्रकट है। दूसरे हम तो लट्टू पर ही लट्टू हो रहे हैं, हमारा ध्यान मैनलाइन पर कहाँ है? (हँसी)।

ने.—कहें, लट्टू की तरह घूम रहे हैं (हँसी)।

आ.—असली बात यही है। गाड़ी यहीं अटक गयी है।

बि.—यही तो बात है। क्या-क्या कहा जा सकता है, क्या-क्या कहा जा चुका है, विपुल है—किन्तु इसके कथन के लिए तो केवलज्ञानी चाहिये। स्वयं गणधर परमेष्ठी भी उसे हज़म नहीं कर सकते। बहुत अद्वितीय-अनुपम है वह। वह पर के लिए है। वचनयोग का लक्ष्य अभय है। भगवान् की दिव्यध्वनि विश्व को अभय देने वाली है। एक को भी भयभीत करने वाली वह नहीं है। विश्व को वे अभय किस तरह दे रहे हैं? तत्त्वनिर्देश द्वारा। जबसे उन्हें केवलज्ञान हुआ है, तबसे तृतीय शुक्लध्यान तक वे धाराप्रवाह कह रहे हैं—चतुर्दिक्। जैसे बिजली चारों ओर से आती है, वाणी भी आयी हुई है। गणधर परमेष्ठी चार बार स्विच दबाते हैं। गणधर छद्मस्थ है। उन्हें आहार चाहिये; वे नगर जाते हैं, उनके कुछ कर्तव्य हैं, तब बिजली बन्द हो जाती है। लगभग पन्द्रह साल हुए, मैं पोस्टऑफिस गया था लिफाफा लेने। उस समय तारबाबू तार भेज रहे थे। तार भेजने में मोर्सकोड का उपयोग होता है। उधर से मोर्स-संकेतों में शब्द आ रहे थे, इधर तारबाबू उन्हें रोमन में रूपान्तरित कर रहे थे। मोर्सकोड क्या है? यह कौन-सी भाषा है? तारबाबू से पूछा कि यह भाषा कौन-सी है। वे बोले—यह ध्वनि-प्रतीकों की एक विशिष्ट भाषा है। एक तरह का शॉर्टहैण्ड है। इन विशिष्ट ध्वनि-संकेतों के माध्यम

से हम शब्द पकड़ लेते हैं। इन संकेतों में कहीं-कौन-सा वर्ण छिपा है, इसे तार ग्रहण करने वाला और दूसरे सिरे पर तार भेजने वाला बाबू जानता है। भगवान् की दिव्यध्वनि भी मोसकोड-जैसी ही है, वहाँ शब्द नहीं संकेत हैं। इन संकेतों को अक्षर-रूप देने में गणधर परमेष्ठी माध्यम बनते हैं। वे बीच के सेतु हैं। हम उन ध्वनि-संकेतों के जानने वाले नहीं हैं, अन्य जीव भी उन्हें नहीं जानते। दिव्यध्वनि आरंभ हुई। कब वह आरंभ हुई, नहीं मालूम। इस सबको जानने के लिए तो गणधर परमेष्ठी चाहिये। ज्यों-ज्यों विद्युत्-धारा समायोजित होती गयी, संकेत खुलते गये। प्रवाह तो चल ही रहा था, वचनयोग के माध्यम से जो प्रकट होना था, वह हो रहा था। संपूर्ण घटना से गणधर परमेष्ठी के संयुक्त होते ही दिव्यध्वनि खिर गयी। सब उल्लास में कहने लगे—“ध्वनि खिर गयी, ध्वनि खिर गयी।” तदनन्तर उसे भाषा में ढाला-सँवारा गया।

ने.—दिव्यध्वनि को हम चरित्र-ध्वनि भी कह सकते हैं।

वि.—हाँ, कोई भी नाम हम उसे दे सकते हैं। यह स्वभाव है उनका। एक तरह से यों कहना चाहिये कि भगवान् ने जो अथक साधना की, अब वे उसे बाँट रहे हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि यदि एक और पुण्यवान् वहाँ चला जाता तो उसके माध्यम से कुछ और वाणी खिरती। इसका तात्पर्य यही हुआ कि वाणी तो वहाँ पहले से खिर ही रही है, कोई और पुण्यवान् होता तो वह उसे झेलता और रूपान्तरित करता, अन्यो के लिए ग्राह्य बनाता।

आ.—अर्थात् वह पुण्य के कारण खिरती है, पुण्य के निमित्त ऐसा होता है।

वि.—ऐसा प्रस्फुटन जो हमारी इन्द्रियों को ग्राह्य-सह्य होता है, वह उस व्यक्ति के पुण्य-निमित्त से मिल जाता है।

ने.—ग्राहकता की इसमें काफी प्रशस्त भूमिका है।

वि.—हाँ।

ने.—ग्राहकता का बड़ा योग है। वस्तु हो तो उसे रिसीव्ह (ग्रहण) करने वाला कोई संवेदनशील अस्तित्व तो चाहिये। विद्युत्-कम्पन हों और रेडियो सेट न हो तो सब कुछ व्यर्थ होगा। ऐसी ही स्थिति दिव्यध्वनि की समझनी चाहिये।

वि.—वाणी की आवश्यकता भी है।

ने.—किन्तु ग्रहण तो उसे होना चाहिये। कुछ आकाश में व्याप्त हो, और यदि उस व्याप्त को झेलनेवाला कोई न हो तो सब कुछ निरर्थक जाएगा।

आ.—यहाँ पुण्यवान् से तात्पर्य मात्र लौकिक है; पुण्यवान् एक लौकिक अभिधान है।

वि.—नहीं, उसमें कुछ विशिष्ट गुण हैं, क्वालिटीयाँ हैं। झेलने के लिए जरूरी संवेदनशीलता उसमें है।

ने.—हाँ, वही उच्चकोटि की ग्राहकता।

जे.—प्रासिग पाँवर (धारणा-शक्ति)।

वि.—यह धारणा-बल (ग्रास्पिंग पाँवर) गणधर परमेष्ठी को उपलब्ध है। उस ध्वनि को झेलने/पचाने की क्षमता हरेक में नहीं हो सकती। बाद में वह बँट जाती है। गणधर परमेष्ठी मैनलाइन में जुड़कर उसे छोटी-छोटी नहरों में काट देते हैं।

वि.—हाँ, एक तरह का रूपान्तरण होता जाता है। गणधर परमेष्ठी में वह सुस्थित होता जाता है, और बाद को छोटी-छोटी धाराओं में बँटता जाता है। इतना क्षमतावान गणधर परमेष्ठी के अलावा अन्य कोई नहीं होता। जब बाढ़ आती है तब वे उसे निकाल देते जाते हैं। इस तरह दिव्यध्वनि ट्रांसफॉर्म होती जाती है।

ने.—यदि उसे उसके मूल रूप में आने दें तो जीव उसे सहन नहीं कर पायेगा।

वि.—फ्यूज उड़ जाएगा। बात खत्म हो जाएगी। कुछ घटित ही नहीं होगा (हँसी)। आप लोगों के घरों में ऐसा साधारणतः होता ही होगा; इसीलिए डायरेक्ट लाइन नहीं दी जाती अन्यथा समूचा लाइट-फाइटिंग ही निष्फल हो जाए।

जी.—इसके लिए अदिग की व्यवस्था भी होती है।

वि.—बिलकुल।

ने.—जिससे खतरा कम हो जाता है।

वि.—बिलकुल। अतः भगवान् की वाणी को झेलने के और उसके व्यवस्थित सम्प्रेषण के लिए गणधर परमेष्ठी की आवश्यकता होती है।

आ.—दिव्यध्वनि सब पशु-पक्षी भी समझ सकते थे, यह कैसे होता था? तिर्यच भी उसे समझ लेते थे।

वि.—जैसे संगीत होता है। वह जब चालू हो जाता है, तब आबालवृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी, सारे-के-सारे पशु-पक्षी उसे मन्त्रमुग्ध सुनते हैं। क्या वह उनकी समझ में आता है! भाषा समझ में आये-न-आये, लेकिन आनन्द तो उन्हें आ ही जाता है। इसी तरह भगवान् की दिव्यध्वनि के माध्यम से आनन्द तो आ ही जाता है।

आ.—समझते होंगे तभी तो आनन्द आता होगा।

वि.—यह आनन्द ही सारे प्रश्नों का अन्तिम समाधान है; इसीलिए वहाँ सारे प्रश्न, कुतूहल और जिज्ञासाएँ शान्त होती हैं।

ने.—हमारे यहाँ मूर्तियाँ हैं। उनकी बीतरागता स्वयमेव भाषा है। आप उन्हें देखते हैं और आनन्द में डूब जाते हैं। यहाँ भाषा जरूरी कहाँ है? यह भाषातीत स्थिति है। दिव्यध्वनि की भी स्थिति यही है।

वि.—इसीलिए हमारे आचार्यों ने शास्त्र की अपेक्षा जिनबिम्ब-दर्शन और गुरु-समागम पर अधिक बल दिया है।

ने.—भाषातीत होने में जो आनन्द है, वह भाषा के बन्धन में नहीं है! ध्यान में जो अवस्था होती है, मैं मानता हूँ ऐसी ही कुछ अवस्था दिव्यध्वनि के समय होती होगी मनःप्राण की।

वि.—दूसरी बात यह है कि शास्त्र है किन्तु ध्वनि वहाँ नहीं है, लिपि दृश्य है, ध्वन्य नहीं है।

ने.—हाँ, ध्वनि पर रखी हुई सूई है वह। जैसे रिकॉर्ड पर सूई रखते ही ध्वनन होने लगता है, वैसे ही लिपि-संकेतों पर दृष्टि पड़ते ही वे सार्थक हो उठते हैं।

वि.—टेपरिकॉर्ड में तो फिर भी ध्वनि है, किन्तु ग्रन्थ में तो वह भी अनुपस्थित है। यह कुछ भी नहीं है, एक सुभीता सिर्फ है।

आ.—कुछ भी न होकर सब कुछ है।

वि.—इसमें से निचोड़नेवाला बहुत आगे का व्यक्ति चाहिये।

ने.—पुस्तकों से भ्रम फैलने की आशंका रहती है। वहाँ समझाने, या टीका-व्याख्या करने वाला कोई नहीं होता; इसलिए कई बार भ्रम भी फैलने लगते हैं। वस्तुतः ग्रन्थ के लिए सद्गुरु चाहिये। यदि आपके पास कोई ग्रन्थ है, तो वह अनुपयोगी है, तब तक जब तक कोई सुलझा हुआ, परिपक्व व्याख्याकार, या विशेषज्ञ आपको उपलब्ध नहीं है।

वि.—इसीलिए 'गुरु' की व्युत्पत्ति कुछ विशिष्ट है। 'गु' अर्थात् 'अन्धकार', 'रु' यानी 'नाश करने वाला'; इस तरह जो अन्धकार को नष्ट करता है, वह गुरु है।

ने.—गुरु तो आजकल अन्धकार पैदा कर देता है। उलझन खड़ी कर देता है।

वि.—आप गुरु यहाँ किसे मान रहे हैं? हरेक को गुरु मत मानिये। ठीक ही तो है जो अन्धकार नहीं मिटा सकता वह कु-गुरु है।

□

ने.—आचार्यश्री, एक जिज्ञासा मन में है। मैं इस उलझन का कोई समीचीन समाधान नहीं ढूँढ़ पाया हूँ कि आपकी आध्यात्मिक साधना और काव्य दोनों परस्पर इतने घनिष्ठ मित्र क्यों कर हैं? काव्य तो लालित्य से जुड़ा है, और आपका सीधा सरोकार अध्यात्म से है, फिर यह 'श्रमणशतकम्' 'निरंजनशतकम्' 'जैनगीता' आदि आप कैसे लिख पाते हैं? इससे आपकी आध्यात्मिक साधना में व्यवधान तो नहीं पड़ता है?

आ.—किन्तु क्या आप नहीं मानते कि इस समय यहाँ का वातावरण भी काव्यमय है?

ने.—पर उत्तर तो आशाजी मुझे आपसे नहीं चाहिये।

वि.—काव्य-रचना के लिए जब बाहर आता हूँ, तब मुझे विश्राम मिल जाता है (हँसी)।

ने.—अर्थात् काव्य आपके लिए विश्राम है।

वि.—मनोरंजन भी तो होना चाहिये (हँसी)।

ने.—किन्तु हमें तो इसमें से भी काफी गहन-सघन सत्य मिल जाता है। आपका मनोरंजन भी विलक्षण है, हमें तो इसमें भी भीतर से प्राप्त होने वाली वस्तु मिल जाती है।

आ.—वस्तुतः जो आपके लिए 'मनोरंजन' होता है, वह हम सबके लिए 'निरंजन' होता है।

वि.—आचार्य कुन्दकुन्द ने चौरासी पाहुड़ों की रचना की थी। यों उनका साहित्य तो विपुल है, सिद्धान्त भी गहन है, किन्तु जिस शैली का अनुधावन उन्होंने किया है वह बड़ी अनूठी और विलक्षण है। उनकी हर गाथा परमसत्ता का एक चरम-अचूक संकेत है; यथा—

जो परसदि अप्पणं अब्बदुप्पुठं अण्णमविसेसं ।

अपदेसत्तुत्तमज्झं परसदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

इसमें ध्वनि वही से आ रही है। डंगन भी उसी ओर है। उनके साहित्य की यह एक विशेषता है कि प्रत्येक गाथा, प्रत्येक शब्द उधर ही पग उठाये है। उक्त गाथा कितनी गहरी है? क्रम भी अद्भुत है, क्योंकि यहाँ कहा है कि जो पुरुष आत्मा को अब्बदुप्पुठ, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त देखता है, वह समस्त जिन-शासन को देखता है, जानता है। उक्त गाथा में प्रथम और द्वितीय पाद मुख्य हैं, तृतीय और चतुर्थ गौण। ये दृष्टान्तरूप में संयोजित हैं। वस्तुतः दृष्टान्त में ही मुख्य बात कही जानी चाहिये, किन्तु वह आरंभ में ही कह दी है। सूत्र की ओर उनकी दृष्टि गयी है, लेकिन कह दिया है कि यह तो वह आत्मदृष्टा यूँ ही (चुटकी बजाते) जान लेगा। हम यहाँ सहज ही जिज्ञासा कर सकते हैं कि कुन्दकुन्द ने जिन-शासन वाली बात पहले क्यों नहीं कही? इसकी पीठ पर भी एक गाथा है, उसमें भी इसका उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत गाथा के भी दो पादों में इसका उल्लेख नहीं है; और अन्तिम पाद में कह दिया गया है कि वह 'जिन-शासन' को यूँ ही (पलक मारते) जान लेगा। जिम व्यक्ति ने अपनी आत्मा को जान लिया है, उसका अनुभव कर लिया है, उसे देख लिया है—उसके लिए जैन शासन यूँ ही सहज ही जाना हुआ है। इस तरह आत्मदर्शन को प्रथम और जिन-शासन को अन्तिम स्थान देना भी उनकी शैलीगत विलक्षणता है। जो तथ्य मुख्य था, उसे अन्तिम पाद में दिया है; और जो गौण था, उसे प्रथम-द्वितीय पाद में अभिस्थापित किया है। वास्तव में आचार्य ने जिन-शासन को इसलिए प्रथम स्थान नहीं दिया कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब जेय है अथवा हेय हैं—उपादेय तो मात्र आत्मा है। यह गजब है। यहीं आचार्य कुन्दकुन्द की शैली चमत्कृत करती है।

आचार्य कुन्दकुन्द की एक गाथा हम और लेते हैं (आचार्यश्री ने बड़े भाव-विभोर हो कर गाना शुरु किया) —

उप्यग्गोदयभोगी वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।

कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

इसमें भी कहीं त्याग का कथन नहीं है, तथापि कह रही रहे हैं। ज्ञानी वही है, जो छोड़ता है! 'छोड़ो' यह नहीं कहा है, किन्तु कहा जा रहा है कि 'जो छोड़ रहा है, वह ज्ञानी है'। अर्थात् ज्ञानी जीव के वर्तमानकालीन उदय का भोग सतत् वियोगबुद्धि से उपलक्षित रहता है अर्थात् वह वर्तमान भोग को नश्वर समझ कर उसमें परिग्रह बुद्धि नहीं रखता और अनागत—भविष्यकालीन—भोग की वह आकांक्षा नहीं करता। यहाँ उसे जो भोगोपभोग प्राप्त हैं, उनके प्रति वह हेय-बुद्धि से देख रहा है, और उसमें भावी की आकांक्षा अनुपस्थित है तथा भूत की कोई स्मृति नहीं है। वह ज्ञानी है, निकंख। यह है त्याग की परिभाषा उसकी चरम

सीमा पर। 'छोड़ो' यह नहीं कह रहे हैं, किन्तु कह रहे हैं कि ज्ञानी वही है जो छोड़ना तो दूर आकांक्षा भी नहीं करता है। किसी वस्तु का ग्रहण तो यहाँ दूर की बात है, ज्ञानी 'बहुत अच्छी है' यह भी नहीं कहता है; और जो व्यक्ति किसी वस्तु को लेता है तो वह बिना आकांक्षा के तो उसे लेता नहीं है; लेकिन ज्ञानी तो यह जो पड़ा हुआ है उसे देखकर भी यह नहीं कहता कि 'यह अच्छा है'। 'आकांक्षा' ही उसमें अनुपस्थित है। अनुवाद है (गाकर)---

न भूत की स्मृति, न अनागत की अपेक्षा ।
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा ॥
ज्ञानी जिन्हें विषय विष दीखते हैं ।
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥

यह है ज्ञानी की परिभाषा। ज्ञानी से वैराग्य की सीख मिलनी ही चाहिये; राग का पाठ यदि उसमें मिलता है, तो वह ज्ञानी कहाँ हुआ, अज्ञानी ही है। जिनसे राग-पाठ मिलता है वे ज्ञानी थोड़े ही कहलायेंगे।

ने.—यह है काव्य ।

□

ने.—आचार्यश्री, यदि हम बच्चों तक जैनधर्म को पहुँचाना चाहें तो उसका व्यवहार-रूप या मँदानी रूप क्या होगा? अपने आचरण में से उन्हें हम जैनधर्म दें, यह तो ठीक है कि हम देव-दर्शन करें, गमोकार भन्नादि पढ़ें-पढायें, किन्तु बुनियाद में यह कोई तर्कसंगत 'अप्रोच' नहीं है। आप तो स्वयं शिशु की पुनीत-पावन भूमिका में आठों घाम रहते हैं और आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की गाथा-क्रमांक ५ में दिगम्बर मुनि को सद्य-जात शिशु कहा है; और चूँकि आज का शिशु, या बालक कल का युवा होगा अतः मेरे उक्त प्रश्न की सार्थकता मुझे स्पष्ट दिखायी देती है।

आ.—शायद कहा जा रहा है कि शिशु को आपकी भूमिका में कैसे लायें?

ने.—आशाजी, मेरा प्रश्न शब्दशः वैसा नहीं है।

वि.—शिशु को भेज दो हमारे पास; शिशु तो भेज नहीं रहे हैं, प्रश्न कर रहे हैं (हँसी)। शिशु को भेजेंगे तो उसे बता देंगे, उसे नहीं भेजेंगे तो बात कैसे बनेगी?

आ. ने.—सूचना तो उसे देनी होगी; हाँ, सिखाने का काम सीधे होने दीजिये।

वि.—वह ठीक है। शिशु को कुछ भी सिखाने में प्रारंभ में ही हमें काफी क्षमता और सावधानी बरतनी चाहिये। आप उससे कुछ भी न कहें। शिशु-पीढ़ी सहज जैसे चलती है, चलने दें। उसमें व्यर्थ के तनाव उत्पन्न न करें। सहज ही उसे जीवन में पाँव रखने दें और उसकी स्वाभाविक गति-मति को नोट करते जाएँ, फिर उसी जाने हुए वातावरण में उसे पालते जाएँ। देखिये न, जब आपका शिशु

आयेगा तो सीधे पिच्छी उठा लेगा। आप कहेंगे—उसे मत उठाओ, उसे मत छुओ (हँसी)। यह स्वाभाविकता का अवरोध है। वह सोचने लगेगा, अजीब बात है कि मेरे माता-पिता भी इतनी सुन्दर वस्तु को नहीं छू रहे हैं, और मुझे भी नहीं छूने दे रहे हैं (हँसी)। सहज निष्कर्ष है कि जो जिस वस्तु को उठाता है, वह उसे अच्छी लगने के कारण ही उठाता है; संभव है उसके ऐसा करने में उसका जीवन बनता हो (हँसी)।

जि.—शियु तो पिच्छी कुतूहलवश उठाता है, उममें विवेक कहाँ होता है?

वि.—हमारे आचार्यों ने कहा है कि जो व्यक्ति कुतूहलवश भी आत्मानुभूति की चर्चा सुनता है, या उममें प्रवृत्त होता है, तो उसमें भी काफी आध्यात्मिक संभावनाएँ हैं। अमृतचन्द्राचार्य का एक कलशा है—

† खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन में।

मर जा पर कर निजानुभव कर घड़ी-घड़ी मत रट तन में॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कोई कौतुक से भी किसी काम को कर ले तो उसके उसमें प्रवृत्त होने की नाना संभावनाएँ सन्निहित हैं; अन्दर तो रज्जान उममें है, किन्तु कोई शक्तिशाली निमित्त उपलब्ध नहीं है।

आ.—एक प्रश्न मेरी पुत्री ने मुझसे बड़ा विचित्र किया है। उसे अन्यथा लें। इस प्रश्न ने मुझे उलझन में डाल दिया है। मोक्षशास्त्र में नरक का वर्णन चल रहा था। आभा ने सहज ही प्रश्न किया। नरक क्या है, उसे ऐसे समझाओ जैसे कोई आँखों देखा हाल हो। मैंने कहा—‘मैं ऐसा वर्णन तो नहीं कर सकती, हाँ, आचार्य विद्यासागरजी अवश्य उसके बारे में बता सकेंगे।’ इस पर उसने तपाक से कहा—‘क्या वे कभी नरक गये हैं? उन्हें नरक का अनुभव है?’ उस दिन उसने स्पष्टतः आगाह कर दिया कि ‘मैं किताब से धर्म नहीं पढ़ूंगी; या तो मुझे लेक्चर दो, या प्रत्यक्ष बताओ।’ अब आप ही बतायें उसे क्या उत्तर दूँ?

वि.—उत्तर क्या उसे यहीं ले आओ।

आ.—मौका नहीं मिला अन्यथा लाना तो था ही।

ने.—निश्चय ही वच्चों को पढ़ाना, और उन्हें किसी प्रश्न के बारे में स्वस्तिकर समाधान देना, बड़े साहस और कौशल का काम है। हमें भी बालक की भूमिका में ही पृच्छा करना चाहिये, उतनी ही पवित्रता, स्वाभाविकता, और वीतरागता के साथ। प्रश्न भी स्वाध्याय ही है।

वि.—वहाँ उसे समझाना चाहिये—नरक अर्थात् एक दुःख। यहाँ हम मनुष्यों के दुःखों को तो देखते ही हैं, कहना चाहिये कि नरक के दुःख इनसे अधिक भयानक

† अयि, कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्, अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम् ।

पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोचय येन, त्यजति जगिति मृत्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

होते हैं। हो सकता है हमारी इस शैली से उन्हें नरक की कोई परिकल्पना हो सके। इसके बाद भी यदि वे चाहें तो स्वयं अनुभव कर लें। जैसे अग्नि को बेटा एक बार तो हाथ लगायेगा ही। इसके बाद जब उसे आग की प्रतीति हो जाएगी तो जैसे-जैसे आप उसके पास लालटेन लाते जाएँगे वैसे-वैसे वह सीधे हटता जाएगा, पीछे सरकता जाएगा। उसके हाथ-पाँव धूजने लगेंगे। लेकिन दुःख के कारणों से आप स्वयं बचते नहीं हैं, और कहते हैं वह दूर हो जाए; इस विरोधाभास का प्रभाव बालक के मन पर बुरा पड़ता है। जब एक बार किसी को अनुभव हो जाता है तब वह उसे जीवन-भर नहीं भूलता है। इसी तरह बेटा भी कभी नहीं भूलेगा। एक बार अनुभव हो जाने के बाद फिर इस आग को चाहे जितना सुहावना बतायें बेटा उसे छुएगा नहीं। ऐसा क्यों है? असल में वह अनुभव कर चुका है स्वयं कि आग जलाती है, वह दुःख का कारण है। एक और अन्तर्विरोध है। हम उसे दुःख के बारे में समझाते जाते हैं, और हंसते भी जाते थे, इसलिए वास्तविकता क्या है इसका बोध उसे नहीं हो पाता। जैसे कोई हंसते हुए आकर कहे कि महाराज, हम बहुत दुःखी हैं। हमें उपदेश दीजिये। कहाँ है आप दुःखी? आप तो हंस रहे हैं। दुःख का जिक्र करने में दुःख की अनुभूति भी तो होनी चाहिये। उसे भी शब्दों-शब्दों तक सीमित रखा गया है। दुःख जब बताते हैं तब हमारी आँखों से आंसुओं की धार भी प्रवाहित हो उठे तो बच्चों को मालूम पड़े कि वस्तुतः दुःख क्या होता है।

आ.—किन्तु हमें भी तो याद रहे कि वर्णन कहाँ का चल रहा है, और हम क्या कह रहे हैं? वास्तव में आज सब कुछ औपचारिक ही रह गया है।

वि.—इसीलिए जब उत्तर नकली होता है, तो प्रश्न भी नकली होते हैं। आचार्य वीरसेन ने ध्वला में लिखा है—‘रत्नत्रय की भूमिका में उतरने का अधिकार सबको नहीं है।’ बहुत गहरी बात यहाँ उन्होंने कह दी है। जहाँ चरित्र का अभाव है, वहाँ रत्नत्रय का उपदेश कैसे सार्थक हो सकता है? रत्नत्रय को शब्दों में बताना व्यर्थ है, वस्तुतः उसे जिया जाना चाहिये।

आ.—एक प्रश्न और है आचार्यश्री। जैनों की एक लोकप्रिय प्रार्थना है—‘प्रभु पतित पावन में अपावन, चरण आयौ शरणजी’। आभा ने मुझ से कहा कि मैं इसे नहीं बोलूगी। मैं स्वयं को अपावन नहीं मानती। मैंने कोई अपावन कार्य नहीं किया है। जब यह अंश मुझ पर घटित ही नहीं है तब मैं इसे आखिर कइँ ही क्यों? तब तो मैं चुप रही, किन्तु अब बतायें मैं उसे क्या उत्तर दूँ?

वि.—कहो प्रभु को पतित कर लो (हँसी) अर्थात् कहो—‘प्रभु पतित, पावन मैं...’।

आ.—बच्चों में इतना साहस कहाँ होता है?

ने.—साहस, आशाजी, वही तो बच्चों में अधिक होता है। बच्चों का, ध्यान रखिये, दूसरा नाम साहस और जिज्ञासा ही है।

□ □



बालक विद्याधर

ऐसा नहीं लगता कि इस बालक में कहीं-कोई आचार्य पद्मासनी मुद्रा में बैठा है। गोल चेहरा। झबुर केश। तंग निकर। अंग्रेजी काट की कमीज। कन्धों के आर-पार टंगा बस्ता। पाँव में जूते, किन्तु हर कदम में दृढ़ता और गंभीरता।

जीवन-झांकी

जन्म-तिथि : मगसिर शुक्ल १५,
वि. सं. २००३

बालक विद्याधर से →

- जन्म-स्थान : सदलगा, जिला-बेलगांव
(कर्नाटक)
- पितृनाम : श्री मल्लप्पाजी
(मुनि मल्लिसागरजी)
- मातृनाम : श्री श्रीमतिजी
(आयिका समयमतिजी)
- भाई : अन्य तीन भाई
(दो भाई क्षुल्लक दीक्षित)
- बहिन : दो बहिनें (दोनों आयिकाएँ)
- शैशव : विद्याधरजी
- जाति : चतुर्थ्य जैन
- गोत्र : अष्टगे
- शिक्षण : हाईस्कूल तक
मराठी माध्यम से
- मातृभाषा : कन्नड़
- प्रवचन : हिन्दी
- लेखन : हिन्दी, संस्कृत
- मुनि-दीक्षा : आषाढ सुदी ५ संवत् २०२५
(३० जून, १९६८)
- आचार्य-पद : मगसिर कृष्ण २, संवत् २०२९
(२२ नवम्बर, १९७२)

गुरु-परम्परा

१. चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य
श्री शान्तिसागरजी
२. आचार्य श्री वीरसागरजी
३. आचार्य श्री शिवसागरजी
४. आचार्य श्री ज्ञानसागरजी
५. आचार्य श्री विद्यासागरजी
उनके शिष्य
१. क्षुल्लक श्री नियमसागरजी
२. ऐलक श्री योगसागरजी
३. क्षु. श्री समयसागरजी
४. क्षु. श्री चन्द्रकीर्तिजी
(नैनागिरि में समाधिमरण)
५. क्षु. स्वरूपानन्दजी

← आचार्य विद्यासागर

६. ऐ. श्री दर्शनसागरजी
७. ध्रु. श्री चारित्रसागरजी

वर्षायोग

- १९६८ सोनीजी की नसिया, अजमेर
(राजस्थान)
१९६९ केशरगंज, अजमेर
१९७० रेनवाल, किशनगंज (राजस्थान)
१९७१ मदनगंज, किशनगंज
१९७२ नसीराबाद (उत्तरप्रदेश)
१९७३ ब्यावर (राजस्थान)
१९७४ सोनीजी की नसिया, अजमेर
१९७५ फीरोजाबाद (उत्तरप्रदेश)
१९७६ कुण्डलपुर, दमोह (मध्यप्रदेश)
१९७७ कुण्डलपुर, दमोह (मध्यप्रदेश)
१९७८ नैनागिरि, छतरपुर (मध्यप्रदेश)

विद्यासागर-साहित्य

पद्यानुवाद

- इष्टोपदेश
एकाकी स्तोत्र
कल्याणमन्दिर स्तोत्र
तीर्थशतकम्
निजानुभव शतकम्
निरंजन शतकम्
भावना शतकम्
मुक्तक शतकम्
जैनगीता (समणसुत्तं)
योगसार
श्रमणशतकम्
समाधितन्त्र

प्रवचन-संग्रह

- प्रवचनामृत भाग १, २, ३
स्फुट रचनाएँ

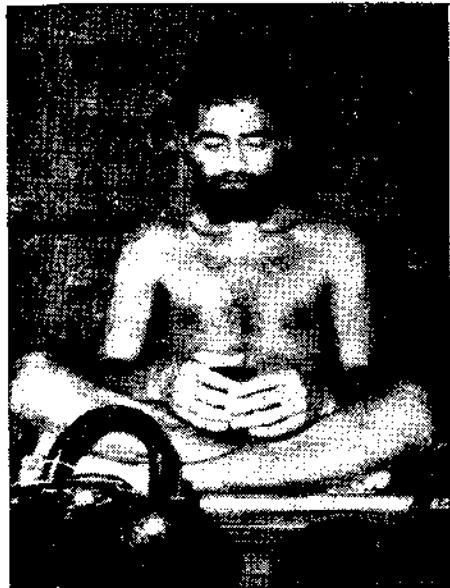
श्रद्धाञ्जलियाँ : स्व. आचार्य

तीर्थंकर : नव. दिस. ७८

श्री शान्तिसागरजी, स्व. आ. श्री वीर-
सागरजी, स्व. आ. श्री शिवसागरजी, स्व.
आ. श्री ज्ञानसागरजी; शारदा-स्तुति
(संस्कृत); माइ सेल्फ (अंग्रेजी में कविता)
विविध : समाचार-पत्रक (मासिक),
कलकत्ता का आचार्यश्री विद्या-
सागर-विशेषांक

प्रस्तुति : सि. सतीशचन्द्र जैन

... इधर आध्यात्मिक मस्ती में परितुप्त
खड़खड़ काया, ऐसी जैसे आग में विदग्ध
स्वर्ण। अमय की जीवन्त प्रतिमूर्ति। रोम-
रोम में आज भी जहाँ-तहाँ बालक विद्याधर,
वैसा ही भोलापन, वैसी ही निरीह-निष्काम
मुद्रा। सात सुरों के लय-पुरुष, संगीत में
गहरो रुचि, कवि, भाषाविद्, दुर्द्धर साधक,
तेजोमय तपस्वी। बोलने में मन्त्र-मुग्धता,
आचरण में स्पष्टता, कहीं-कोई प्रचार-
कामना नहीं; सर्वत्र सुख, शान्ति, स्वाध्याय।



आचार्य विद्यासागर



सदलगा (कर्नाटक) में बालक विद्याधर का जन्म-स्थान; द्वार पर खड़े हैं बड़े भाई श्री महावीर बाबू एवं पिताजी श्रीमल्लप्पाजी (अब मुनि श्रीमल्लिसागरजी)

आत्मा का क्या कुल ?

लोग कुलों का मद करते हैं कि हमारा कुल बहुत ऊँचा है, हम अमुक परिवार के हैं, जिसमें ऐसे-ऐसे ऊँचे आदमी पैदा हुए हैं, किन्तु ऐसा मद व्यर्थ है। कुल में उत्पन्न होने का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो इस बात का है कि कार्य ऊँचे किये जाएँ। कार्यों का महत्त्व है और सद्कार्यों से संवार-परिभ्रमण छूट सकता है; अन्यथा किसी कुल में भी जन्म हो जाए, उससे प्रयोजनभूत तत्त्व की उपलब्धि सम्भव नहीं।

वैसे आत्मा का क्या कुल है? आत्मा तो बिना कुल के भी रह सकती है, किन्तु कुल आत्मा के बिना रह नहीं सकता। आत्मा का तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, किन्तु कुल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव ही नहीं है; अतः कुल का मद त्याग आत्म-तत्त्व की उपलब्धि में लगे। वही सारे प्रयासों का सार है।

—आचार्य विद्यासागर

एक तीर्थयात्रा, जिसे भूल पाना असम्भव है

बालक विद्याधर को देख - मैं सोचता रहा - ऐसा नहीं लगता कि इस बालक में कहीं-कोई आचार्य अलखी-पलखी में बंटा है। गोल चेहरा। भ्रूबर केश। तंग निकर। अंग्रेजी काट की कमीज। कन्धों के आरपार डला बस्ता। पाँव में जूते, किन्तु हर कदम में दृढ़ता और गंभीरता। ...और इधर आध्यात्मिक मस्ती में छकाछक खड़खड़ काया, ऐसी जैसे आग में विदग्ध स्वर्ण। असय की जीवन्त प्रतिमा। रोम-रोम में आज भी जहाँ-तहाँ विद्याधर, वंसा ही भोलापन, वंसी ही निरीह, निष्काम मुद्रा। सात सुरों के लय-पुरुष, संगीत में गहरी रचि, कवि, भाषाविद्, दुर्द्धर साधक, तेजोमय तपस्वी। बोलने में मंत्रमुग्धता, आचरण में स्पष्टता, कहीं-कोई प्रचार-कामना नहीं; सर्वत्र सुख, शान्ति स्वाध्याय।

□ नेमीचन्द जैन

३० अक्टूबर १९७८। सोमवार। बड़ी फजर। रोजमर्रा की चर्या से फ़ारिष हुआ ही था कि भाई दिनेश ने कहा-‘जो जीप रात तय की थी, वह नहीं जाएगी। बस से चलना होगा।’ मैंने कहा-‘इसमें वक्त बहुत जाया होगा, जीप तो किसी तरह करनी ही होगी।’ मेरी बात मान ली गयी और भाई संतोषकुमार ने जीप का इंतज़ाम कर दिया। कुछ अड़चनें आयीं, किन्तु काँटों की नोकें खुद-ब-खुद टूटती गयीं और हम लोग सागर से कोई ४८ किलोमीटर दूर श्री नैनागिरि तीर्थ के लिए रवाना हुए। हम कुल दस थे। सबेरे यही कोई ८ बजे चले और ९॥ बजे पहुँचे। यों तो समूची विन्ध्यश्रेणी ही प्रणम्य है, किन्तु कुण्डलाकार कुण्डल-गिरि, स्वर्णाभ सोनागिरि, और भीतर की आँख उधाड़नेवाला नैनागिरि विशेषतः प्रणम्य हैं। इनकी नैसर्गिक शोभाश्री अद्भुत है। बुन्देलखण्ड (विन्ध्यखण्ड) शौर्य, पराक्रम, पुण्य, पुरुषार्थ की भाग्यशालिनी धरती तो है ही, अध्यात्म-शूरता में भी वह किसी से कम नहीं है। नैनागिरि सिद्धक्षेत्र है, इसे रेशिदी या रेशिदेगिरि भी कहते हैं। यहाँ भगवान् पार्श्वनाथ का समवसरण आया था और वरदत्तादि पाँच मुनिश्रेष्ठ मोक्ष पधारें थे। सारा गिरि-अंचल प्राकृतिक छटा से शोभित है, मनो-हारी है। यहाँ २५ जिनालय हैं-सभी सादा, सुखद, संप्रेरक। मूलतीर्थ से लगभग १॥ किलोमीटर के फासले पर बन्ध प्रदेश में गहरे एक सिद्धशिला है, जो आपो-आप बनी है-स्वाभाविक है, अकृत्रिम है, सुन्दर है, आकर्षक है। एक ही चट्टान कटकर आसन और छत्र दोनों बन गयी है। ढलान की चट्टान स्याह है; आज्ञादी से पहले और उसके कुछ दिनों बाद तक उपलब्ध खादी-सी खुरदरी। इस पर उभरी अधिक स्याह रेखाएँ भूमिति के रेखाचित्रों की तरह बड़ी अद्भुत लगती हैं, लगता है जैसे घूप में कोई अमावस्या आ बिछी हो। चरणप्रदेश में नदी है, परि-पाश्व में हरेभरे वृक्ष हैं। पक्षी चहकते हैं, झींगूर झाँझ बजाते हैं, बन्दर किकियाते

हैं, हवाएँ मंद-मंद बहती हैं, और एक आध्यात्मिक गूँज नामालूम कहीं से आकर वातावरण को झनझनाये रहती है।

जब हम नैनागिरि पहुँचे तब सूरज ठीक सर पर आने को था। उसकी यात्रा अविराम थी। नैनागिरि के सरोवर में एक मंदिर है, जिसे 'जलमंदिर' कहा जाता है। इसी से सटी एक सड़क है, जो रेश्मिदीगिरि जाती है, जहाँ मूल नायक भगवान् पार्श्वनाथ की विशुद्ध लोककला की प्रतीक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। प्रतिमा अधिक पुरानी नहीं है, किन्तु सर्पाकृतियों में वहाँ की आंचलिकता प्रतिबिम्बित है। आचार्यश्री विद्यासागरजी यहीं बिराजमान हैं, इसलिए (महज इसीलिए) यह एक दोहरा तीर्थ बन गया है। आचार्यश्री के दर्शन बीना (बारहा) में हुए थे और तब उन्हें देख कबीर की यह पंक्ति याद आयी थी—**देख वोजूद में अजब बिसराम है, होय भौजूद तो सही पावँ** (अपनी सत्ता में तो झाँक, वही परम-अद्वितीय विश्राम संभव है, किन्तु यह सब तेरी अप्रमत्त उपस्थिति पर ही संभव है, तभी तुझे सम्यक्त्व मिल सकता है)। वैसे ही जब उन्हें और निकट से देखा तो लगा—**साध संग्राम है रैनदिन देह परजन्त का काम भाई** (साधु का संग्राम दिन-रात स्वयं-में-स्वयं से जूझने में है, उसका यह काम देह जबतक है तबतक अविराम चलता है)। कबीर की इस पंक्ति पर विद्यासागरजी के संदर्भ में कोई भी हस्ताक्षर कर सकता है। यह तो हुआ बीना (बारहा) का अनुभव, जो गजरथ की धूमधाम के बीच मुझे हुआ था।

इधर जब हम लोग जीप में नैनागिरि की ओर तेजी से चले आ रहे थे, तब साथियों ने आचार्यश्री के संबन्ध में कई-कई घटनाएँ सुनायीं। एक ने कहा—'नैनागिरि का इलाका डाकुओं और खूंखार डकैतियों का इलाका है, किन्तु डाकुओं ने संकल्प किया है कि वर्षायोग में आचार्यश्री जबतक यहाँ हैं, यह क्षेत्र निरापद और आतंक-मुक्त रहेगा। आश्चर्यजनक यह है कि इन सबने यहाँ आचार्यश्री की वन्दना की है और उनके उपदेशामृत से कृतकृत्य हुए हैं।' एक ने कहा—'शिकार की दृष्टि से भी यह क्षेत्र बहुत रिच (समृद्ध) माना जाता है, किन्तु शिकारियों ने भी यह निश्चय किया है कि जबतक आचार्यश्री यहाँ हैं, एक भी प्राणी की हिंसा नहीं होगी। इस तरह यह बियावान निर्जन क्षेत्र बिलकुल निरापद और निष्कण्टक बना हुआ है।' एक ने सहज ही कहा—'अभी कुछ दिन हुए शरदपूर्णिमा को आचार्यश्री ने ३३ वें वर्ष में प्रवेश किया है। वे तरुण हैं, तरुणों में तरुण हैं। खुलकर हँसते हैं। उनकी निर्ग्रन्थ हँसी से मन की सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। वे हरफन हैं, खूब गाते हैं, और अभीत घूमते हैं। न वे किसी से डरते हैं, न कोई उनसे डरता है। वे निर्भय हैं, निष्काम हैं, निर्द्वन्द्व हैं। महामनोषी हैं।' एक ने बताया — 'वे मँसूर के सदलगा गाँव में जन्मे हैं। उनकी माँ का नाम श्रीमती और पिताजी का नाम मालप्पा है। अब दोनों दीक्षित हैं, और प्रखर साधनारत हैं। उनका सारा कुनबा मुनिधर्म अंगीकार करने की राह पर पाँव डाल चुका है। बचपन के विद्याधर आज विद्या के अतल-अथाह सागर हैं।'

बालक विद्याधर — मैं सोचता रहा — ऐसा नहीं लगता कि इस बालक में कहीं-कोई आचार्य अलखी-पलखी में बैठा है। गोल चेहरा। झब्बर केश। तंग निकर। अंग्रेजी काट की कमीज़। कन्धों के आरपार डला बस्ता। पाँव में जूते, किन्तु कदम में दृढ़ता और गांभीर्य (पृ. ५०) और इधर आध्यात्मिक मस्ती में छकाछक-खड़-खड़ काया, ऐसी जैसे आग में विदग्ध स्वर्ण। अभय की जीवन्त प्रतिमा। रोम-रोम में आज भी जहाँ-तहाँ विद्याधर, वैसा ही भोलापन, वैसा ही निरोह-निष्काम भाव। सात सुरों के लयपुरुष, संगीत में गहरी रुचि, कवि, भाषाविद्, दुर्द्धर साधक, तेजोमय तपस्वी। बोलने में मंत्रमुग्धता, आचरण में स्पष्टता, कहीं-कोई प्रचार-कामना नहीं; सर्वत्र शान्ति, सुख, स्वाध्याय (पृ. ५१)।

वस्तुतः एक महान् मनीषी और तेजस्वी तपोधन से मिलने का सुख ही कुछ और होता है; बिलकुल अपनी तरह का अनोखा, अकेला। सो, जब हम नैनागिरि पहुँचे और जिनालयों के दर्शनोपरान्त हमने वहाँ की स्थिति को देखा तब लगा कि आचार्यश्री के दर्शन नहीं होंगे और हमें खाली हाथ लौटना होगा। संभवतः व्यक्तियों ने बताया कि आचार्यश्री सिद्धशिला की ओर अभी-अभी गये हैं और लगभग साँझ तक प्रतिक्रमण में रहेंगे। सूरज उधर लौटगा और वे इधर। कल वर्षायोग विसर्जित होगा। यह सब उसी की भूमिका है। आज वे किसी से मिलेंगे नहीं। किन्तु हम लोग निराश नहीं हुए। भीतर-भीतर किसी दृढ़ निश्चय ने करवट ली और हम सब सिद्धशिला की ओर चल दिये।

कुछ ही दूरी तय की होगी कि सुना कोई स्वर पक्षियों के साथ आत्मविभोर है। आचार्यश्री सिद्धशिला पर एकाकी आसीन कोई गाथा गुनगुना रहे थे। अच्छा लगा यह देख कि वे पक्षियों की भाँति स्वच्छन्द, निर्मल, स्वाधीन, स्वाभाविक; नदी की तरह गतिमान, जल की तरह करुणाद्रं, चट्टान की भाँति अविचल हैं। सिद्धशिला पर पहुँच हम सबने उन्हें तीन ओर से घेर लिया। चर्चा आरम्भ हुई (पृष्ठ ३८-४७)। भेदविज्ञान से लेकर दिव्यध्वनि तक, तरुणों से लेकर शिशुओं तक। आनंद और अभूत बरस-बरस पड़े। धूप तेज थी, पर महसूस नहीं हुई; डगर कंटकाकीर्ण थी, किन्तु चुभन का अहसास नहीं हुआ।

आचार्यश्री चर्चा करते जाते और भीतर गहरे उतरते जाते। हैं वे तरुण; किन्तु शैशव उनका साथ कभी नहीं छोड़ता। शैशव उनकी अनिवार्यता है, वह उन्हें कभी वृद्ध नहीं होने देता, सदा हरा-भरा रखता है। हम यह सब सींच ही रहे थे कि श्रीमती आशा मलैया ने सहज ही पूछा कि “मेरी पुत्री पूछती है नरक क्या है और मैं उसे कोई सटीक उत्तर नहीं दे पा रही हूँ। जब उस तर्कमती से हार गयी तब मैंने उससे कहा—‘महाराज से पूछ लेना। इस पर उसने तपाक् से कहा—‘क्या महाराज नरक गये थे?’ अब आप ही बतायें उस आभा को आभा कहाँ से दूँ?” महाराज बच्चों के व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं। वे उनकी जिज्ञासाओं को

कभी स्थगित नहीं करते, उन्हें दुलारते हैं, और यथाशक्ति असीसते हैं। वे उनके प्रति हमदर्दी से ओतप्रोत हैं। वे प्रायः महसूसते हैं कि बच्चों का जगत् बिलकुल अलग है। वह बड़ों की दुनिया से जुदा है। बच्चे प्रायः भविष्य में होते हैं; अड़े, या वृद्ध अतीत में। वे हँसते-मुस्कारते, कूदते-फुदकते रहते हैं, और बड़े कूल्हते-कराहते, लड़ते-झगड़ते चलते हैं; एक अस्तित्व आशाओं की फुलवाड़ी होता है, दूसरा सुखों के वियोग में छटपटाता क़न्नस्तान। आचार्यश्री ने कहा—‘बात यह है कि नरक का वर्णन हँस कर तो हो नहीं सकता। वह एक तरह का दुःख है। यहाँ छोटे दुःख हैं, वहाँ बड़े; दुःख की अनुभूति हँसकर भला कैसे संभव है? उसे झेला हँसकर जा सकता है, किन्तु अनुभव तो उसमें से गुजरकर ही होगा, इसलिए सहानुभूति में से ही अनुभूति का कोई आकार मिल सकता है।’ मुमुक्षुओं को मुक्ति की परिकल्पना कोई महामुनि ही दे सकता है। श्रावक बहस कर सकता है, परिकल्पना नहीं दे सकता। कोई गुलाम स्वाधीनता की अनुभूति कैसे करा सकता है? उसके लिए आज्ञा भी एक क्रिस्म की गुलामी ही होगी। इसलिए महाराज जब मोक्ष-चर्चा करते हैं तब उनके मुखमण्डल पर उल्लास होता है, एक सजल मेघघटा छाया होती है—तब लगता है अध्यात्म में निमग्न कोई भेदविज्ञानी पृथक्करण की प्रयोग-शाला में प्रयोगरत है।

इसी दरम्यान दिव्यध्वनि की बात चली। दिव्यध्वनि क्या है? क्या वह अक्षरात्मक है? समवसरण में सब उसे कैसे समझते होंगे? बात में से बात अँकुराती गयी। आचार्यश्री ने कहा—‘दिव्यध्वनि तो विद्युत्प्रवाह है। वह बहता है अविरल; कोई सक्षम ग्राहक यंत्र होता है, तो उसे झेल लेता है अन्यथा प्रवाह तो वीतराग है, वह अपनी अक्षुण्णता में बहता रहता है। गणधर परमेष्ठी में उसे झेलने की क्षमता होती है। जैसे बल्ल पर निर्भर करता है कि वह कितने वाट का है? जीरो वाट का बल्ल जीरो जितनी रोशनी देगा, साठ का साठ जितनी, १०० का उसके अपने अनुपात में। गणधर परमेष्ठी के माध्यम से दिव्यध्वनि ट्रांसफॉर्म होकर यथायोग्य बनती जाती है। वह अक्षरात्मक नहीं होती। अक्षरात्मक भाषा की अपनी सीमाएँ होती हैं, किन्तु ज्ञान मात्र अक्षरात्मक नहीं होता, उसके और-और आकार भी हैं। गणधरादि की प्रतीक्षा इसलिए होती है, कि सारे लोग दिव्यध्वनि को झेल नहीं सकते। जैसे रेडियो सेट ही प्रसारित तरंगों को ग्रहण कर पाता है अन्य कोई यंत्र नहीं, ठीक वैसे ही दिव्यध्वनि के बारे में है।’ सभी संदर्भों में जुदा-जुदा योग्यताओं, विशिष्टताओं, दक्षताओं इत्यादि का प्रग्न उठेगा। इसी तरह चर्चा लंबाती गयी, और एक तथ्य में से दूसरा तथ्य परिपुष्ट होता गया।

कुछ ही देर बाद वारह बजने को हुए। सूरज सिर की सीध में आने लगा। आचार्यश्री ध्यानमुद्रा में घनीभूत होने लगे और हम लोग अपनी-अपनी प्रणामाञ्जलियाँ अर्पित करते हुए लौटने लगे। रास्ते-भर हम सब अपना-अपना भाग्य सराहते रहे। कहाँ सर्वथा निराश हुए थे, और कहाँ निर्धन का धन राम ही हमें मिल गया। इससे लगा कि प्रायः संपूर्ण

आयोजना पूर्वयोजित होती है, तत्काल हम कुछ संयोजित नहीं कर पाते। आसन्न हमारे हाथ में नहीं है, सुदूरवर्ती पर हमारा काबू है।

जीवनजी बड़े स्वाध्यायी व्यक्ति हैं, कम बोलते हैं, किन्तु यथासमय और अचूक बोलते हैं। श्रीमती आशा मलैया अधिक बोलती हैं, और अच्छा बोलती हैं; सार कहाँ होता है, इसे प्रायः ढूँढ़ना पड़ता है; उनका एक-एक शब्द भीतर कहीं खुला और गूढ़ होता है। वे प्रतिभाशाली हैं। उनसे समाज को अर्थात् मानव-समाज को काफी आशा-अपेक्षा रखनी चाहिये। इधर भाई संतोष पूरे संतोषी प्राणी हैं। कम उम्र में साधना और तप की ओर उनका ध्यान है। परिपक्वता ऐसी और इतनी है कि सत्तर वर्ष के बूढ़े में भी चिराग लेकर ढूँढ़ने पर शायद ही हासिल हो; किन्तु हर काम में विनम्र सहयोग, हर स्थिति में सहकार्य। मेरा अपना कुछ नहीं है। मैं उठरा अतिथि। जीप में धानी खायी। पेड़े खाये। आशाजी, जीवनजी और संतोषजी ने असहयोग किया; किन्तु भाई सुरेशजी ने साथ दिया। कुल मिलाकर यात्रा सुखद और उपलब्धिपूर्ण रही। हाँ, जहाँ एक ओर आचार्यश्री अपनी सिद्धशिला-मुद्रा में आँखों के सामने हैं, वहीं दूसरी ओर क्षेत्र की अस्वच्छता ने सर भन्ना दिया है। बुन्देलखण्ड के प्रायः सारे तीर्थ भव्य-मनोज्ञ हैं, किन्तु वहाँ सफाई पर व्यवस्थापकों का अक्सर ध्यान नहीं जा पाता। प्रतिमाएँ भव्य हैं, वीतरागता में जीवन्त हैं, किन्तु मंदिर के आँगन उतने साफ नहीं हैं। शौचालय हैं, किन्तु अशुचिताओं की कमी नहीं है, जलाभाव के कारण, अथवा व्यवस्थाओं के कसावरहित होने के कारण चारों ओर बदबू छायी रहती है। भाई श्री सतीशचन्द्रजी ने वर्षों यहाँ काम किया है, सारा क्षेत्र ही उनकी अविरत साधना का परिणाम है। उन्होंने यहाँ निर्जन रातों और सन्नाटे-भरे दिन बिताये हैं, और इसे सब्ज करने में कई दशाब्दियाँ लगायी हैं। समाज को श्री जैन के प्रति असीम कृतज्ञता का अनुभव करना चाहिये। आज भी वे इसके सर्वांगीण विकास में रुचि लेते हैं, और प्रयत्न करते रहते हैं कि यह तीर्थ भारत का एक प्रमुख तीर्थ बने। क्या हम उनसे यह आशा-अपेक्षा नहीं रख सकते कि वे धर्मशाला को एक साफ-सुथरा स्थान बनायेंगे, एक ऐसा सुखद स्थान जिसके चारों ओर उद्यान हो, और गांधीवादी ढंग के शौचालय हों, तथा एक सम्पन्न स्वाध्याय-कक्ष हो ?

माना कि आचार्यश्री निर्ग्रन्थ है, किन्तु यहाँ उनके वर्षायोग की स्मृति में कोई आश्रम या धर्मशाला बनायी जाए इसकी अपेक्षा तो यही अधिक श्रेयस्कर होगा कि सारे बुन्देलखण्ड का एक 'केन्द्रीय जैनविद्या शोध-ग्रन्थालय' यहाँ स्थापित किया जाए, जो आगे चल कर न केवल मध्यप्रदेश का वरन् सारे उत्तर भारत का एक विशिष्ट अनुसंधान-केन्द्र बने, जहाँ केवल दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ ही संगृहीत न हों वरन् देश-विदेश से पाण्डुलिपियों की माइक्रो-फिल्में प्राप्त की जाएँ और विशेषज्ञों तथा सामान्यों दोनों के लाभार्थ उसे समृद्ध किया जाए। यह योजना कोई छोटी-मोटी योजना न हो वरन् एक सु-विशाल योजना हो जिस पर कम-से-कम एक करोड़ रुपये खर्च किए जाएँ। इससे सिद्धशिला का महत्त्व बढ़ जाएगा और वह सिद्धशाला का रूप ग्रहण कर लेगी। इस काम को बुन्देलखण्डवासियों को तो करना ही है, किन्तु इसे सारे देश के जैनों को एक हृदय होकर भी करना चाहिये। □

सद्गुरु की पहचान

भक्त दादू नगर के बाहर रहते थे। भक्ति से भरे गीत गाते, और कोई आ जाता तो भक्ति का उपदेश देते। स्थान-स्थान पर उनकी प्रसिद्धि होने लगी; शहर में भी पहुँची। शहर के कोतवाल भक्ति में रुचि रखते थे। घोड़े पर बैठे और शहर से चल पड़े यह सोच कि दादू महाराज के दर्शन कर आयें, उनसे भक्ति का अमृत ले आयें; किन्तु भक्ति में रुचि रखते हुए भी थे तो वे कोतवाल ही। शहर से बाहर जंगल में पहुँचे। दूर तक चले गये। कहीं कोई दिखायी न दिया। तभी एक व्यक्ति पर नजर पड़ी। वह मार्ग में लगी काँटेदार झाड़ियों को काटकर सड़क साफ कर रहा था। कोतवाल ने रौब में पूछा—‘ए! तू जानता है कि महात्मा दादू कहाँ रहते हैं?’

वह व्यक्ति कार्य में मस्त था, पूरी तरह डूबा हुआ, बोला नहीं। कोतवाल क्रुद्ध हो गये। गाली देते हुए बोले—‘मैं तेरे बाप का नौकर नहीं हूँ शहर का कोतवाल हूँ। जल्दी बोल।’

उस व्यक्ति ने अब की बार सुना, आश्चर्य से कोतवाल की ओर देखा, धीरे-से मुस्करा दिया। कोतवाल ने समझा कि यह व्यक्ति ठट्ठा कर रहा है; अतः जिस चाबुक से घोड़े को चला रहे थे, उसी से उस व्यक्ति को उन्होंने पीट डाला। व्यक्ति चाबुक खाता रहा, मुस्कराता रहा। कोतवाल ने उसे जोर से धक्का दिया। वह पत्थर पर गिर पड़ा। उसके सिर से रक्त बहने लगा। कोतवाल जल्दी में थे। उसे वैसे ही छोड़ आगे चल दिये। कुछ फासले पर एक और व्यक्ति दूसरी ओर जाता हुआ मिला। उससे बोले—‘दादू महाराज कहाँ मिलेंगे? तू जानता है उन्हें?’

उस व्यक्ति ने कहा—‘दादू महाराज तो इसी मार्ग में थे। अभी कुछ देर पहले मैं उन्हें देखकर आया हूँ। वे मार्ग में उगी काँटेदार झाड़ियों को काट रहे थे। क्या आपने उन्हें नहीं देखा?’

कोतवाल ने आश्चर्य से कहा—‘वे दादू थे?’

पथिक ने कहा—‘हाँ।’

कोतवाल धोड़ा मोड़, दौड़ाते हुए वापस आये। देखा, दादू महाराज ने अपने सिर पर पट्टी बाँध ली है और वैसे ही झाड़ियाँ काट रहे हैं। कोतवाल शीघ्रता के साथ घोड़े से उतरे और दादू के चरणों में गिर पड़े। रोते हुए बोले—‘क्षमा करें महात्मन्! मैं तो आप ही को खोजता फिरता था। मेरी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया,

(शेष पृष्ठ ७८ पर)

तीर्थ यात्रा

जहाँ से तीर्थकर, अथवा किन्हीं अन्य मुनिराजों का निर्वाण होता है उसे सिद्धक्षेत्र कहते हैं; तथा जहाँ तीर्थकरों के शेष कल्याणक होते हैं, अथवा कोई विशिष्ट चमत्कार होता है, उन्हें अतिशयक्षेत्र कहते हैं।

□ डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

तरन्ति भव्या येन भवसागरं तत् तीर्थम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार तीर्थ वह है, जो भव्य जीवों को संसार-सागर से पार होने में सहायक हो। यद्यपि संसार से समुत्तीर्ण होने का साक्षात् मार्ग रत्नत्रय की पूर्णता है, तथापि उस रत्न-त्रय की पूर्णता के लिए तीर्थ भी निमित्त के रूप में स्वीकृत किया गया है। भाव-शुद्धि के लिए बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल का भी सहयोग सर्वमान्य है।

सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र के भेद से वर्तमान क्षेत्र दो रूपों में प्रसिद्ध हैं। जहाँ से तीर्थकर अथवा किन्हीं अन्य मुनिराजों का निर्वाण होता है, उसे सिद्ध-क्षेत्र कहते हैं, तथा जहाँ तीर्थकरों के शेष कल्याणक होते हैं, अथवा कोई विशिष्ट चमत्कार होता है, उन्हें अतिशयक्षेत्र कहते हैं। संहरण सिद्धों की अपेक्षा अढ़ाई द्वीप का प्रत्येक प्रदेश सिद्धक्षेत्र है और जन्म की अपेक्षा यत्र-तत्र सिद्धक्षेत्र है। सामान्य नियम के अनुसार भरतक्षेत्र-संबन्धी तीर्थकरों का जन्म अयोध्या नगरी में होता है, और निर्वाण सम्मेद-शिखर से होता है, अतः ये दो स्थान सनातन तीर्थ-क्षेत्र हैं। प्रलय के समय जब समस्त आर्यखण्ड अस्त-व्यस्त हो जाता है, तब इन दोनों स्थानों के नीचे स्थिर स्वस्तिक-चिह्न के आधार पर देव लोग पुनः इनकी स्थापना कर देते हैं। यह हुण्डावसर्पिणी काल का प्रभाव माना गया है कि वर्तमान चौबीसी में कुछ तीर्थकरों का अयोध्या को छोड़कर अन्य नगरियों में जन्म हुआ है और सम्मेद-शिखर को छोड़कर अन्य स्थानों से निर्वाण हुआ है।

निर्वाण-भक्ति या निर्वाणकाण्ड में भारतवर्ष के जिन सिद्धक्षेत्रों का समुल्लेख है, उनमें से अभी तक कोटिशिला आदि कतिपय सिद्धक्षेत्रों का निर्णय नहीं हो सका है। इसी प्रकार निर्वाणकाण्ड के अन्त में जिन अतिशयक्षेत्रों का नामो-ल्लेख हुआ है, उनमें भी पोदनपुर आदि स्थानों का निर्धारण नहीं किया जा सका है।

आजकल अतिशयक्षेत्रों की संख्या बढ़ रही है। कहीं किसी व्यन्तर आदि के द्वारा किया हुआ साधारण चमत्कार सुनने में आया नहीं कि उसे अतिशयक्षेत्र की संज्ञा मिल जाती है। कुछ भी हो, जन-मानस तीर्थक्षेत्रों को अपने पूर्वजों के

द्वारा समर्पित एक धरोहर के रूप में स्वीकृत करता है और उनकी रक्षा तथा विकास में श्रद्धापूर्वक प्रवास करता है। प्रसन्नता की बात है कि आज प्रायः प्रत्येक क्षेत्र पूर्व की अपेक्षा अधिक विकसित है। उनके यातायात के मार्ग व्यवस्थित किये गये हैं, तथा वहाँ धर्मशाला आदि की समुचित व्यवस्था हुई है। मंदिरों का भी जीर्णोद्धार हुआ है। बड़वानी, ऊन, सिद्धवरकूट, सोनागिरि, पद्मपुरी तथा महावीरजी आदि का नवनिर्माण देखकर यात्री का मन प्रसन्न हो जाता है; परन्तु अपवाद-स्वरूप कई स्थलों पर प्राचीन धरोहर आज भी उपेक्षित पड़ी हुई है, और कहीं-कहीं तो वहाँ के लोगों अथवा व्यवस्थापकों के व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण भी बन गये हैं।

आज तीर्थयात्रा करना मानव के जीवन का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य माना जाने लगा है। तीर्थस्थलों में जन-मानस सब चिन्ताओं से मुक्त, भाव-विभोर होकर भक्ति में लीन हो जाता है। जितने समय तक वह वहाँ रहता है, एक विशेष शान्ति-सुख का अनुभव करता है। यही कारण है कि प्रतिवर्ष प्रायः प्रत्येक प्रान्त से वसों अथवा ट्रेनों द्वारा अनेक यात्रा-संघ निकलते हैं। दीपावली से लेकर फाल्गुन तक के बीच तीर्थयात्राओं के संघ अधिक संख्या में निकलते हैं। सम्मेदाचल की यात्रा के लिए निकलनेवाले यात्रा-संघों का उल्लेख तो बहुत प्राचीन काल से मिलता है। भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्वभव वर्णन में आता है कि राजा अरविन्द, जो दिग्म्बर दीक्षा धारण कर मुनिराज हो गये थे, वे सम्मेदाचल की यात्रा के लिए जाने-वाले संघ के साथ गये थे। मरुभूति का जीव, जो मरकर हाथी हुआ था, यात्रा-संघ में उत्पात करता हुआ, ज्यों ही अरविन्द मुनिराज को देखता है, त्यों ही शान्त हो जाता है। मरुभूति, भगवान् पार्श्वनाथ का जीव था। मरुभूति के बाद अनेक भव धारण कर चुकने पर वह भगवान् पार्श्वनाथ बना था।

में भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रमुख क्षेत्रों के दर्शन कर चुका हूँ। सब जगह सुन्दर और समयोचित व्यवस्था देखने को मिली; परन्तु शक्ति-सम्पन्न प्रमुख क्षेत्रों पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के साधन भी यदि जुटाये जा सकें, तो वह जैनधर्म के प्रचार के लिए अत्यन्त सहायक होंगे। बड़े क्षेत्रों पर एक अच्छा विद्वान् भी नियुक्त रहना चाहिये, जो आगम-श्रद्धालु जनता के तत्त्वज्ञान का प्रचार करता रहे। जहाँ संभव हो वहाँ धार्मिक पाठशालाओं की व्यवस्था भी होनी चाहिये। □

वीतरागता : केवल ज्ञानगम्य

“वीतरागता एक ऐसी रसायन है, जो वैज्ञानिकों की खोज-परिधि में आती नहीं। यह तो केवल ज्ञानगम्य है और आत्मा को संपूर्ण शुद्ध बनाने वाला सर्वोत्तम साधन है। इसी वीतरागता को प्राप्त करने का सभी को सतत प्रयास करना चाहिये। जितनी भी आत्माएँ आज तक सिद्धत्व को प्राप्त हुई हैं और जितनी भी आत्माएँ भविष्य में सिद्ध परमेष्ठी बनेंगी, वे केवल वीतरागता के द्वारा ही। अन्य कोई साधन इस दिव्य कार्य को निष्पन्न करने वाला नहीं है।”

—आचार्य विद्यासागर

बुन्देलखण्ड-यात्रा की दो बड़ी उपलब्धियाँ

‘पहली उपलब्धि है सिद्ध/अतिशय क्षेत्र कुण्डलपुर-स्थित भगवान् आदिनाथ की भव्य, विशाल, ऐतिहासिक प्रतिमा के पुण्य-पुनीत दर्शन; और दूसरी है आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज का सहज सान्निध्य, तर्क से अ-तर्क की ओर ले जाने का उनका उदात्त दृष्टिकोण।

□ श्रेयान्सप्रसाद जैन

गत मास, मैंने बुन्देलखण्ड के तीर्थों की भाग्यशालिनी यात्रा संपन्न की। यहाँ गाँव-गाँव में प्राचीन स्थापत्य-कला के नमूने देखने को मिले। यात्रा मनोरम, सुखद और अविस्मरणीय रही। वस्तुतः मेरी इस यात्रा की दो बड़ी उपलब्धियाँ हैं। जहाँ तक पहली उपलब्धि का संबन्ध है, वह है कुण्डलपुर में भगवान् आदिनाथ की वीतराग प्रतिमा के पुण्य-पुनीत दर्शन। कुण्डलपुर सिद्ध/अतिशय क्षेत्र तो है ही, इसके संबन्ध में नाना किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं, जिन पर कोई भरोसा करे, न करे; किन्तु साधारण जन की आस्था इनमें से प्रकट अवश्य होती है।

भगवान् की यह सुविशाल प्रतिमा अत्यधिक भव्य, मनोरम, प्रेरक और ऐतिहासिक है। इसके दर्शन से हृदय में एक अद्वितीय आह्लाद उत्पन्न होता है और चित्त को परम शान्ति मिलती है; मन विभोरता में झूम उठता है। वास्तव में इस प्रतिमा के माध्यम से भगवान् आदिनाथ के प्रति मस्तक बरबस झुक जाता है, और हृदय एक अप्रत्याशित आध्यात्मिक उल्लास से भर उठता है। क्षेत्र का व्यक्तित्व प्राकृतिक शोभा-मुषमा से ओतप्रोत है, सुन्दरता का खजाना है। पहाड़ों पर मन्दिरों की शृंखला, नीचे सरोवर तथा प्राकृतिक छटा से परिवेष्टित यह क्षेत्र स्वयं में एक रमणीक-दर्शनीय स्थल है। मैं समझता हूँ यदि किसी ने इस तीर्थ की वन्दना नहीं की है, तो उसे एक बार अवश्य यह पुण्यार्जन कर लेना चाहिये।

मेरी दूसरी उपलब्धि है तरुण जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का सान्निध्य; एक ऐसे आचार्य से साक्षात्कार जो युवा हैं, जिनके मुख-मण्डल की मुस्कराहट, और प्रवचन करने का ढंग सहसा चुम्बक-सा खींच लेता है मनःप्राण। वे अपनी सरल, मुदु, सहज वाणी से शंकाओं का समाधान करते हैं; वस्तुतः तर्क से अ-तर्क में ले जाने का उनका दृष्टिकोण उत्कृष्ट है। तर्क को वे व्यर्थ का अवकाश नहीं देते, मात्र उतना हाशिया देते हैं जहाँ तक वह तत्त्वदर्शन में उपकारक होता है, उसके प्रति उनका आग्रह नहीं होता। शुद्ध, विशाल, व्यापक दृष्टि-संपन्न ये आध्यात्मिक साधु बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। इनके दर्शन से, वस्तुतः, मैं बहुत ही कृतकृत्य हुआ हूँ।

इसके अतिरिक्त एक और बात का उल्लेख करना चाहूँगा। मैंने अनुभव किया है कि वर्णीजी की जन्मस्थली बुन्देलखण्ड के बन्धु-बान्धव धार्मिक, अत्यन्त सरल-सहज, निष्काम-निःस्पृह हैं, अपने इस सरल स्वभाव से वे सहज ही अपनी ओर खींच लेते हैं। इधर बुन्देलखण्ड के मन्दिरों की भी एक विशेषता है। ये किसी राजाश्रय में नहीं बने हैं, श्रेष्ठिवर्ग भी यहाँ का बहुत उच्चश्रेणी का नहीं था, अतः ये यहाँ के परिवारों की श्रद्धा एवं आस्था के प्रतीक हैं। मुझे यहाँ जो स्नेह और सन्मान मिला है, वह मेरी बहुमूल्य निधि है।

यहाँ के तीर्थों को भी घूम-घूम कर मैंने बड़े चाव से देखा है—विशेषतः खजुराहो, देवगढ़, अहार—जैसे स्थापत्य-कला के भाण्डार तीर्थों को। ये सब वास्तव में हमारी संस्कृति के ज्वलन्त-जीवन्त प्रतीक हैं। मध्यप्रदेश जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से अतीव समृद्ध है। यह कई भूखण्डों की शिल्पकृतियों का प्रदेश है। मेरी इस तीर्थयात्रा में श्री नीरज जैसे कला-पारखी मेरे साथ रहे हैं। उनके साथ होने से कलाकृतियों की अन्तरात्मा में सेंध लगाने, उन्हें समझने में काफी सुविधा हुई है। श्री नीरज जैन केवल सतना जिले के ही नहीं, बरन् सारे भारत के पुरातत्त्व में अपना एक प्रमुख स्थान रखते हैं। वे पुरातत्त्वशास्त्र में पारंगत हैं, इसमें उनकी रुचि भी है। इस दृष्टि से वे एक अच्छे साथी और मार्गदर्शक भी हैं।

मेरा एक विचार और भी है। मैं समझता हूँ जिस तरह जिनवाणी का प्रचार-प्रसार आवश्यक है, उसी तरह इन कलाकृतियों की, जो हमें बहुमूल्य बिरासत के रूप में मिली हैं, सुरक्षा भी आवश्यक है। इसे हमें अपना धार्मिक या सामाजिक कर्तव्य मानकर करना चाहिये। मेरी विनम्र समझ में इनकी ओर ध्यान देना या खींचना बहुत जरूरी है; क्योंकि कला जब धर्म के साथ जुड़ती है तब उसे सरल, सहज और सुगम बना देती है। मैं मानता हूँ कि यदि आज हमने कला को उचित संरक्षण देने की पहल नहीं की तो आनेवाली पीढ़ी हमें कदापि क्षमा नहीं करेगी। मेरे लेखे जितनी उपयोगी जिनवाणी है, उतनी ही उपयोगी ये कलाकृतियाँ हैं। इनका आध्यात्मिक संप्रेषण उतना ही सक्षम और प्रभावी है।

आज मात्र बुन्देलखण्ड में ही नहीं अपितु भारत में यत्र-तत्र एक बड़ी संख्या में भूतियाँ जिस असावधानी और अरक्षा में बिखरी हुई हैं, वह कोई मंगलकारी स्थिति नहीं है। मैं चाहता हूँ इनके संरक्षण की ओर लोगों का ध्यान जाए। इस दृष्टि से यदि 'तीर्थकर' किसी स्वतन्त्र विशेषांक का आयोजन करे और समाज को इसकी व्यापक जानकारी दे, इस ओर उसका ध्यान आकर्षित करे, तो यह एक बड़ा काम होगा। इस काम को हम सब मिल कर ही कर सकेंगे, करेंगे। □

नैनागिरि खुलते हैं जहाँ अन्तर्नयन



६६ तीर्थ सदा से हमारे सांस्कृतिक जीवन की धुरी रहे हैं। सारी-की-सारी नैतिक रसत-नाड़ियाँ यहीं होकर गुजरती हैं और हमें संस्कृति तथा धर्म के तल पर नया जीवन प्रदान करती हैं। यहीं से हम उत्साह की मंद पड़ती लौ के लिए नयी जोत पाते हैं और अपने सामाजिक जीवन को अधिक स्वच्छ और सुसंस्कृत बनाते हैं। थोड़े मे कहें तो तीर्थ हमारे आत्मकल्प के सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। नैनागिरि, जिसका लोकप्रयुक्त नाम नैनागढ़ कमी रहा है, एक ऐसा नयनामिराम तीर्थ है, जहाँ हमारे अन्तर्नय उघड़ते हैं और जहाँ हमारे रोम-रोम, रेखे-रेखे में एक नयी आध्यात्मिक स्फूर्ति अंगड़ाई भरती है। सागर से ५७ किलोमीटर दूर यह तीर्थ, जिसे प्रकृति ने अपनी पहाड़ी अंगुलियों से सिंगारा है, न केवल सांस्कृतिक वरन् पुरातात्विक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

□ सुरेश जैन

मध्यप्रदेश का छतरपुर जिला सामरिक शौर्य और पारमार्थिक पुरुषार्थ के लिए प्रसिद्ध रहा है। नैनागिरि इसी जिले के बकस्वाहा परगने के दलपतपुर ग्राम से १२ किलोमीटर सागर-कानपुर मार्ग पर अवस्थित है। तीर्थ तक पक्की, निरापद सड़क है, और राह का जंगल सघन बियावाँ होते हुए भी सुहावन है।

नैनागिरि, जिसे बोलचाल में लोग 'नैनागिर' भी कहते हैं, नाम कैसे लोगों की जीभ चढ़ा, कहना असंभव है; किन्तु माना यह जाता है कि यह पहले कभी 'नैनागढ़' था और बाद को धिसधिसाकर 'नैनागिर' हो गया है। एक और आधार इस नाम का मिलता है। भैया भगवतीदास ने निर्वाणकाण्ड (प्राकृत) की इस संदर्भ में प्रसिद्ध गाथा के अनुवाद में 'रेसिदीगिरि नयनानन्द' का प्रयोग किया है। यद्यपि 'नयनानन्द' यहाँ विशेषणपद की तरह प्रयुक्त है; लोककण्ठ को विशेषण की जगह विशेष्य और विशेषण की जगह विशेष्य को बिठाने में अधिक देर कहाँ लगती है? उसकी शब्द-टकसाल अद्भुत-अद्वितीय है। यही कारण है कि समय बीतते 'विन्धेयल-

तीर्थकर : नव. दिस. ७८

६३

खण्ड' 'बुन्देलखण्ड' बन गया और 'ऋष्यन्दगिरि' 'रसन्दगिरि' और 'रेश्मिन्दीगिरि' बना। जो हो आज इस तीर्थ के दो संबोधन प्रचलित हैं—नैनागिरि और रेश्मिन्दीगिरि। प्रथम संबोधन लोगों को अधिक प्रिय है, अतः यही चलता है।

इतिहास और लोककथन को अलगाकर देखना प्रायः दुष्कर होता है। लोककथन आधे इतिहास ही होते हैं। माना, उन पर सन्-संवती छापें धुंधली होती हैं, किन्तु अनुभूतिगत सचाई इतनी प्रगाढ़ होती है कि उसे नजरअंदाज करना कठिन होता है। नैनागिरि को लेकर भी ऐसी ही स्थिति है। कहा जाता है, सच ही रहा होगा, कि यहाँ तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का समवसरण आया था और इस समवसरण में मुनीन्द्रदत्त, इन्द्रदत्त, वरदत्त, गुणदत्त और सायरदत्त जैसे परम तपोधन भी थे, जिन्होंने यहाँ से निर्वाण प्राप्त किया। आवश्यक प्रमाण यद्यपि अप्राप्य हैं, तथापि माना जाता है कि क्षेत्र के निकट बहती नदी-धारा में ५० फीट ऊंची एक भव्य पाषाणशिला है, जहाँ ध्यानासीन होकर वरदत्तादि पाँच महामुनियों ने दुर्द्धर तपश्चर्या की थी। इसे आज सिद्धशिला कहा जाता है। सिद्धशिला का आकार-प्रकार, नाकोनक्श कुछ ऐसा अद्वितीय है कि सुबूत न होने पर भी कुछ भी अविश्वसनीय नहीं लगता है। काश, कोई प्रमाण मिल पाता !!

पार्श्वनाथ का समवसरण कभी यहाँ आया था, इसकी अनुभूति आपोआप जहाँ-तहाँ झनझनाती है। लगता है, अनायास ही, कि कोई तपस्वी ध्यान में डूबा बैठा है और आध्यात्मिक साधना के लिए पुकार रहा है। मोक्षमार्ग के इन पथिकों की पदचापें आज भी सुन पाना कठिन नहीं है। सच ही वे क्षण अपूर्व रहे होंगे जब भगवान् पार्श्वनाथ का समवसरण यहाँ रहा होगा और पाँच महामुनियों को मोक्ष ने उपलब्ध किया होगा। यहाँ का सबसे प्राचीन जिनालय पार्श्वनाथ मंदिर माना जाता है। यह १७ वीं सदी से अधिक प्राचीन नहीं है; किन्तु बाहर जो शिलालेख भित्ति में लगाया गया है उसमें ११०९ वि. सं. खुदा हुआ है। शिलालेख पुराना नहीं है तथापि प्रमाण है इस तथ्य का कि नैनागिरि का अस्तित्व हजार साल पहले था, और उसका व्यक्तित्व लगभग २६०० वर्ष प्राचीन है।

मूल नायक भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा बड़ी सौम्य और विलक्षण है; मनोहारी और चुम्बकीय है। ना मालूम क्यों दर्शनार्थी आपोआप यहाँ नतमस्तक हो जाता है। इसे गौर से देखने पर लगता है कि किसी ग्रामशिल्पी ने स्थानीय पाषाण से स्थानीय शैली में ही इसे घड़ा है। भगवान् के शिरोभाग पर बनी सर्पाकृतियाँ अद्भुत हैं; बिलकूल आसपास मिलने वाले सौपों-जैसी। 'लोकल' का यह सुबूत यहाँ सधन जैन आबादी के होने का साक्षी है। इतना ही नहीं यह इस बात की गवाही भी है कि जैनों में अन्यान्य ग्रामवासियों की भी रुचि थी।

नैनागिरि वस्तुतः एक भव्य मनोज्ञ तीर्थस्थान है—वैराग्य और निर्वेद की विजय-भूमि। निर्वाणकाण्ड की जिस गाथा में इसका उल्लेख है, वह इस प्रकार है—

पासस सम्बसरणे सहिया वरदत्त भुगिदरा पंच ।
रिस्सिंदे गिरिसिहरे णिन्वाण गया णमो तेसि ॥११॥

इस गाथा का भैया भगवतीदास ने अनुवाद यों किया है—

सम्बसरण श्री पार्श्व जिनंद । रेसिंदीगिरि नयनानन्द ।
वरदत्तादि पंच ऋषिराज । ते वन्दौ नित धरम जिहाज ॥

इनसे भी तीर्थ की अखिल भारतीय महत्ता का बोध होता है। नैनागिरि मध्ययुगीन रजपूती सत्ता से भी जुड़ा हुआ है। गहरवार, परिहार और चन्देलों से इसका संबन्ध रहा है। इतनी संख्या में जिनालयों का होना भी इसके कभी एक सुसमृद्ध महानगर होने का प्रमाण है। ठीक है, कला-दृष्टि से तीर्थ इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु मध्यकाल की सहज-सादा वास्तुकला का तो यह एक प्रतिनिधि नमूना है। जिनालयों के दो गुच्छ हैं—पहाड़ पर, तलहटी में। रेशन्दीगिरि पर ३६ और तलहटी में एक परकोटे के भीतर १५ मन्दिर हैं। इस तरह यहाँ कुल ५१ मन्दिर और एक मानस्तम्भ है। तीर्थयात्री को, चाहे वह देश के किसी भी भाग से आया हो, वन्दना में एक विशिष्ट आनन्दानुभूति होती है, क्यों होती है? इसकी कार्य-कारण व्याख्या असंभव है, किन्तु वह होती है, इसका प्रत्यक्षानुभव कभी भी किया जा सकता है। लगता है जैसे मुनियों-महामुनियों की अविचल साधना ने इस संपूर्ण क्षेत्र को कभी अभिभूत यानी चार्ज किया था अथवा हुआ था यह आपोआप। जल-मन्दिर की छटा अपनी अलग है, यह तलहटी में सरोवर से घिरा है और लगता है जैसे कोई महामुनि अपनी प्रशान्त अध्यात्म मुद्रा में जलासीन है।

एक क्रिदन्ती और है। कहा जाता है कि पर्वत-स्थित जिनालयों के पीछे कभी एक महानगर बसा हुआ था। यहाँ श्मसान-भूमि भी थी। महानगर के खण्डहर पुरातत्त्व-विशेषज्ञों को पलक-पाँवड़े बिछाये अनुक्षण न्योतते हैं, किन्तु कहीं-कोई चिन्तित नहीं है? पर्वत से कोई एक मील दूर बियावाँ जंगल है, जहाँ ५२ गज लम्बी एक वेदिका है, जिसे ११वीं-१२वीं शताब्दी का माना जाता है। इस तरह सारा क्षेत्र पुरातात्विक, श्रमणसांस्कृतिक और मध्यकालीन लोकसांस्कृतिक वैभवों से भरा पड़ा है, किन्तु इस सब पर भगदड़-वाली जिन्दगी में ध्यान कौन दे? हमें विश्वास है कि यदि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस ओर कोई ध्यान दिया तो कई जमींदोज रहस्य सामने आ सकेंगे।

नैनागिरि को पन्ना नरेश का राजकीय संरक्षण मिला था। उनकी ओर से इसे बसाने और यहाँ सालाना जातरा लगाने की जो अनुमति मिली थी, उस पर वैशाख सुदी १५, सं. १९४२ अंकित है। इसकी बुन्देली भंगिमा और संरक्षण के मुद्दे दृष्टव्य हैं। अविकल सनद इस प्रकार है—

तीर्थंकर : नव. दिस. ७८

६५

श्रीश्रीश्री जू देव हजूर—

खातर लिखाय देवें में आइं श्रीसिघई हजुरी बकस्वाहे बारे को आपर परगने बकस्वाहे के मौजे मँनागिर को आबाद करने व जात्रा लगवाने की व अपने मान मुलाहजा बहाल रिहवे मध्ये खातर लिख जेवे कि दरख्वास्त करी ताकि दरख्वास्त मंजूर भई मजकूर को अछीतरा आबाद करौ अरु जात्रा लगवावों जो मान मुलाहजों इहां से बनौ रहौ सो बदस्तूर बनो रहै नये सिर जास्ती कौनहु तरा न हू हैं और मौजे मजकूर की खबरदारी अछीतरा राखियौ जीमें कौनहु तरा को नुकसान सरहद के भीतर जमीन की न होने पावे। बँशाख सुदी १५ सं. १९४२ सु. पन्ना।

सील

उक्त सनद के बाद से यहाँ प्रतिवर्ष अगहन सुदी १३ से १५ तक मेला भगता है।

जनता-जनार्दन की सुविधा के लिए यहाँ जो तालाब बना है, उसे लेकर भी अनेक राजाजाएँ जारी हुई थीं, किन्तु अब इनके परिपालन पर कोई ध्यान नहीं देता है। राजाजाओं के प्रमुख मुद्दे थे—मछली नहीं मारना, मवेशी को न नहलाना, खदान-पत्थर की माफी; बाँस और जलाऊ लकड़ी की माफी, इत्यादि। देखा जाए तो इन पुरानी राजाजाओं को आज अधिक प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है, क्योंकि रोज-ब-रोज यात्री-संघ यहाँ आते हैं और उन्हें अशुद्ध जल ही मिल पाता है। रोग फैलने की भी आशंका रहती है; अतः यदि लोककर्म, स्वास्थ्य तथा पुरातत्व विभाग इस ओर संयुक्त ध्यान दें तो इस सांस्कृतिक विरासत-रूप तीर्थ का पुनरुद्धार हो सकता है। वर्तमान में यहाँ तीन धर्मशालाएँ हैं, एक अच्छा प्रवचन-घण्डाल निर्माणाधीन है, तथा तीर्थक्षेत्र समिति अन्य-अनेक सुविधाओं का विस्तार करने जा रही है।



बाबू बाबाजी की याद में



ब्र. सीतलप्रसादजी की जन्मशताब्दी पर उनका भाव-
भीता स्मरण बकलम स्व. बयोध्याप्रसाद गोयलजी

(जन्म-लखनऊ, १८७९ ई.; पिता-
श्री मकखनलाल; माता-श्रीमती नारायणीदेवी;
१९०४ ई. में पत्नी तथा माता का देहाव-
सान; १९११ ई. में ब्रह्मचर्य-प्रतिमा; १९०९-
१९२९ ई. जैनमित्र का संपादन; १९१२ ई.
में जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी की अध्यक्षता में
'जैनधर्म-भूषण' की उपाधि से अलंकृत; १९२७
ई. में सनातन जैन मासिक की स्थापना;
लगभग ७७ स्वतन्त्र ग्रन्थों, भाषा-टीकाओं
का लेखन-संपादन इत्यादि; १० फरवरी, १९४२ को लखनऊ में देहावसान।)

सन् १९१३ या '१४ की बात है, मैं उन दिनों अपनी ननिहाल (कोसीकलाँ, मथुरा) की जैन पाठशाला में पढ़ा करता था। बालबोध तीसरा भाग घोंटकर पी लिया गया था और महाजनी हिसाब में कमाल हासिल करने का असफल प्रयत्न जारी था। तभी एक रोज एक गेरुआ वस्त्रधारी, हाथ में कमण्डलु और बगल में चटाई दबाये कस्बे के दस-पाँच प्रमुख सज्जनों के साथ पाठशाला में पधारे। चाँद घुटी हुई, चोटी के स्थान पर यँही दस-पाँच रत्ती-भर बाल, नाक पर चश्मा, सुडौल और गौरवर्ण शरीर, तेज से दीप्त मुखाकृति देख हम सब सहम गये। यद्यपि हाथ में उनके प्रमाण-पत्र नहीं था, फिर भी न जाने हमने कैसे यह भाँप लिया कि ये कोरे बाबाजी नहीं, बल्कि बाबू बाबाजी हैं। साधु तो रोजाना ही देखने में आते थे, बल्कि आगे बैठने के लालच में हम खुद कई बार रामलीला में साधु बन चुके थे, परन्तु किताबी पाठ के सिवा सचमुच के जीते-जागते साधु भी जैनियों में होते हैं, इस विलुप्त पुरातत्त्व का साक्षात्कार अनायास उसी रोज हुआ। मैं आज यह स्मरण करके कल्पनातीत आनन्द अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन में मैंने जिस महात्मा के प्रथम बार दर्शन किये, वे इस युग के समन्तभद्र ब्र. सीतलप्रसादजी थे।

विद्यार्थियों की परीक्षा ली। देवदर्शन और रात्रिभोजन त्याग का महत्त्व भी समझाया। दो-एक रोज रहे और चले गये, मगर अपनी एक अमिट छाप मार गये। जीवन में अनेक त्यागी और साधु फिर देखने को मिले, मगर वह बात देखने में नहीं आयी—तुलसी काली कामरी, चढ़ी न डूजौ रंग। सैंकड़ों पढ़े हुए पाठ भूल गया। जीरे की बजाय सौँफ और धनिये के बजाय अजवायन लाने की मैंने अक्सर

भूल की; पर न जाने क्यों व्र. सीतलप्रसादजी को जो पहली बार देखा तो फिर न भूला—

उस बोरिया नशाका^१ दिल्ली में मुरोद^२ हूँ।

जिसके रियाजोचुहद में^३ बूरिया न^४ हो ॥

सन् १९१९ में रोलट एकट विरोधी आन्दोलन के फलस्वरूप अध्ययन के बन्धन को तोड़कर सन् १९२० में दिल्ली चला आया। उसी वर्ष ब्रह्मचारीजी ने दिल्ली के धर्मपुरे में चातुर्मास किया। भूआजी ने रात को आदेश दिया कि प्रातः काल पाँच बजे ब्रह्मचारीजी को आहार के लिए निमन्त्रण दे आना, निमन्त्रण-विधि समझाकर यह भी चेतावनी दे दी कि 'कहीं ऐसा न हो कि दूसरा व्यक्ति तुमसे पहले ही निमन्त्रण दे जाए और तुम मुंह ताकते ही रह जाओ'।

ब्रह्मचारीजी की चरण-रज पड़ने से घर कितना पवित्र होगा, आहार देने से कौन-सा पुण्य-बन्ध होगा, उपदेश-श्रवण से कितनी निर्जरा होगी और कितनी देर संवर रहेगा—यह लेखा तो भूआजी के पास रहा होगा, मगर अपने को तो बचपन में देखे हुए उन्हीं ब्रह्मचारीजी के पुनः दर्शन की लालसा और निमन्त्रण देने में पराजय की आशंका ने उद्विग्न-सा कर दिया, बोला—“यदि ऐसी बात है तो मैं वहाँ अभी जा बैठता हूँ, अन्दर किसी को घुसते देखूँगा तो उससे पहले मैं निमन्त्रण दे दूँगा”। भूआजी मेरे मनोभाव को न समझ कर स्नेह से बोलीं—“नहीं बन्ने! अभी से जाने की क्या जरूरत है सवरे-सवरे उठ कर चले जाना”।

मजबूरन रात को सोना पड़ा, मगर उत्साह और चिन्ता के कारण नींद नहीं आयी; और ३-४ बजे ही पहाड़ी धीरज से दो मील पैदल चल कर धर्मपुरे पहुँचा तो फाटक बन्द मिला। बड़ा क्रोध आया—“अभी तक मन्दिर के नौकर सोये ही हुए हैं। लोग निमन्त्रण देने चले आ रहे हैं, मगर इन्हें होश तक नहीं। ऐसे मूर्ख हैं कि एक रोज़ दरवाजा बन्द करना नहीं भूलते, गावदी कहीं के”।

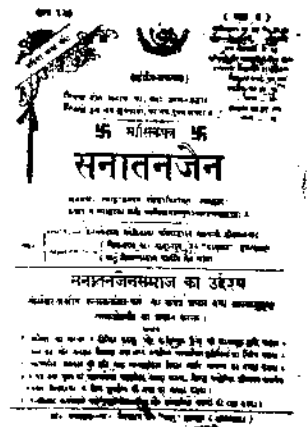
अन्धेरे में ही दरवाजा खुला तो मालूम हुआ कि ब्रह्मचारीजी मन्दिर की छत पर हैं। जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़ कर मैं चाहता था कि ब्रह्मचारीजी के पाँव छूकर निमन्त्रण दे दूँ, कि देखा वे अटल समाधि में लीन हैं। सुहावनी ठण्डी-ठण्डी हवा में मीठी नींद छोड़ कर विदेह बने बैठे हैं। भक्तिविभोर होकर साष्टांग प्रणाम किया और उठकर सतर्कता से इधर-उधर देखता रहा कि कोई अन्य निमन्त्रणदाता न आन कूदे; और इसी भय से मन्दिर के आदमी से तनिक ऊँची आवाज़ में पूछ भी लिया कि ब्रह्मचारीजी कितनी देर में सामायिक से उठेंगे, मैं उन्हीं निमन्त्रण देने आया हूँ। ताकि ब्रह्मचारीजी भी सुन लें और अब और किसी का निमन्त्रण स्वीकृत न कर लें। वे निश्चित समय पर सामायिक से निवृत्त हुए, निमन्त्रण मंजूर किया और सानन्द आहार और उपदेश हुआ।

१. चटाई पर बैठा हुआ तपस्वी; २. शिष्य; ३. व्रत और त्याग में; ४. अनावट की गन्ध।

तब से यानी सन् १९२० से ब्रह्मचारीजी के स्वर्गासीन होने तक—रोहतक, पानीपत, सतना, खण्डवा, लाहौर, बड़ौत, दिल्ली आदि के उत्सवों पर पचासों बार साक्षात्कार हुआ, उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती गयी। जैनधर्म के प्रति इतनी गहरी श्रद्धा, उसके प्रसार और प्रभावना के लिए इतना दृढ़प्रतिज्ञ, समाज की स्थिति से व्यथित होकर भारत के इस सिरे से उस सिरे तक भूख और प्यास की असह्य वेदना को वश में किये रात-दिन जिसने इतना भ्रमण किया हो, भारत में क्या कोई दूसरा व्यक्ति मिलेगा ? पर जैन समाज के किसी धनिक ने इस तपस्वी को इण्टर का भी टिकट लेकर नहीं दिया। वही धकापेलवाला थर्ड-क्लास, उसी में तीन-तीन वक्त सामायिक, प्रतिक्रमण; उसी में जैनमित्रादि के लिए संपादकीय लेख, पत्रोत्तर, पठन-पाठन अविराम गति से चलता था। मार्ग में अष्टमी, चतुर्दशी आयी तो भी उपवास और पारणा के दिन निश्चित स्थान पर न पहुँच सके तो भी उपवास और २-३ रोड के उपवासी जब सन्ध्या को यथास्थान पहुँचे तो पूर्व सूचना के अनुसार सभा का आयोजन, व्याख्यान, तत्त्वचर्चा ! ... न जाने ब्रह्मचारीजी किस धातु के बने हुए थे कि थकान और भूख-प्यास का आभास तक उनके चेहरे पर दिखायी न देता था।

ब्रह्मचारीजी जैसा कष्टसहिष्णु और इरादे का मजबूत लखनऊ-जैसे विलासी शहर में जन्म ले सकता है, मुझे तो कभी विश्वास न होता, यदि वे इस सत्य को स्वयं स्वीकृत न करते। भला जिस शहर वालों को बगैर छिला अंगूर खाने से कब्ज हो जाए, ककड़ी देखने से जिन्हें छींक आने लगे, तलवार-बन्दूक के नाम से जम्हाइयाँ आने लगे, उस शहर को ऐसा नरकेशरी उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ? परन्तु धन्य है लखनऊ ! मुझे तो लखनऊ में उत्पन्न होने वाले बन्धुओं—लाला बरारतीलाल, जिनेन्द्रचन्द्रजी आदि से ईर्ष्या होती है कि वे उस लखनऊ में उत्पन्न होने का सौभाग्य रखते हैं, जिसे ब्रह्मचारीजी की बालसुलभ अठखेलियाँ देखनी नसीब हुई और परिषद् के सभापति दानवीर सेठ शान्तिप्रसादजी ने जिसकी रज को मस्तक से लगाने में अपने को गौरवशाली समझा।

मुझे सन् १९२७-२८ के वे दुदिन भी याद हैं, जब चाणक्य को अँगूठा दिखाने वाले एक मायावी पण्डितजी के षड्यंत्रस्वरूप उन्होंने 'सनातन जैन समाज' की स्थापना कर दी थी। वे इसके परिणाम से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने, उक्त



‘सनातन जैन’ (सांस्कृतिक; वर्ष १५ अंक ४; १९२८-१९५०), जो ब्र. सीतलप्रसादजी के संपादन में आज से आधी सदी पूर्व प्रकाशित हुआ और जिसने सनातन जैन समाज के माध्यम से जैनों की अंधी परम्परा-भक्ति को प्रथम चुनौती दी।

संस्था की स्थापना से पूर्व उन सभी जैन संस्थाओं से त्यागपत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी सम्बन्ध था; क्योंकि वे स्वप्न में भी उन संस्थाओं का अहित नहीं देख सकते थे; किन्तु जो अवतरित ही ब्रह्मचारीजी को मिटाने के लिए हुए थे, उन्हें केवल इतने से संतोष न हुआ। वे ब्रह्मचारीजी के व्यक्तित्व को ही नहीं, अस्तित्व को मिटाने के लिए दृढसंकल्प थे। इस भौष्म पितामह पर धर्म की आड़ में प्रहार किये गये।

आचार्य शान्तिसागरजी के संघ को उत्तर भारत में लाया गया। सम्मेलन-शिखर पर बृहद् महोत्सव का आयोजन किया गया और इस बहाने गाँव-गाँव और शहर-शहर में यह संघ भ्रमण करता हुआ सम्मेलनशिखर पहुँचा। ब्रह्मचारीजी के व्यक्तित्व और प्रभाव के ईर्ष्यालु कुछ लोग इस संघ में घुस गये और उनके विरोध में विष-वमन करने लगे। धर्म के इन ठेकेदारों ने भोलीभाली धर्मभीरु जनता को धर्म डूबने की दुहाई देकर उत्तेजित कर दिया। ब्रह्मचारीजी का बहिष्कार कराया गया, और तारीफ़ यह कि यह बहिष्कार-लीला केवल एक ही जगह करके आत्म-सुख नहीं मिला, गाँव-गाँव में यह लीला दिखायी गयी। मुनिसंघ और अखिल भारतीय महासभा का प्रमाण-पत्र ही इसके लिए काफी नहीं था, इस पर गाँव-गाँव की जनता के हस्ताक्षर भी जरूरी थे। मानो वे ऐसे मुजरिम थे कि कत्लनामे पर जज के हस्ताक्षरों के अलावा चपरासी, पटवारी और चौकीदार के दस्तखत भी लाज़िमी थे—

लाओ तो कत्लनामा मेरा, मैं भी देख लूँ।

किस-किसकी मुहर है, सरे महज़र* लगी हुई ॥ —(अज्ञात)

यह ऐसी आँधी का बवण्डर था कि इसमें अच्छे-से-अच्छे ब्रह्मचारीजी के भक्त उखड़ गये। जो उखड़े नहीं, वे झुककर रह गये। दो-चार खड़े भी रहे तो टुण्ट की तरह बेकार, कुछ सूझ ही नहीं पड़ता था कि क्या किया जाए? उनके ही शहरों में उनकी ही उपस्थिति में यह सब कुछ हुआ, पर वे एक आह भी मुँह से न निकाल सके। पुलिस की बँछियों का सामना करने वाले जैन कांग्रेसी भी इन अहिंसकों की सभा में बोलने का साहस न कर सके। बैरिस्टर चम्पतराय जी और साहित्यरत्न पं. दरबारीलालजी (वर्तमान स्वामी सत्यभक्त) जैसे प्रखर और निर्भीक विद्वान् साहस बटोरकर गये भी, मगर व्यर्थ।

उन्हें भी तिरस्कृत किया गया, बेचारे मुँह लटकाये चले आये। "सीतल-प्रसाद को ब्रह्मचारी न कहा जाए, उसे जैन संस्थाओं से निकाल दिया जाए, उसके व्याख्यान न होने दिये जाएँ, उसके बोलने और लिखने के सब साधन समाप्त कर दिये जाएँ" यही उस समय के जैनधर्मोपयोगी नारे उस संघ ने तजवीज़ किये थे।

* वह कागज जिस पर न्यायाधीशों ने निर्णय लिखा हो।

ब्रह्मचारीजी के भक्तों ने काफी समझाया कि इस समय समाज को काफी क्षुब्ध कर दिया गया है; सनातन समाज के प्रचार को छोड़ दीजिये, थोड़े दिन भ्रमण बन्द रखिये। भ्रमण में योग्य स्थान, आहार, व्याख्यान-आयोजनों की तो सुविधा रहेगी ही, पानी छानकर पीने वाले बहुत से लोग आपका अनछना लहू पीना भी धर्म समझेंगे।

भक्तों ने काफी उतार-चढ़ाव की बातें कीं; मगर वे टस-से-मस न हुए। वही धुन अविराम बनी रही। दिवाकर उसी गति से चलता रहा। आँधियाँ, मेह, तूफान, भूकम्प, राहु,केतु सब मार्ग में आये, मगर वह बढ़ता ही गया, उसकी गति में कोई बाधा न डाल सका—

अहले हिम्मत मंजिले मक्रसुद तक आ गये ॥

बन्दे तक्रदौर क्रिस्मत का गिला करते रहे ॥ —चकवस्त

उन्होंने सब संस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, परन्तु स्याद्वाद विद्यालय के भूल से सदस्य बने रह गये। उन्हें यह ध्यान ही न आया कि उनका सदस्य रहना भी विद्यालय के लिए घातक समझा जाएगा; अतः उनको सदस्यता से पृथक् करने के लिए एक सर्कूलर जारी किया गया। स्व. रायबहादुर साहू जुग-मन्दरदासजी के पास भी यह प्रस्ताव सम्मत्यर्थ आया। मैं उनके पास उस समय मौजूद था : वे पत्र पढ़कर विह्वल-से हो गये, मैंने घबराकर सब पूछा तो चुपचाप पत्र सामने रख दिया। मैं पत्र पढ़ ही रहा था कि बोले—“गोयलीय, उस विद्यालय के उत्सवों पर जैनेतर विद्वान् तो सभापति हो सकते हैं, जो न जाने कैसे-कैसे अपने विचार रखते हैं और वे ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी सदस्य भी नहीं रह सकते, जिन्होंने उसके निर्माण में जीवन समर्पित कर दिया है”। कहते-कहते जी भर-सा आया, मेरे मुंह से साहसा निकल पड़ा—

तेरी गली में मैं न चलूँ और सब चले ।

जो खुदा ही यह चाहे तो फिर बन्दे की क्या चले ॥ —अज्ञात

सुना तो उठकर चले गये, फिर उस रोज मुलाकात न हो सकी। दूसरे रोज जो पत्र उन्होंने स्याद्वाद विद्यालय के अधिकारी वर्ग को लिखा, काश वह पुरानी फाइलों में मिल सके तो वह भी इतिहास की एक अमूल्य निधि होगा।

इन्हीं आँधी-तूफानों के दिनों (सन् '२८ या '२९) में पानीपत में श्रीऋषभ-जयन्ती उत्सव था। मैं और पं. वृजवासीलालजी वहाँ गये थे। रात्रि के ८ बजे होंगे, सभामण्डप में हिसाब आदि को लेकर खासी गरमागरम बहस हो रही थी। मैं सोच ही रहा था आज क्या खाक सभा जम सकेगी कि पं. वृजवासीलालजी बदहवास-से मेरे पास आये और एकान्त में ले जाकर बोले—“गोयलीय अनर्थ हो गया, अब क्या होगा ?”

मैं बबराकर बोला—“पण्डितजी, खैर तो है, क्या हुआ?”

वे पसीने की चाँद पर से पोंछते हुए बोले—“बाबाजी स्टेशन पर बैठे हुए हैं” और यह कहकर ऐसे देखने लगे जैसे किसी भागी हुई स्त्री के मरने की खबर फैलाने के बाद उसे पुनः देख लेने पर होती है। मुझे समझते देर न लगी कि ये बाबाजी कौन-से हैं और क्यों आये हैं? बात यह थी कि पानीपत में ब्रह्मचारीजी के काफी भक्त थे, उन्होंने आने के लिए उन्हें निमंत्रण भी दिया था, पर इस हवा में कुछ विरोधी विचार के भी हो गये थे, उन्होंने ब्रह्मचारीजी को न आने का तार दे दिया।

स्थानीय उत्सव था, कोई अखिल भारतीय तो था नहीं। चाहते तो आना टाला जा सकता था; परन्तु विरोधी तार पहुँचने पर तो मानो उनको चुनौती मिल गयी कि सब कार्यक्रम छोड़कर पानीपत आ गये। वहाँ के सुधारक भी नहीं चाहते थे कि व्यर्थ में आपस में मनमुटाव बढ़े और अभिलाषा यही रखते थे कि समयाभाव वषा न आ सकें तो अच्छा ही है।

लेकिन जब यकायक उनके आने का समाचार मिला तो मानो अंधेरे में साँप पर पाँव पड़ गया। अब स्थानीय मनमुटाव की बात तो गौण हो गयी, उनके मानापमान की समस्या खड़ी हो गयी। ऐसे अवसरों पर स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की स्थिति बड़ी नाजुक हो जाती है। घर में ही दलबन्दी शुरु हो जाती है। रात-दिन के उठने-बैठने वाले भी विरोध करने लगते हैं। मित्र भी शत्रु-पक्ष में जा बड़े होते हैं। खैर, जैसे-तैसे ब्रह्मचारीजी को सभा में लाया गया।

सभा का अध्यक्ष भी उन्हीं को चुना गया तो एक-दो व्यक्तियों ने कुछ पक्षियों जैसी आवाज में फ्रव्ती कसी। मुझे ही सबसे पहले बोलने को खड़ा किया गया। अभी मुँह खोला भी न था कि बाहर दरवाजे पर लोग लाठियाँ लेकर आ गये। इधर से भी लोग सामना करने को जा डटे। हम परेशान थे कि क्या आज सचमुच हमारे जीते-जी ब्रह्मचारी पर हाथ छोड़ दिया जाएगा? उन दिनों मैं आर्य-समाजी टाइप डंडा अपने साथ रखता था, लपककर उसे उठा लिया और आवेश-भरे स्वर में बोला—“ब्रह्मचारीजी”, अब आप व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दें, देखें कौन भाई का लाल आप तक बढ़ता है?”

ब्रह्मचारीजी मिहर-से गये, बोले—“भाई शान्त रहो, मेरा व्याख्यान करा दो, फिर चाहे मेरा कोई प्राण ही निकाल दें”।

आखिर पाला सुधारकों के हाथ रहा और मुट्ठी भर विरोधी खदेड़कर दूर भगा दिये गये। उन दिनों पानीपत में पं. अरहदासजी जीवित थे। क्या ही पुरानी वज्रअ-कतअ के धर्मार्त्मा जीव थे! उनकी मृत्यु से पानीपत की समाज को गहरी क्षति पहुँची है। आज भी बा. जयभगवानजी वकील-जैसे दार्शनिक और ऐतिहासिक (शेष पृष्ठ ११२ पर)

प्रेम का अभाव ही है नरक

“अपरिग्रह का अर्थ वस्तु का अभाव नहीं, वस्तु की परवाह का अभाव है; इसीलिए महावीर ने यहाँ तक कहा कि अपरिग्रही के मस्तक पर राज-मुकुट भी रखा हो तो भी उसका स्वभाव नहीं बदलता, वह परिग्रही नहीं होता। परिग्रह वस्तु का त्याग नहीं, हर चीज के प्रति अपने जीवन की दासतामयी दृष्टि का त्याग है।

□ भानीराम ‘अग्निमुख’

महावीर ने कहा—‘जिन्हें किसी देश, काल, भाव, क्षेत्र से, न स्वयं से स्नेह है, न दूसरों से वे नरक हैं।

महावीर ने जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह अद्भुत है। उसका अर्थ ‘नारक’ (नरकवासी) भी होता है, ‘नारत’ (जिसकी किसी चीज में रति नहीं हो) भी। दूसरा अर्थ ही उपर्युक्त व्याख्या के अनुरूप है; क्योंकि महावीर का कथ्य स्वयं ही इसकी पुष्टि कर रहा है। मूल प्राकृत है ‘णारय’, जिसकी संस्कृत-छाया ‘नारत’ तथा ‘नारक’ दोनों होती हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक ही शब्द दोनों अर्थों में एक ही स्थिति का संयोजन करता है, वह है प्रेम का अभाव, रति का अभाव, मनःप्रसाद का अभाव।

दूसरे शब्दों में ‘नारक’ (नरकवासी) वही है जो ‘नारत’ (प्रेम-रहित) है। नारत का विच्छेद है न (अभाव) + रति (प्रेम, अनुराग, सन्तोष, प्रसन्नता, अनुकूलता का भाव, विश्वास, आस्था आदि सब सकारात्मक भाव); अतः ‘नारत’ नकारात्मक भावों, विचारों तथा दृष्टियों का पुंज है। नारकी वही है जो न किसी स्थान पर रहने से सन्तुष्ट है, न किसी हितकर समय में ही सन्तुष्ट रहता है, न उसके मन में प्रसन्नता का भाव ही पैदा होता है, न उसे कोई व्यक्ति अच्छा लगता है। वह खुद को भी पसन्द नहीं करता। अपने जीवन से भी सन्तुष्ट नहीं होता। हमेशा कुछ-न-कुछ पाने की तलाश उसे व्याकुल करती है, लेकिन कुछ भी पाकर वह बुझती तो नहीं। यही नरक है।

महावीर ने बार-बार कहा है कि जीवन से प्रेम सबको होता है। मृत्यु से किसी को नहीं। यह हर जीव का स्वभाव है। जिस स्थिति में व्यक्ति को अपने जीवन से ही प्रेम न रहे, वह मानसिक विकृति की, अन्तर्पीड़ा की चरम-सीमा है। वह बात सहज मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो स्वयं प्रमाणित है। पश्चिम में एक बहुत प्रसिद्ध औषधि-विज्ञानवेत्ता हुए हैं। वे होमियोपैथिक चिकित्सक एवं महान् अनु-

सन्धायक थे। भ्रैषज्य पदार्थों पर उन्हीं के भाषणों को पढ़ रहा था। एक स्थान पर उन्होंने वंसी ही बात कही जो महावीर ने कही। अन्तर इतना ही है कि महावीर का तल अध्यात्म का है, उनका चिकित्सा-विज्ञान का। वे प्रख्यात होमियोपैथ डॉ. कौण्ट थे। उन्होंने कहा—“द हाइएस्ट लव्ह इज द लव्ह ऑफ लाइफ, एण्ड व्हेन एन इन्डिव्हिज्युअल सीजेज टू लव्ह हिज ओन लाइफ, एण्ड इज वेअरी ऑफ इट, एण्ड लोथ्स इट, एण्ड वान्ट्स टू डाइ, ही इज ऑन द बॉर्डरलाइन ऑफ इन्सेनिटी, इन-फेक्ट देट इज एन इन्सेनिटी ऑफ द विल” (सर्वोपरि प्रेम जीवन से प्रेम है, और जब एक व्यक्ति का अपने जीवन से भी कोई प्रेम नहीं रह जाता, वह उससे ऊब जाता है, उससे विरक्त हो जाता है, और मृत्यु को चाहने लगता है, तो वह पागलपन के कगार पर खड़ा है। वास्तव में यह हमारे संकल्प का पागलपन ही है)।

मानसिक अवसाद सदा हुआ है। प्राचीनकाल में भी इसके उदाहरण मिलते हैं; लेकिन आज तो यह एक व्यापक व्याधि बन कर सर्वत्र फैल रहा है। जहाँ जाते हैं, जीवन के भार से थके-हारे, झुंझलाये हुए, अपने से ही असन्तुष्ट, अपने ही जीवन का किसी बहाने से अंत हो जाने के भीतर से अभिलाषी व्यक्ति मिलते हैं। वे स्वयं अपने-आपको समझ नहीं पाते। दूसरों के लिए उनकी स्थिति इसलिए समझ में नहीं आती कि वे उस स्थिति की कल्पना से भी भयभीत हैं। कल्पना से भय भी उनके भीतर उसी स्थिति के अस्तित्व का संसूचक है, जो अभी चेतन मन में उभर कर नहीं आयी है। वह जिसे हम अवसाद का रोगी कहते हैं उसके अचेतन ने आगे बढ़ कर चेतन मानस के नियन्त्रण को भंग कर दिया है तथा स्वच्छन्द हो उठा है। जिन्हें हम सामान्य व्यक्ति कहते हैं, वे भी बाहर से ही सामान्य हैं। उनके चेतन मानस का नियन्त्रण अभी अचेतन में संचित को उभर कर बाहर नहीं आने देता; लेकिन भीतर-ही-भीतर वे भी अवसन्न हैं। यह निन्यानवे डिग्री तथा सौ डिग्री जितना ही अन्तर है। और यह अन्तर किसी भी निमित्त का सहारा लेकर अचेतन मन कभी भी मिटा सकता है। वे भारत हैं, अतः नारकी हैं।

फायड ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी बात यह रखी कि हमारे भीतर जिजीविषा तथा मुमूर्षा दोनों का संघर्ष चलता रहता है। इसमें जिजीविषा का पलड़ा जब तक भारी है, हम स्वस्थ, प्रसन्न, सन्तुष्ट एवं सानन्द जीते हैं। मुमूर्षा भी प्रतिपल पोषित होती रहती है, अप्रिय एवं अकाम्य का अधिग्रहण कर। जिस दिन मुमूर्षा का पलड़ा भारी हो जाता है, उस दिन या तो मौत होती है, या पागलपन; या दोनों ही हो जाते हैं; प्रथम, संकल्प का पागलपन, फिर मृत्यु। हम जीना नहीं चाहते, इससे बड़ी नारकीयता और क्या हो सकती है? हम किसी को पसन्द नहीं करते, न हमें विश्वास है कि कोई हमें पसन्द करता है। हमें हर व्यक्ति से घृणा है और हमें लगता है कि हर व्यक्ति हमसे घृणा करता है। हम अपने को सबसे हारा हुआ अनुभव करते हैं, और हमें लगता है कि दूसरा व्यक्ति

जीता हुआ है जीवन-मरण में और हमारी मखौल उड़ा रहा है। हमें हर किसी से डर है, और अपने प्रति हरेक की डर का सन्देह हमें सबसे पहले होता है। हमें अपने जीवन में जो प्राप्त है, उससे संतोष नहीं है और जो अब तक प्राप्त नहीं कर सके हैं, उसे प्राप्त कर सकने की अपनी क्षमता में विश्वास नहीं। अपने अन्तर को टटोल कर देखें तो कम्बोवेश यही बात हम सब अपने भीतर कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी क्षण पाते हैं। हम इस भ्रम में न रहें कि नरक कहीं और है जहाँ मरने के बाद किसी को जाना जाता है; नरक कहीं नहीं है, और सर्वत्र है। वह किसी देश या काल में स्थित नहीं है; लेकिन हर देश में हर काल में व्यक्ति ने अपने भीतर अपना नरक बनाया है, उसे भोगा है। अब भी बना रहा है, भोग रहा है। भविष्य में भी बनायेगा और भोगेगा।

कुरान में कहा गया है—“जानते हो, दोजख क्या है? वह एक आग है जो हृदय के तल में सुलगती है और जिसकी लपटें उसे चारों ओर से ऊपर तक आवृत्त कर प्रतिपल जलाती हैं।” वह आग कहीं जमीन के नीचे पाताल में नहीं है। न आकाश में किसी पिण्ड पर सुलग रही है। वह आग तो हमारे हृदय के तल में ही सुलगती है। नरक का जन्म हमारे ही भीतर होता है। वह हम स्वयं उत्पन्न करते हैं। उसमें हमें कोई नहीं डालता, हम स्वयं ही अपने को उससे ग्रस्त कर लेते हैं। हमारी जिजीविषा जब हार जाती है, हमारी मुमूर्षा उस पर जीत जाती है, तो हम ‘नारकी’ या ‘नारत’ बन जाते हैं, महावीर के शब्दों में—लेकिन ऐसा क्यों होता है? हमारी जिजीविषा क्यों हार जाती है, मुमूर्षा से? इसका उत्तर जो महावीर के पास है, वही आज के हर मनोविश्लेषक के पास भी है। शब्दावली दोनों की अलग-अलग है; लेकिन बात तो एक ही है। अगर मनोचिकित्सा की दृष्टि से महावीर का अध्ययन किया जाए तो बहुत कुछ ऐसा मिल सकता है जो फ्रायड व जूंग की कल्पना से भी गहन तथा व्यापक है। जीवन का मूल्य क्या है? कुछ भी नहीं, क्योंकि हर चीज का मूल्य किसी के सन्दर्भ में ही आँका जा सकता है। जीवन के सन्दर्भ में हम हर चीज का मूल्य आँकते हैं। जीवन सबकी कसौटी है, लेकिन जीवन की कोई कसौटी नहीं। जीवन से ऊपर कोई सत्ता ही नहीं। मृत्यु भी नहीं; क्योंकि जीवन-मृत्यु के दोनों ओर रहता है, पूर्व भी, पश्चात् भी। जीवन अपने में सर्वोपरि मूल्य है। इसीलिए जिजीविषा सबसे बड़ी एषणा है। जीवन चेतना है; चेतना आत्मा का स्वभाव है। सारा-का-सारा अध्यात्म चेतना के अनावरण का ही विज्ञान है। सारी-की-सारी साधनाएँ जीवन को उसकी सार्वभौम सत्ता में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ही हैं। शरीर भी एक ग्रन्थि है, जो जीवन को मृत्यु से बाँधती है; अतः उसका भी अतिक्रमण अध्यात्म का लक्ष्य बना। अध्यात्म जीवन से पलायन नहीं, जीवन को उसे सीमित करने वाली ग्रन्थियों से मुक्त कर सर्वोपरि एवं सार्वभौम परमसत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने का उपक्रम है। अतः आध्यात्मिक पुरुष जीवन से पराङ्मुख नहीं, उसके अभिमुख हो कर चल रहा है।

जो जीवन से ही पराङ्मुख है, वह आध्यात्मिक पुरुष नहीं हो सकता, मानसिक चिकित्सालय का भरीज जरूर कभी-न-कभी होने वाला है। काण्ट के शब्दों में वह 'संकल्प के पागलपन' का शिकार है, महावीर के शब्दों में नारकी।

जीवन पर जब हम कोई काल्पनिक मूल्य आरोपित कर देते हैं तब इस पागलपन की शुरुआत होती है, तब जीवन स्वयं अपने में कोई मूल्य नहीं रहता। वह केवल एक साधन बन जाता है किसी अन्य उपलब्धि का जो उसका मूल्य बन जाती है; तब जीवन में सन्तुष्टि स्वयं जीवन से नहीं, जीवन की सारी ऊर्जा लगा कर उस उपलब्धि पर पहुँचने में होती है। हम उसके जितना करीब होते हैं, उतना ही हमें अपना जीवन सार्थक लगता है, जितना उससे दूर होते जाते हैं, जीवन उतना ही निरर्थक हो जाता है। उस उपलब्धि तक पहुँचाने में सफलता ही जीवन से सन्तोष का, असफलता ही जीवन से असन्तोष की स्रोत बन जाती है। उस तक हम कभी पहुँच नहीं पाते, क्योंकि वह वस्तु नहीं, एक आदर्श होती है। जितना हम उसके समीप पहुँचते हैं, उतनी ही वह हमसे दूर होती जाती है। हम अपने को थका डालते हैं, उस तक पहुँचने की दौड़ में, और असफलता के साथ-साथ हमारी निराशा तथा जीवन के प्रति रागात्मकता का बोध कम होता जाता है। वह सुदूर आदर्श हमें इसलिए नहीं मिलता कि वह कोई वस्तु नहीं, वस्तु पर आरोपित विचार है। प्राप्य वस्तु तक पहुँचने के बाद भी हम असन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि उससे भी आगे कोई दूसरी वस्तु को हमारा आदर्श अपना लक्ष्य बना लेता है। और इस प्रकार यह एक अप्राप्य लक्ष्य के पीछे जीवन-भर की थका देने वाली यात्रा है जिसका परिणाम होता है अपने आप से असन्तोष, जीवन से असन्तोष, दूसरों से असन्तोष, अपनी क्षमताओं से असन्तोष, अपनी परिस्थितियों से असन्तोष, हीनता की प्रतीति, ऊब, एकरसता, निराशा और सबके अन्त में अवसाद एवं मुमूर्षा।

महावीर ने जो अपरिग्रह का सूत्र दिया, वह इसीलिए था कि जीवन को, जो स्वयं अपने में परिपूर्ण मूल्य है, किसी अन्य मूल्य की प्राप्ति का साधन न बनाये। हर वस्तु का मूल्य जीवन के प्रति उसकी उपादेयता के कारण है; लेकिन जीवन का मूल्य किसी वस्तु के प्रति उपादेयता पर नहीं टिकाया जा सकता। अपरिग्रह का अर्थ वस्तु का अभाव नहीं, वस्तु की परवाह का अभाव है; इसीलिए महावीर ने यहाँ तक कहा कि अपरिग्रही के मस्तक पर राजमुकुट भी रखा हो तो भी उसका स्वभाव नहीं बदलता, वह परिग्रही नहीं होता। परिग्रह वस्तु का त्याग नहीं, हर चीज के प्रति अपने जीवन की दासतामयी दृष्टि का त्याग है; जीवन को किसी भी चीज का साधन मानने की विकृत दृष्टि का सुधर जाना है। फिर जीवन में चाहे कुछ भी न रहे, या सब कुछ रहे, प्रजावान पुरुष के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अप्रज्ञा ही जीवन की वस्तु-जगत् की उपलब्धियों का, जो खुद जीवन के प्रति उपयोगिता के कारण ही मूल्यवती हैं, साधन बना कर उनके आधार पर जीवन का मूल्य आँकती है। यहीं से हमारा अपने प्रति, अपने देश-काल-भाव-क्षेत्र

और दूसरे सब के प्रति अरति का भाव जाग्रत होता है, जो नारकीयता का परिचायक है, मापदण्ड है। अपरिग्रह जीवन की जीवन के रूप में साधना है। परिग्रह जीवन की वस्तुओं की प्राप्ति के साधन के रूप में नियोजन तथा उसमें सफलता-असफलता के आधार पर जीवन का विकृत मूल्यांकन है। इस दृष्टि को हमें स्पष्टतः समझ लेना चाहिये।

यूनान में एक राजा था सिसिफस। उसने, कहते हैं कि मृत्यु को बन्दी बना लिया। अब मरना बन्द हो गया सब जीवों का; लेकिन रोग कायम थे, बुढ़ापा कायम था, दुःख कायम थे, वेदनाएँ-ब्यथाएँ कायम थीं; जिनसे मृत्यु एक छुटकारा थी। नया कुछ भी पैदा होना बन्द हो गया। पुराना सब कुछ जीर्ण-शीर्ण होकर भी बना रहा, और जर्जर होता गया; अन्ततः उसे मृत्यु को छोड़ना पड़ा। छूटते ही मृत्यु ने सिसिफस को अपना शिकार बनाया। मरने के बाद वह नरक में गया। वहाँ उसके लिए यातना की एक विशेष व्यवस्था की गयी। एक पहाड़ था। उस पर उसे एक विशालकाय गोल पत्थर हाथों तथा कन्धों से धकेल कर चढ़ाना पड़ता था। चोटी पर पहुँचते ही वह पत्थर लुढ़क कर फिर नीचे आ जाता। कहते हैं कि आज भी सिसिफस का उस चट्टान को अनन्तकाल तक उस पर्वत पर चढ़ाते रहने का तथा हर बार उसका लुढ़क कर नीचे आ जाने का क्रम जारी है। एक ऐसा लक्ष्य जिसकी पूर्ति में वह रात-दिन लगा रहता है, और जो पूर्ण होते ही पुनः हमें पूर्वस्थिति में ला देता है और एक ही कार्य बार-बार हमें करना पड़ता है। सब कुछ हमने उसी पर लगा रखा है। यह नरक सिसिफस को मिला; लेकिन इसी नरक की बात तो महावीर कह रहे हैं। वह जो कुछ अलभ्य पाने के लिए दिन-रात आतुर हो कर दौड़ रहा है, उसे पाये बिना सन्तुष्ट नहीं होता, उसे पाने के सामर्थ्य का विश्वास नहीं होता, उससे विरत हो नहीं सकता, उसमें रत भी नहीं हो पाता; क्योंकि यह एक ही क्रम अनन्त बार अपने को दुहराता जाता है। यह सिसिफस की ही अवस्था है, बिना मौत के जीवन की, बिना दुःख के सुख की, विरोध के शक्ति की असंभव पिपासा, जिससे आतुर होकर उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, किसी से भी स्नेह नहीं रहता, किसी पर विश्वास नहीं होता, कुछ भी वांछनीय नहीं लगता, कहीं आनन्द और सन्तोष की प्रतीति नहीं होती।

हर वर्ष संसार-भर के मानसिक चिकित्सालयों में लाखों-करोड़ों अवसाद (डिप्रेशन), चिन्ता-मनोस्नायुरोग (एंग्जाइटी), न्यूरोसिस, भय (फोबिया), उन्माद (मेनिया) तथा व्यक्तित्व-भ्रंश (डिमेन्सिया प्रिकोक्स) के रोगी आते हैं जिनको जीवन में कहीं कुछ भी एषणीय नहीं लगता, हर चीज से भय लगता है, निराशा होती है, दीनभाव बढ़ता है, अक्षमता का बोध फैलता है। वे सब महावीर के शब्दों में 'नारत' हैं, 'नारति' के 'निवासी' हैं, नारकीय हैं। उनकी अपनी अप्रज्ञा ने ही उन्हें ऐसा बनाया है। अपनी प्रज्ञा के जागरण से ही, वे इससे निकल सकते हैं। महावीर का सन्देश इसमें स्पष्ट है—'अपरिष्णाए कंदंति' (प्रज्ञा का निष्पन्दन, प्राणों का क्रन्दन)। □

आपको ही पीट डाला। मुझे क्या पता था कि आप ही दादू भगत हैं। आप तो सड़क साफ कर रहे थे।

दादू मुस्कराते हुए बोले—'मैं सड़क ही तो साफ करता हूँ। आत्म-दर्शन की ओर जाने वाली सड़क बिल्कुल सीधी है। इस पर जब काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार की कँटीली झाड़ियाँ उग आती हैं, तब लोगों के लिए उस पर चलना कठिन हो जाता है। बहुत अधिक झाड़ियाँ उग जाएँ, तो मार्ग लुप्त हो जाता है। वह आध्यात्मिक जगत् की बात है, यह भौतिक संसार की। इस सड़क पर झाड़-सँकाड़ बहुत हैं। उन्हें दूर कर रहा हूँ। जिससे यात्रियों को कष्ट न हो।'

कोतवाल ने दुःख के साथ कहा—'परन्तु मैं जब आपसे पूछता रहा तब आपने बताया क्यों नहीं कि आप ही दादू भगत हैं? मुझे क्षमा कर दीजिये, मुझ से बहुत बड़ा पाप हुआ है।'

दादू जोर से हँस पड़े; बोले—'कुछ नहीं किया तुमने। एक व्यक्ति एक घड़ा खरीदता है, तो उसे भी ठोक-बजा कर देख लेता है। तुम तो जीवन का माग दिखाने वाले गुरु को खोज रहे थे। ठोक-बजा कर देख लिया तो हर्ज ही क्या हुआ?'

□ आनन्द स्वामी

(बच्चों हम, प्रश्नों की भीड़ से : पृष्ठ २८ का शेष)

गांधीजी ने स्पर्धा से दूर रहकर मनुष्य को श्रम की महत्ता में ही तल्लीन रहने की शिक्षा दी है। श्रम के प्रति ईमानदारी और लगन ही व्यक्ति को ऊँचा उठाती है। उसे सम्माननीय बनाती है। हम क्यों भूलें—एक मोची या जुलाहा समाज के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होता है, जितना एक शिक्षक, डॉक्टर या इंजीनियर। कहा जाता है कि अब्राहम लिंकन जब अमेरिका के राष्ट्रपति बने तब एक ईर्ष्यालु व्यक्ति ने उन पर व्यंग्य किया—“प्रेसीडेंट होने पर शायद तुम भूल जाओ कि कभी तुम्हारे पिता जूते सिया करते थे?” अब्राहम लिंकन ने जब यह सुना तो पिता की स्मृति में उनकी आँखें भर आयीं। बड़े भाव-विभार होकर वे बोले—“मैं कृतज्ञ हूँ आपका कि आपने ठीक समय पर मुझे पिता का स्मरण दिला दिया। मुझे उन पर बड़ा गर्व है कि मैं उनका पुत्र हूँ। शायद मैं उतना अच्छा राष्ट्रपति नहीं हो सकूँगा जितने अच्छे वे मोची थे। उन्हें मैं कभी कैसे भूल सकता हूँ?” यही है सच्चे ज्ञान का मर्म।

हम आज एक छलावे की जिन्दगी जी रहे हैं। हम वह नहीं हैं, जो दिखायी देते हैं। हम बाहर कुछ हैं और भीतर कुछ। कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। भीतर और बाहर के बीच पड़े पर्दे को उठाकर अपनी समग्रता का अहसास साधारण बात नहीं है। यही मनुष्य को ऊपर उठाता है। सुकरात, लिंकन, गांधी आदि महापुरुष ऐसे ही थे जिन्होंने अपना पूरा रूप खोलकर लोगों के सामने रखा था और उसी रूप में लोगों ने उन्हें अपनाया था; उन पर अपनी श्रद्धा अर्पित की थी। श्रद्धा को पाने के लिए व्यक्ति को बाहर नहीं, अपने आपसे ज्ञाना होता है। अपने को तराश कर कुन्दन बनाना पड़ता है और अन्त में स्वयं ही उसे सारे प्रश्नों का उत्तर बन जाना पड़ता है। और यही उत्तर जिन्दगी का सही अर्थ बन जाता है।

वाणी मुखरित हुई धरा पर

सुरभित फूलों से कोई भी, जिसने नहीं अपेक्षा की ।
आँगन के तुलसी-पौधों की, पल-भर भी न उपेक्षा की ॥

जिसने सत्य झाँकते देखा,
शिशु की भोली आँखों में ।
जिसने देखी नव उड़ान-गति,
शान्त विहग की पाँखों में ॥

जिसने घर-घर जाकर बाँटी, त्याग-अपरिग्रह-बूटी को ।
फेंक दिया तत्क्षण उतारकर, हीरा-जड़ित अँगूठी को ॥

जन्म-दिवस पर नहीं उड़ाये,
यश-वैभव के गुब्बारे ।
शान्ति-कुंज में रहा देखता,
समता-जल के फव्वारे ॥

चला पुरानी लीक छोड़कर, चला छोड़कर पगडंडी ।
आत्म-विदाई समारोह पर, भरी नहीं सांसें ठंडी ॥

अजर - अमर - अक्षय - अविनाशी,
सत्य-समाया कण-कण में ।
जिसे मिली अनुभूति अलौकिक,
ज्ञान-संपदा वितरण में ॥

जिसने की दिन-रात साधना, मानव के कल्याण की ।
वाणी मुखरित हुई धरा पर, महावीर भगवान् की ॥
प्राण दीप की ज्योति जलाकर, रोज मनाई दीवाली ।
इतनी भरी रोशनी घर-घर, रहा न कोई घर खाली ॥

आत्म-प्रेम की पिचकारी में,
संयम की केशर घोली ।
समता की कुंजों में जिसने,
जीवन-भर खेली होली ॥

जिसने धरती के आँगन में, बीज अहिंसा का बोया ।
परिग्रह, तृष्णा, मोह, स्वार्थ का, बोझ न कंधों पर ढोया ॥

ब्रह्म-शोध की चर्या को,
जिसने ब्रह्मचर्य माना ।

संयम तप सहिष्णुता में हो,
जीवन का सुख पहिचाना ॥

बदल दिये परमार्थ भाव में, जिसने अर्थ-स्वार्थ सारे ।
आत्म-तत्त्व को किया उजागर, भंवर, निर्जरा व्रत धारे ॥

बंद किये बाहर पट जिसने,
हँसकर अन्तर्-पट खोले ।
प्रेम-सने ढाई आखर में,
बोल गया सब अनबोले ॥

किया सजग कर्मों के बँध से, स्त्री समाधि सद्ज्ञान की ।
वाणी मुखरित हुई धरा पर, महावीर भगवान् की ॥
सूरज ने वे दिन देखे हैं, तारों ने देखी रातें ।
करता था जो अपने ही से, सिद्धि-साधना की बातें ॥

आगे बढ़ता गया रात-दिन,
अग्नि-समान उठा ऊपर ।
हुए पलायन आत्म-तेज से,
विषय वासना के विषधर ॥

आत्म-प्रेम का शंख फूँककर, बैठ गया हर पनघट पर ।
बकरी-बाघ लगे जल पीने, समता-सरिता के तट पर ॥

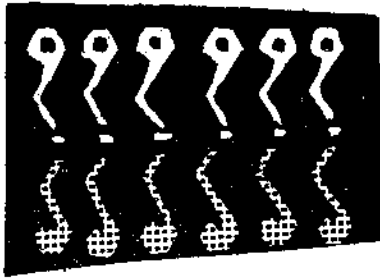
जाति-पाँत का, ऊँच-नीच का,
भेद न जिसने पहिचाना ।
मानव-सेवारत जीवन ही,
सर्वोपरि जीवन जाना ॥

छल-प्रपंच की घास-फूस को, करता रहा सदा स्वाहा ।
कभी किसी का सपने में भी, जिसने बुरा नहीं चाहा ॥

द्वन्द्व-आचरण-भार पलक का,
सह न सका जो आँखों पर ।
पारदर्शनी दृष्टि, न जिसकी-
टिकी कभी भी लाखों पर ॥

जिसने अंतिम रेस न खींची, अनेकान्त के ज्ञान की ।
वाणी मुखरित हुई धरा पर, महावीर भगवान् की ॥

□ □ बाबूलाल 'जलज'



बचें हम प्रश्नों की भीड़ से

“हमारे जीवन में जो भी समस्याएँ हैं, जो भी प्रश्न हमारे सामने हैं, और इनके जिन उत्तरों की तलाश हमें है, वे दूसरों से कभी नहीं पाये जा सकते, और यदि कभी उनसे मिले भी तो ऐसे सुलभ उत्तरों का हमारे जीवन में कदाचित् ही कोई महत्त्व हो। जीवन के ठीक-ठीक उत्तर तो हमें स्वयं अपनी शक्ति, विश्वास, और बुद्धि से ढूँढ़ने पड़ते हैं। □ डॉ. कुन्तल गोयल

हम प्रश्नों की भीड़ में खड़े हुए हैं और प्रश्नों को ही जी रहे हैं। प्रश्नों के बोझ को सिर पर लादे, मन-मस्तिष्क को भारी किये, ऊबे-थके, निराश से, उलझन में पड़े एक ही स्थान पर खड़े हैं। यह भूलते हुए कि कुछ प्रश्न निरर्थक भी होते हैं, जिनका कोई प्रयोजन नहीं होता, कोई उत्तर नहीं होता। ऐसे अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हम अपना कितना समय और कितनी शक्ति नष्ट कर देते हैं, इसका आभास तक हमें नहीं होता। हम तो बस गणित के समीकरण की तरह तत्काल उनका हल पा लेना चाहते हैं और जितनी अधिक हम शक्ति लगाते हैं, उतना अधिक हम प्रश्नों में उलझते जाते हैं।

इस सन्दर्भ में एक विचारक का कथन है कि वे ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं, वे ही उत्तर खोजने जैसे हैं जिनसे हमारा जीवन बदलता हो, जिनसे हमारे जीवन में क्रान्ति आती हो, जिनसे हमारा जीवन नया होता हो, जिनसे हमारा अनुभव और ज्ञान नयी दिशाओं को जानता हो, किन्हीं नये क्षेत्रों में प्रवेश करता हो। जिन उत्तरों और प्रश्नों से हम वहीं-के-वहीं खड़े रह जाते हैं, उनका कोई मूल्य नहीं है अतः उनको न तो कभी पूछने की जरूरत है, न उनके उत्तर खोजने की। जीवन में फर्क तभी पड़ता है जब किसी व्यक्ति को कुछ स्पष्ट बोध होते हों। प्रश्नों से घिरे रहकर अपने मन-मस्तिष्क को उत्तर ढूँढ़ने में खपा देने से कुछ प्राप्त नहीं होता। प्राप्त होता है कुछ, उपलब्धि होती है कुछ, तो स्वयं के अनुभव से और ज्ञान से। ज्ञानवर्द्धन के लिए उपयोगी होता है चिन्तन और मनन। किसी से कुछ पूछकर या मात्र सोच-विचार लेने से ही हम कुछ नहीं पा सकते। पाने के लिए तो हमें निरन्तर अपने जीवन का विकास करना होगा, अपने अनुभवों से लाभ उठाकर संचित ज्ञान-राशि में गहराई लानी होगी। ज्ञान का विस्तार और गहराई ही जीवन को गति देती है, उसका विकास करती है।

एक बात और भी है। हमारे जीवन में जो भी समस्याएँ हैं, जो भी प्रश्न हमारे सामने हैं, और जिन उत्तरों की हमें तलाश है, वे दूसरों से कभी नहीं पाये जा सकते और

ऐसे सुलभ उत्तरों का हमारे जीवन में कदाचित् कोई महत्त्व भी नहीं है। जीवन के ठीक-ठीक उत्तर तो स्वयं ही अपनी शक्ति और बुद्धि से ढूँढ़ने पड़ते हैं। आज मात्र डिग्रियों को लोग शिक्षा का मानदण्ड मान बैठे हैं। जितनी ऊँची डिग्री व्यक्ति के पास होगी, वह उतना ही योग्य समझा जाएगा। वह उतनी ही ऊँची नौकरी का प्रत्याशी माना जाएगा। ऊँची डिग्री, ऊँची नौकरी, ऊँचा वेतन और ऊँची सुख-सुविधाएँ ही आज जीवन की पर्याय बन गयी हैं। और इसीलिए, किसी भी तरह डिग्री पा लेने की कशमकश आज जीवन का शीर्ष-बिन्दु है। किसी भी तरह येन-केन-प्रकारेण हमें परीक्षा पास करनी है। अच्छी श्रेणी पानी है और फिर अच्छी नौकरी। जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य और एकमात्र ध्येय है, जिसे पाने के लिए हम कुछ भी कर सकने के लिए लालायित हैं, प्रयत्न-शील हैं; पर ज्ञानियों की बात की जाए, मनीषियों की बात की जाए और महापुरुषों की बात की जाए, तो ये ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ, ऊँचा पद और प्रतिष्ठा उनके लिए निरी माटी तुल्य थे। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। संत थे। एक जुलाहा-मात्र। पर अपने व्यवसाय में निष्णात थे। इस कला का धनोपार्जन से कोई संबंध नहीं था। वे तो बस अपनी कला पर मनःप्राण से निछावर थे। कला के प्रति समर्पित होना आसान नहीं है। कबीर को बड़ी-बड़ी पोथियों से कोई प्रयोजन नहीं था। वे तो बस संत थे। मनीषी थे। प्रेम का बस ढाई आखर ही जानते थे और इस ढाई आखर के मर्म को अनुभूत कर वे सारे विश्व में अमर हो गये। उनका कहना भी था—ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय। जिसने भी प्रेम के इस ढाई अक्षर के मर्म को जान लिया, उसने जीवन का सत्य पा लिया, जीवन को समझ लिया और सही अर्थों में जीवन जी लिया। पण्डित होने के लिए किसी डिग्री की जरूरत नहीं है। मोटी-मोटी किताबों में सिर खपाने की जरूरत नहीं है। पण्डित होने के लिए केवल ज्ञानवान होना आवश्यक है; अनुभवी होना आवश्यक है। जो व्यक्ति जन्मना अपनी श्रेष्ठता का दम्भ भरते हैं या प्रमाण-पत्रों को अपनी विद्वत्ता का प्रमाण मानते हैं, वे बड़े धोखे में हैं।

डिग्रियों से व्यक्ति ज्ञान नहीं पा सकता वरन् एक स्पर्द्धा में उतरता है। स्पर्द्धा दूसरों से आगे बढ़ने की, दूसरों से अच्छा पद पाने की, समाज में प्रतिष्ठा पाने की, और भी अधिक सुख-सुविधाएँ पाने की। स्पर्द्धा का कहीं अन्त नहीं है। जितने भी महा-पुरुष हुए हैं, उन्होंने जीवन को निरर्थक कार्यों में, लक्ष्यहीन मार्गों में नहीं भटकाया है। किसी ने कहा भी है—‘हमारे पास समय बहुत थोड़ा है और हमें चलना बहुत है’। हमें बहुत से कार्य करने हैं। हमारे सामने तो पग-पग पर स्पर्द्धा है। किस-किसको पराजित किया जाए? किस-किस को चुनौती दी जाए। सारी महत्त्वपूर्ण बातों को भूलकर केवल दूसरों को जीतने और उन्हें पराजित कर आगे निकल जाने की होड़ में यही तो होता है कि व्यक्ति को अपने बहुमूल्य समय और अपनी बेशकीमती शक्ति को नष्ट कर स्वयं पराजित हो बैठना है। उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यही स्पर्द्धा मनुष्य-मनुष्य के बीच जहर के बीज बोती है। यही उनके बीच विभाजन का कारण बनती है।

(शेष पृष्ठ ७८ पर)

सम्प्रदाय

□ यदि कहूँ कि मेरी दृष्टि में सम्प्रदाय वह कीचड़ है, जिसमें जो फँसता है फँसा ही रहता है, और फँसा हुआ आदमी उसी में रम जाता है। धीरे-धीरे वह उसमें से निकल भागने का लक्ष्य भी खो देता है, और दूसरों के फँस जाने की शुभकामना करने लगता है, प्रयत्न करता है।

□ सम्प्रदाय : कमजोर आदमी के शोषण का एक ऐसा लिहाफ है, जो दीखता नहीं है, पर हर उस आदमी पर चढ़ा हुआ वह होता है, जो कहीं शोषक है, कहीं शोषित है।

□ सुरेश 'सरल'

विभिन्न सम्प्रदाय बनाये किसने हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर मेरे पास है, वह आधुनिक विद्वानों की तरह साधारण और पत्नियों की तरह आकर्षणहीन हो सकता है, पर है उत्तर, एक विवेचनापूर्ण उत्तर।

आप अच्छा सूट (Suit) पहिन कर निकलते हैं घर से। रास्ते में मित्र मिल जाता है, वह पूछ बैठता —सूट कहाँ मिलाया यार, जमक रहा है, या सूट किमने बनाया ? मुन्दर है !

आपका ठाठ बना दिया है सूट ने, अतः आप दर्जी का ठाठ बनाते हुए बतलाते हैं—“अमुक टेलर्स” ने।

आपके सम्प्रदाय भी दर्जी किसम के लोगों ने ही तो बनाये हैं। ये दर्जी किसिम के लोग वे लोग हैं, जो अच्छे खासे कपड़े पहले काटते हैं, फिर सीने बैठते हैं। सीते उसी के माफिक हैं, जो उन्हें पसा देता है, पर कपड़ा सीने के बाद जो चिदियाँ बचती हैं, या बचा ली जाती हैं उनसे किसी अन्य के कपड़े की मुडोलता बढ़ाई जाती है। चन्द उपजातियों का विकृत—सम्प्रदाय—भी तो पहले कपड़े की तरह काटा जाता है, फिर उससे काट कर निकाले गये चिदीनुमा आदमी को किसी अन्य सम्प्रदाय में ठूसकर उसकी मुडोलता बढ़ायी जाती है। यह कटाई-मिलाई का 'विशेषज्ञ' युगारम्भ से सम्प्रदाय बनाकर पहिनता-पहिनता रहा है। अच्छा सूट, बेकार सूट, ओछा सूट, डीला सूट; की तरह अच्छा सम्प्रदाय, लोखड़ सम्प्रदाय, प्रबुद्ध सम्प्रदाय, सुषुप्त सम्प्रदाय।

सम्प्रदाय का उपयोग भी हम सूट की भाँति करते हैं। सम्प्रदाय पहिनने या उतारने की वस्तु नहीं है, फिर भी उसका इस्तेमाल सूट जैसा ही करते हैं हम। सूट भी तो मात्र पहिनने, या उतारने की वस्तु नहीं है। सूट से जो अन्य काम सधते हैं, वे हैं—रौब गाँठने के, या स्तर बनाने के। सम्प्रदाय से भी तो हम यही काम ले रहे हैं—सम्प्रदाय के नाम पर अपना स्तर बताने-बनाने का काम।

सामने वाले से उच्च दीखने के लिए किसी दर्जी से हमने उच्च किसिम का 'सम्प्रदाय' मिला डाला। बड़े दर्जी से निर्मित बड़े (महान्) सम्प्रदाय के हम एक अंग

बन गये। हमने सिद्ध करना शुरू किया—'हम बड़े सम्प्रदाय के हैं इसलिए हम बड़े हैं। तब लगा हमारे सम्प्रदाय का दर्जा भी बढ़ रहा होगा। शेष सम्प्रदाय छोटे हैं, सो उसके लोग भी छोटे हैं, दर्जा भी। यह है हमारे तथाकथित सम्प्रदाय के निर्माण-काल और निर्माता का इंट्रोडक्शन। साम्प्रदायिकता की होड़ में आदमी-आदमी से बंटता गया, और बंट-बंट कर नये सम्प्रदाय बनाता गया, बंट हुआ आदमी अपने साथ सम्प्रदायों को भी बांट ले गया। इसे आप इस तरह समझें—एक थाली में मिठाई जमाइये, जम जाने के बाद एक पैसे चाकू से उसे थप्पियों (टुकड़ों) में काटिये। थप्पियाँ उठाइये—वह मिठाई ही मानी जाएगी, पूरी थाली उठाइये—वह भी मिठाई होगी। ठीक ऐसा ही हमारा आदमी थप्पियों के रूप में बंटता चला गया किसी 'पैसे' के माध्यम से और वह हर क्रम पर सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता रहा। जो आदमी आदमी न रह पाया, सम्प्रदाय हो गया/कर दिया गया। सम्प्रदाय में बंटा आदमी तब कोई नया स्वरूप न ले सका, उसी के अंशज-वंशज में विभक्त होता गया।

आदमी ज्यों-ज्यों आदमी से बंटता-हटता गया; घोर सम्प्रदायवादी होता गया। एक सम्प्रदायवादी से सार्वजनिक हितों की आशा नहीं की जा सकती—यह सभी जानते हैं।

सम्प्रदाय व्यक्ति के गुलाम-काल में जहर सिद्ध होता है। गुलाम आदमी अपना सम्प्रदाय जताकर कुछ नहीं पा सकता, न ही अपने तथाकथित सम्प्रदाय की रक्षा के सूत्र ढूँढ़ सकता है, परन्तु व्यक्ति के सत्ता-काल में सम्प्रदाय एक अमृत-कलश सिद्ध होता है, जब वह मात्र सम्प्रदाय के आधार पर अपनी सत्ता के सूत्र सबल करता है और सत्ता का सुख भोगता है। सत्ता बनाम राजनीति में सम्प्रदाय की व्यूह-रचना पूर्वकाल से ही किञ्चित् सफलता का श्रेय देती रही है सत्ता-पुरुषों को।

कुछ ठहरकर एक और बिन्दु पर विचार करना होगा। समाज और सम्प्रदाय की भूल-भुलैया पर। समाज अलग है, सम्प्रदाय अलग है, पर स्वार्थ-सिद्धि के समय हमारे चश्मे से दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता (परन्तु अन्तर है)। समाज का आधार 'प्राणी' है, सम्प्रदाय का आधार जाति है, वर्ग है, वर्ण है। समाज व्यापक क्षेत्रफल लेकर चलता है, सम्प्रदाय का क्षेत्र सीमित है, किसी घेरेबन्दी में है, अतः समाज और सम्प्रदाय की शाब्दिक भूल-भुलैया सधन भी है, गहन भी है। इसे हम समझते भी हैं, संभवतः इसीलिए समाज के नाम पर हमारे पास सहानुभूति है, सम्प्रदाय के नाम पर 'चुप्पी'।

सम्प्रदाय : मनुष्य द्वारा निर्मित किन्तु अनिर्णित वह 'विवाद' है जिसका उपयोग स्वार्थसिद्धि और अहम् तुष्टि के लिए किया जाता है।

सम्प्रदाय मेरी दृष्टि में भी वही-वही कुछ हो सकता है जो आपकी दृष्टि में है। जब मैं राजनीति के मंच पर स्थापित एक सलोनी कुर्सी पर बैठना चाहता हूँ तो मुझे कुछ मतों की आवश्यकता होती है। जरूरी है कि ये 'मत' आदमियों के ही हों (जानवरों के मत अभी सम्मिलित नहीं किये जाते, चलन नहीं है, पर सम्प्रदाय के नाम पर एक दिन जानवरों के मतों की भी गणना होने लगेगी); किन्तु जब, आदमी से समर्थन पाने में कुछ कठिनाई होने लगती है, तब हमारे भीतर का चुस्त राजनीतिज्ञ जादू करता है, वह उस आदमी-विशेष को सम्प्रदाय से जोड़ देता है और खुद को सम्प्रदाय का परम चिन्तक विज्ञापित कर समर्थन के टुकड़े बटोर कर ले जाता है। कभी-कभी सम्प्रदाय का उपयोग एक वैशाखी की तरह भी होता है। वैशाखी पर चढ़ने वाला, चढ़कर आसमान के तारे छू लेता है और बाद में अपने ही पाद-प्रहार से उस वैशाखी को

गिराकर भूमिसात कर देता है। बड़ी बात तो यह है कि सम्प्रदाय के नाम पर आदमी के कंधे का उपयोग वैशाखी की तरह हो जाने के बाद भी आदमी को भनक नहीं पड़ती।

वैशाखी की तरह, कभी चप्पलों की तरह, जिस सम्प्रदाय का उपयोग हो, वह सम्प्रदाय धिसता ही जाएगा और चप्पलों से बढ़कर मुकुट बन ही नहीं सकेगा।

यदि कहूँ कि मेरी दृष्टि में सम्प्रदाय वह कीचड़ है, जहाँ जो फँसता है, फँसा ही रह जाता है; फँसा हुआ आदमी उसी में रम जाता है, धीरे-धीरे वह निकलकर भागने का लक्ष्य भी खो देता है, और दूसरे पथिकों को फँस जाने की कामना करने लगता है, चेष्टा करता है।

सम्प्रदाय : कमजोर आदमी के शोषण का एक ऐसा आकर्षक लिहाफ (कव्हर) है, जो देखता नहीं, पर हर उस आदमी पर चढ़ा हुआ होता है, जो कहीं शोषक है, कहीं शोषित।

‘समाजगत’ और ‘सम्प्रदायगत’ में काफी अन्तर है। जब आप मंदिर के आँगन में महावीर-जयंती मनाते हैं तो वह ‘समाजगत’ कहलाता है, पर जब आप मकान के कमरे में भुजे का ‘कन्छेदन’ मनाते हैं तो वह सम्प्रदायगत कहलायेगा। ‘समाजगत’ में व्यापकता के सूत्र हैं, ‘सम्प्रदायगत’ में संकीर्णता के। समाज के कार्य, बोलचाल संसदीय होंगे, सम्प्रदाय के घरेलू। कृपया, घरेलू का अर्थ गार्हस्थ्यक न लें।

हमारी—आम आदमी की—प्रगति सम्प्रदाय से चलकर समाज तक आती है और अवरुद्ध हो जाती है। वह क्षण हम पकड़ते ही नहीं जब हमारा ‘चिन्तन-मनन’ ‘सम्प्रदायगत’ से ऊपर, ‘समाजगत’ से भी ऊपर ‘राष्ट्रगत’ कहलाये।

इसके लिए बैठना जहाँ का तहाँ है, बस, चिन्तन और विचार-धारा को ही आगे दायें-बायें बढ़ाना होता है। मोड़ना होता है।

हम एक अच्छे सम्प्रदाय के सदस्य कहलाने के बजाय एक अच्छे देश के नागरिक कहलायें तो हमारा राष्ट्रीय गौरव बढ़ता है। सम्प्रदाय अग्नि है, या यों कहें साम्प्रदायिकता अदृश्य ज्वर है, जिससे बचकर चलने वाला आदमी ही अधिक प्रगति कर सका है, अधिक देशभक्त बन सका है। शेष जो सम्प्रदायगत कार्यों में, सम्प्रदायगत धर्म में, सम्प्रदायगत संस्था से हिलगे-टंगे हैं वे अपने ही घर में बाजार लगाने का शौक पूरा कर रहे हैं। हाँ, इससे एक अंधा लाभ अवश्य है, सम्प्रदाय के नाम पर हज़ार-पाँच सौ लोगों के बीच एकता, या संगठन के सूत्र अवश्य पुष्ट किये जा सकते हैं, पर उन सूत्रों से जो संगठन बनते हैं, वे और उनके कार्य, देशहित तो क्या समाजहित में तक नहीं गिने जा रहे हैं। वर्षों तक सम्प्रदाय को जीवित रखने वाले भी आखरी में अपने कार्यों की तुलना दीवार से सिर मारते रहने के तुल्य मान बैठे हैं।

संक्षेप में बात समाप्त करनी है तो यह जान लीजिये कि ‘सम्प्रदाय’ में केवल ‘दंगे’, ‘नंगे’ और ‘चंगे’ का महत्त्व मिलता है। ऐसे तत्त्व ही सम्प्रदाय अधिक चलाते हैं। ‘दंगे’ आप जानते हैं—झगड़े-फसाद। ‘नंगे’ से मेरा मतलब गरीब वर्ग से है, सर्वहारा-वर्ग से। ‘चंगे’ से एक विचित्र अर्थ लिया है—चुस्त-चालाक और अपनी ज़िद पर अड़े रहने वाले स्वार्थी लोग। सम्प्रदायों में यही-यही देखने मिले हैं और साम्प्रदायिकता की आग इन तीनों तत्त्वों के मिलन से भड़कती है। □



समस्याओं से घिरा आज का शोध-छात्र

हिन्दी में हमारा विशाल साहित्य है; किन्तु न तो उस पर अभी कोई शोध-कार्य हुआ है और न ही उसका पूरा जखीरा बाहर आया है। केवल बनारसीदास, दौलतराम, टोडरमल जैसे तीन-चार कवियों के अतिरिक्त अभी शेष कवियों का समीचीन मूल्यांकन नहीं हो सका है।

□ डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

विद्यार्थी अपने अध्ययन-काल में ऊँची-से-ऊँची परीक्षाएँ पास करने के मुनहले स्वप्न लेता रहता है। जब वह कॉलेज में प्रवेश करता है, अपने गुरुजनों को देखता है, उनकी बड़ी-बड़ी उपाधियों को पढ़ता है; प्रोफेसरों, विभागाध्यक्षों को प्राप्त सम्मान को देखता है, तब उसकी भी इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं वह बी. ए. करता है, एम. ए. करता है और फिर पी.एच. डी. करने के लिए लालायित हो उठता है। एम. ए. चाहे उसने हिन्दी में किया हो या संस्कृत में, इतिहास में अथवा दर्शन में, वह शोध-कार्य करना चाहता है और वह भी जैन वाङ्मय से सम्बन्धित किसी विषय पर। उसने निर्णय तो ले लिया कि वह जैन विषय पर ही अपना शोध-प्रबन्ध लिखेगा, क्योंकि उसने कितने ही व्यक्तियों से चर्चाएँ सुन रखी थीं कि जैन साहित्य से सम्बन्धित विषयों पर अभी बहुत कम शोध-कार्य हुआ है, लेकिन वह इस बात से अनभिज्ञ है कि शोध-कार्य क्यों कम हुआ? वस सुन लिया कि काफी गुंजाइश है; अतः हर्ष और उमंग से उसने भी निर्णय ले लिया। लेकिन इसके पश्चात् छात्र-छात्राएँ अनेक समस्याओं से घिर जाते हैं तथा भयान्कृत होकर कुछ तो बीच में से छोड़ भागते हैं; किन्तु जो इस क्षेत्र में डटे रहते हैं, उनकी भी हालत बड़ी पतली हो जाती है। शोधार्थियों के समक्ष कौन-कौन-सी प्रमुख समस्याएँ आती हैं, इन्हीं पर प्रस्तुत लेख में विचार किया गया है।

निदेशक चुनने की समस्या

सर्वप्रथम समस्या आती है निदेशक चुनने की। विश्वविद्यालय में जो आचार्य एवं प्राध्यापक निदेशक होते हैं उनमें से अधिकांश के पास स्थान नहीं होते और यदि सौभाग्य से किसी के पास स्थान खाली मिल जाए और वह विद्यार्थी को अपने अधीन ले भी ले तो वह तो जैन साहित्य अथवा दर्शन का क, ख, ग भी नहीं जानता इसलिए वह नाम-मात्र का निदेशक रहेगा, बाकी सब काम शोधार्थी को ही करना पड़ेंगे। अब बेचारा शोध-छात्र फिर चक्कर में पड़ जाता है और यदि कोई शोध छात्रा हुई तो और भी मुसीबत है, क्योंकि उसका घर से बाहर निकलना भी सहज नहीं है; लेकिन चूँकि विद्यार्थी को रिसर्च करना है इसलिए वह जैन धर्म एवं दर्शन का क, ख, ग न जानने वाले आचार्य को भी अपना निदेशक चुन लेता है क्योंकि बिना निदेशक के प्रमाणपत्र के वह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत नहीं कर सकता।

निदेशक की समस्या सभी विश्वविद्यालयों में होगी। स्वयं गाइड भी कह देते हैं कि वह अमुक विद्वान् के पास चले जाँ और उन्हीं से परामर्श करता रहे। इसके अतिरिक्त कुछ प्रोफेसर तो पहले १-२ वर्ष अपने विद्यार्थियों को दों ही धुमाते रहते हैं। क्या करना है, कैसे प्रारम्भ करना है, कौन-सी पुस्तक पढ़नी है, यह न बतला कर केवल विद्यार्थी को अंधेरे में ही चक्कर लगवाते रहते हैं। प्रोफेसरों की इस प्रवृत्ति के कारण तो बहुत-से छात्र बीच में ही शोध-प्रबन्ध पूर करने में पाँच-छह वर्ष भी लग जाते हैं।

शोध-सामग्री की प्राप्ति की समस्या

गाइड के चयन के पश्चात् शोध छात्र-छात्रा को अपनी शोध-सामग्री जुटाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह मारा-मारा फिरता है। कभी किसी विद्वान् के पास तो कभी किसी पुस्तकालय में। हमारे यहाँ कोई ऐसी संस्था नहीं है, जिसके पास सम्पूर्ण जैन वाङ्मय उपलब्ध हो। दिल्ली, आगरा, जयपुर, वाराणसी, कलकत्ता, बम्बई कहीं भी आप चले जाइये सभी स्थानों पर सामग्री का अभाव रहता है। और यदि पाण्डुलिपियों की समस्या हो तो फिर और भी मुसीबत है। मेरे स्वयं के पास प्रति वर्ष १०-२० शोध-छात्र सामग्री के लिए ही आते रहते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि कम-से-कम जयपुर, दिल्ली, वाराणसी, कलकत्ता, बम्बई, पटना जैसे नगरों में ऐसे जैन पुस्तकालय हों जिनमें सभी प्रकार का जैन साहित्य उपलब्ध हो, चाहे फिर वह किसी भाषा एवं विषय का ही क्यों न हो। जैसे नेशनल लायब्रेरी में कोई भी पुस्तक छपते ही प्रकाशक को भेजनी पड़ती है, वैसे ही इन पुस्तकालयों में प्रकाशक एक-एक प्रति भेंट-स्वरूप अथवा मूल्य से भेज दें तो अच्छे शोध-पुस्तकालय वहाँ बन सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अधिकांश जैन वाङ्मय, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश में ही उपलब्ध होता है। छात्रों को इन भाषाओं का ज्ञान नहीं होता। संस्कृत में एम. ए. करने वाले छात्र को भी प्राकृत का बोध नहीं कराया जाता इसलिए हमारे सभी ऐसे ग्रन्थों के हिन्दी एवं अंग्रेजी में अनुवाद उपलब्ध होने लगे तो शोध-छात्रों को उनका अध्ययन करने में सुविधा होगी।

जैन पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें प्राप्त करना और भी मुसीबत है। पहले किसी विषय पर कितना लिखा जा चुका है, अन्य विद्वानों की क्या-क्या रायें हैं, इस बारे में जानना आवश्यक है। जैन मिहान्त भास्कर, अनेकान्त, वीर-वाणी, तीर्थकर, जैन मन्देश (शोधार्थक), शमण, जैन जर्नल जैसे कुछ पत्रों की तो फाइलें इन पुस्तकालयों में होना ही चाहिये। इसी तरह दूसरी शोध पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें होना भी आवश्यक है; क्योंकि उनमें जब कभी जैन साहित्य से सम्बन्धित लेख आया हो करते हैं।

हिन्दी में हमारा विशाल साहित्य है। किन्तु न तो उम पर कार्य हुआ है और न उसका पूरा साहित्य ही बाहर आया है; केवल बनारसीदास, दौलतराम, टोडरमल जैसे ३-४ कवियों के अतिरिक्त अभी शेष कवियों का मूल्यांकन भी ठीक से नहीं हो सका है। मुझे यह निवेदन करते हुए बड़ी प्रसन्नता है कि जयपुर में हमने श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी द्वारा जैन हिन्दी कवियों पर २० भाग प्रकाशित किये जाने की योजना तैयार की है और उसका प्रथम भाग महाकवि ब्रह्म रायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति सामने आ चुका है।

विषय-चयन की समस्या

शोध-छात्रों के सामने शोध-कार्य के लिए विषय-चयन की भी समस्या रहती है। इसका प्रमुख कारण उनका एम. ए. तक जैन साहित्य से दूर रहना है। विषय का चुनाव भी उतना ही कठिन है, जितना कि गाइड का। वैसे यह कहा जाता है कि चाहे कोई भी विषय ले लो, उसमें बहुत गुंजाइश है, लेकिन विषय कौन-सा लें? इसलिए सभी शोध-संस्थाओं में दोनों तरह के विषयों की सूची रहनी चाहिये—एक तो वे जिन पर कार्य हो चुका है तथा एक वे जिन पर कार्य किया जा सकता है। इससे शोध-छात्र को अपने विषय के चयन में बहुत आसानी होगी। अच्छे विषय का चुना जाना आवश्यक है; क्योंकि यदि शोधार्थी ने एक बार गलत विषय ले लिया तो फिर या तो उसे बीच में से ही भागना पड़ेगा, या फिर वह उसे कई वर्षों में भी पूरा नहीं कर सकेगा।

पाण्डुलिपियों की समस्या

अधिकांश जैन साहित्य शास्त्र-भण्डारों में बन्द है और ये भण्डार देश के सभी भागों में बिखरे हुए हैं। यदि राजस्थान के भण्डारों की ग्रन्थ सूचियाँ हम लोग तैयार न करते तो जो कुछ आज काम हो रहा है, वह नहीं होता। इसलिए देश के सभी शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ सूचियाँ प्रकाशित होनी चाहिये और शीघ्रता से नहीं छप सकें तो कम-से-कम हाथ से तैयार की हुई प्रतियाँ ही कुछ प्रमुख केन्द्रों पर होनी चाहिये, जिससे विद्यार्थी वहाँ जाकर उनको देख सकें। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, गुजरात, हरियाणा, देहली आदि प्रदेशों में जैन ग्रन्थों के विशाल भण्डार हैं; लेकिन उनके सूचीपत्र नहीं बनने के कारण उनका कोई उपयोग नहीं होता इसलिए मेरा सभी विद्वानों से निवेदन है यक इस दिशा में कोई ठोस योजना तैयार करें ताकि ग्रन्थो-भण्डारों की सूची का कार्य हो।

आर्थिक समस्या

शोध-छात्रों के सामने अर्थ की भी बड़ी भारी समस्या रहती है। मैं जानता हूँ कि कितने ही मेघादी छात्र अर्थभाव के कारण ही शोध-कार्य को हाथ जोड़ लेते हैं। समाज में छात्रवृत्तियों के देने की काफी चर्चा होती है। कहीं-कहीं छात्र-वृत्तियाँ दी भी जाती हैं, इस सम्बन्ध में श्री महावीर क्षेत्र का नाम लिया जा सकता है। कुछ छात्रवृत्तियाँ साहू जैन ट्रस्ट की ओर से भी दी जाती हैं तथा इन्दौर-समाज ने भी देना प्रारम्भ किया है, लेकिन एक तो इन संस्थाओं में लघु रूप में छात्रवृत्तियाँ मिलती हैं और कुछ भी मिल ही जाए इसकी कोई गारण्टी नहीं होती। मैं तो यह चाहता हूँ कि प्रत्येक शोधार्थी को कम-से-कम २५०-३०० रु. की छात्रवृत्ति ज्यों ही उसका रजिस्ट्रेशन हो जाए, प्रारम्भ हो जानी चाहिये, जिससे शान्तिपूर्वक वह अपना कार्य कर सके। छात्रवृत्ति देने में किसी प्रकार का बन्धन नहीं होना चाहिये। विद्यार्थी चाहे जैसा हो या जेनेतर, यदि वह जैन धर्म, दर्शन एवं साहित्य से सम्बन्धित विषय पर शोध-कार्य करना चाहता है तो उसे सरलता से शोध छात्रवृत्ति मिल जानी चाहिये। एक ऐसा सार्वजनिक फुल (शोध-पुष्कर) होना चाहिये तथा उसकी व्यवस्था भी एक उदार हृदय व्यक्ति के पास रहनी चाहिये। □

जैन विद्या : विकास-क्रम/कल, आज (५)

□ डॉ. राजाराम जैन

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन (पिडरुआ, सागर, १९३४) ने अहिंसा संस्कृति के महान् ग्रन्थ—यशस्तिलक-चम्पू—का हिन्दी में सर्वप्रथम सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसमें तत्कालीन सांस्कृतिक सामग्री का विश्लेषण कर जैन विद्या की गरिमा को समुन्नत किया है।

डॉ. प्रेमसुमन जैन (सिहुडी, दमोह, मध्यप्रदेश, १९४२) हमारी पीढ़ी के नवीन विकसित मुमन हैं; जिनकी सुगन्ध से हमारा साहित्य एवं शोध-जगत् सुवासित होने जा रहा है। उन्होंने उद्योतनसूरिकृत 'कुवलयमाला' कथा का सांस्कृतिक अध्ययन किया है, जिसका प्रकाशन राजकीय प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली से हुआ है। यह ग्रन्थ डॉ. मुमन के गम्भीर अध्ययन, अथक परिश्रम एवं असाधारण धैर्य का प्रतीक ग्रन्थ है।

ऐतिहासिक शोध-निबन्धों में डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन कृत—मन्वीश्वर चाणक्य का जैनत्व, डॉ. कैलाशचन्द्र जैन (उज्जैन) कृत महावीर की निर्वाण-तिथि, श्री गोपी लाल अमर (दिल्ली) कृत—जैनकाल में भारतीय दैव-प्रतीकों का रूपान्तर, पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री कृत चन्देरी-मिरौज परिवारपट्ट, पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर कृत एन्टीविवटी ऑफ जैनज्म, पं. दिगम्बरदास मुख्तियार (सहारनपुर) कृत अशोक जैनधर्मी था तथा विदेशों में जैनधर्म, मान्यखेट महान् (मान्यखेट जैन संस्थान, मलखेड द्वारा प्रकाशित, १९४७), श्री कन्हैयालाल सरावगी, पावा निर्णय आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

डॉ. (श्रीमती) सरयू व्ही. दोगी (बम्बई) जैन समाज की उन युवती महिलाओं में से हैं; जिन्होंने शोध-क्षेत्र में अछूते, उलझन-भरे कठिनतम कार्यों के करने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है। सांसारिक वैभव की गोद में पली-पुसी तथा भोग-विलास के वातावरण से घिरी हुई इस युवती शोध-छात्रा ने भौतिक सुखों की उपेक्षा कर जिनवाणी की गहन साधना की दृढ़ प्रतिज्ञा की है। इन्होंने देश-विदेश के प्राच्य ग्रन्थागारों से अद्यावधि अप्रकाशित सचित्र जैन शास्त्रों की खोज कर उनकी चित्र-

सम्पदा का सर्वप्रथम तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से गंभीर अध्ययन कर बम्बई विश्वविद्यालय से सन् १९७४-७५ में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' के विशेषांकों में उनके तद्विषयक सचित्र शोध-निबन्धों के अतिरिक्त भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित जैनकला एवं स्थापत्य नामक ग्रन्थ के तृतीय भाग (दे अध्याय ३१, पृ. ३९९ से ४२९ तक) में प्रकाशित शोध-निबन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

डॉ. सरयू बहिन अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में जैन चित्रकला की प्राध्यापक भी रह चुकी हैं। भविष्य में उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

जैन दर्शन शास्त्री एवं आचार्य उपाधिधारी जैन वैज्ञानिक—

वाराणसी के स्याद्वाद दि. जैन महाविद्यालय की यह परम्परा रही है कि उसने जैन दर्शन की शिक्षा के साथ-साथ अपने स्नातकों को लौकिक शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ भी प्रदान की हैं। यही कारण है कि उसके अनेक स्नातक एक ओर संस्कृत, प्राकृत भाषाओं एवं जैन दर्शन का उच्च अध्ययन करते रहे और दूसरी ओर विविध विज्ञानों का भी अध्ययन करते रहे। आगे चल कर परिस्थिति-वश ऐसे विद्वान् भले ही जैन समाज के सीधे सम्पर्क में रह कर जैन समाज की सेवा नहीं कर पाये, किन्तु वे जहाँ भी कार्यरत हैं, वहाँ अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए हैं और इस माध्यम से भी वे अपने श्रमणोचित आचार-विचार, सत्श्रम, सदा-चरण, उदार हृदय एवं सौमनस्य से अपने चतुर्दिक् जैनत्व की छाप छोड़ते रहते हैं। ऐसे अनेक पण्डित-वैज्ञानिकों में से कुछ का परिचय निम्न प्रकार है—

डॉ. भागचन्द्र जैन (कुदपुरा, सागर, म. प्र.) स्याद्वाद दि. जैन महाविद्यालय, वाराणसी के शास्त्री एवं आचार्यवर्ग के यशस्वी छात्रों में अग्रगण्य रहे हैं। उन्होंने सन् १९४६ के आसपास काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रसायन-शास्त्र में एम. एस.सी. में सर्वोच्च सम्मानित स्थान प्राप्त कर बंगलौर एवं अमेरिका में उच्चस्तरीय शोध-कार्य किया तथा प्रारम्भ में साहू जैन लिमिटेड में एवं वहाँ के बाद आजकल बिरला उद्योगान्तर्गत बिहार एलॉय स्टील लिमिटेड, पतरानू (बिहार) के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं। डॉ. जैन एक ओर विज्ञान के क्षेत्र में अपनी मौलिकताओं एवं प्रवीणताओं में विशिष्ट स्थान बनाये हुए हैं और दूसरी ओर वे जैन समाज के उत्थान, जैन नवयुवकों को युगानुकूल पथ-प्रदर्शन तथा जैनधर्म के वैज्ञानिक स्वरूप के प्रचार-प्रसार के लिए चिन्तित रहते हैं। अपने अमेरिकी-प्रवास में उन्होंने वहाँ के विभिन्न क्लबों एवं गिरजाघरों में जा-जाकर "जैनधर्म और ईसाई धर्म", "जैन-दर्शन एवं पाश्चात्य-दर्शन", "जैनाचार, क्रिश्चियानिटी एवं इस्लाम", "जैनधर्म विश्वधर्म है" आदि विषयों पर अनेक भाषण देकर पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की है। डॉ. जैन का विश्वास है कि जैनधर्म के सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक हैं। उनके

कथनानुसार विज्ञान के क्षेत्र में आज जो भी नित-नवीन आविष्कार हो रहे हैं, जैनाचार्य शताब्दियों पूर्व ही उनसे सुपरिचित थे।

डॉ. नन्दलाल जैन (शाहगढ़, बिजावर, म. प्र.) ने सन् १९५२ के आसपास वाराणसी से सर्वदर्शनाचार्य एवं औद्योगिक रसायनशास्त्र विज्ञान में एम. एस.सी. वर्ग में सर्वोच्च सम्मानित स्थान प्राप्त किया। कुछ वर्षों तक विविध विज्ञान महा-विद्यालयों में अध्यापन-कार्य करके उन्होंने ग्लासगो (इंग्लैण्ड) एवं वर्कले (अमेरिका) के वैज्ञानिक शोध-संस्थानों में शोध-कार्य किये और इस समय मध्यप्रदेश शासन के विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर में अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। डॉ. जैन ने जैन गणित, जैन भौतिकी, जैन वनस्पतिशास्त्र, जैन जीवविज्ञान आदि विषयों पर अनेक तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबन्ध लिखे हैं, जो उच्चस्तरीय शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। डॉ. जैन की प्रतिभा अद्भुत है। यदि इन्हें कोई उपयुक्त प्रयोगशाला मिले, तो ये प्रयोगों द्वारा जैन विज्ञान के कई तथ्यों पर विश्लेषणात्मक प्रकाश डाल सकते हैं।

प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन (प्राचार्य, शाम, महा., जावरा) ने तिलोयपण्णति, त्रिलोकसार, गणितसार (महावीराचार्य) आदि जैन ग्रन्थों के आधार पर जैन गणित का आधुनिक गणित के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है और जैन गणित की मौलिकताओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। प्रो. जैन ने अभी तक उक्त विषयक लगभग ३० शोध-निबन्ध लिखे हैं, जो यत्र-तत्र प्रकाशित हैं। इनके एक माथ पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किये जाने की आवश्यकता है।

प्रो. घासीराम जैन (मेरठ) सम्भवतः सर्वप्रथम जैन विद्वान् हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का आधुनिक विज्ञान के आलोक में अध्ययन किया। उन्होंने उसका अंग्रेजी अनुवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन कर जैन जगत् एवं विज्ञान-जगत् दोनों को ही आश्चर्यचकित किया था। प्रो. जैन का उक्त पाँचवाँ अध्याय कॉस्मालॉजी : ओल्ड एण्ड न्यू के नाम से भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली द्वारा प्रकाशित है। इस पुस्तक ने नवीन पीढ़ी के वैज्ञानिकों को बड़ी प्रेरणा प्रदान की है।

अन्य वैज्ञानिकों में डॉ. दुलीचन्द्र जैन (मुंगावली, मध्यप्रदेश), डॉ. जानचन्द्र जैन आलोक (जिजियावन, ललितपुर, उ. प्र.), डॉ. पूर्णचन्द्र जैन (कुदपुरा, सागर, म. प्र.), डॉ. त्रिलोकचन्द्र जैन (जामनगर), डॉ. राजकुमार गोयल (जामनगर), डॉ. एम. के. जैन (अमेरिका), डॉ. मोतीलाल जैन (सिलावन, झाँसी), डॉ. मोतीलाल जैन (पटियाला), डॉ. राजमल कासलीवाल (जयपुर), डॉ. शिखरचन्द्र लहरी एवं डॉ. शिखरचन्द्र जैन (दमोह) प्रमुख हैं। ये पण्डित-वैज्ञानिक अपने-अपने विज्ञान के क्षेत्रों में तो कार्यरत हैं ही, साथ ही जैन समाज एवं साहित्य की प्रगति तथा प्रचार-प्रसार हेतु भी चिन्तित हैं। जैन समाज एवं संस्थाओं को चाहिये कि उन्हें प्रोत्साहन दें तथा उनके विचारों एवं अनुभवों का लाभ उठायें।

पं. श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री दिग. जैन साहित्य के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने जैन साहित्य का इतिहास: पूर्व पीठिका (१९६३ ई.) तथा जैन साहित्य का इतिहास, भाग १-२ (१९७६ ई.) लिखकर युगों से खटकने वाली कमी को पूरा किया है। यद्यपि इनके पूर्व भी पं. नाथूरामजी प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास एवं पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश नामक इतिहास-ग्रन्थ लिखे थे जो स्वयं में अधिक महत्त्वपूर्ण भी थे, किन्तु वे केवल शोध-निबन्धों के संग्रह-मात्र थे, जैन साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नहीं। दिग. जैन साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास के अभाव में शोधार्थियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। पण्डितजी के उक्त ग्रन्थों से उक्त कमी की पूर्ति हुई है। ऐसे ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होना नितान्त आवश्यक है, जिससे कि विदेशी विद्वान् भी दिग. जैन साहित्य के मर्म एवं उसके क्रमबद्ध विकास से भलीभाँति परिचित हो सकें।

पं. नाथूरामजी प्रेमी (देवरी, सागर, म. प्र. १८८१-१९६० ई.) जैन इतिहास जगत् के भीष्म पितामह कहे जा सकते हैं, जिन्होंने अपनी ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक दुर्लभ हस्तप्रतियों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन किया। साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से उनकी निम्न रचनाएँ शोधार्थियों के लिए सन्दर्भ-ग्रन्थों का कार्य करती रहीं—(१) कर्नाटक जैन कवि, (२) विद्वद्रत्नमाला, (३) हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, (४) भट्टारक मीमांसा, (५) जैन साहित्य और इतिहास।

डॉ. हीरालाल जैन ने मध्यप्रदेश शासन के अनुरोध पर भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान (१९६२ ई.) नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें उन्होंने श्वेताम्बर जैन साहित्य के साथ-साथ दिग. जैन साहित्य के इतिहास का विवेचन भी किया है। इसके पूर्व डॉ. जैन "जैन इतिहास की पूर्व पीठिका" (१९३९ ई.) का प्रणयन कर चुके थे, जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध हुआ।

पं. के. भुजबली शास्त्री (काशीपट्टण, कर्नाटक १८९७ ई.) उन विद्वानों में से हैं, जिनका जन्म तो दक्षिण भारत में हुआ, किन्तु जिनकी कर्मभूमि प्रायः उत्तर-भारत ही रही। इस कारण दोनों प्रदेशों की जैन समाज उन्हें अपना-अपना मानकर निरन्तर सम्मानित करती रही। पण्डितजी ने कन्नड़ जैन साहित्य पर काफी कार्य किया है। अभी हाल में उन्होंने कन्नड़ के दिग. जैन कवियों का ऐतिहासिक इतिवृत्त प्रकाशित किया है जिसका नाम है "पंचयुग के जैन कवि"। इसमें उन्होंने ९४१ ई. से लेकर १२५४ ई. के मध्य होने वाले जैन साहित्य एवं साहित्यकारों का अच्छा परिचय दिया है। पण्डितजी सन् १९२३ से १९४४ तक जैन सिद्धान्त भवन, आरा के पुस्तकालयाध्यक्ष रहे। उस समय आपने जैन विद्या का गहन अध्ययन किया तथा 'जैन सिद्धान्त शास्त्र' के सम्पादक-मण्डल में रहे। आपके हिन्दी भाषा में लिखित (१) भूर्तिपूजा की आवश्यकता, (२) दिगम्बर मुद्रा का सर्वमान्यता, (३) जैन प्राकृत वाङ्मय; संस्कृत भाषा में लिखित, (४) आत्म निवेदनम्, (५) शान्ति शृंगार विलाम तथा (६) भुजबलि चरितम्; तथा कन्नड़ भाषा में लिखित (७) जैनरमूरारत्नगलु,

(८) आदर्श जैन महिलेयरु, (९) आदर्श जैन वीररु, (१०) आदर्श साहित्यगलु, (११) जैन वाङ्मय-मातृस्मृति, (१२) दैनिक षट्कर्म, (१३) निबन्ध संग्रह, (१४) प्रबन्ध पुज, (१५) समवशरण, (१६) भव्यस्मरणे, (१७) महावीरवाणी, (१८) कन्नड़ कवि चरिते, (१९) कामन कलग आदि कृतियाँ प्रमुख हैं। सम्पादित कृतियों में (२०) मुनिसुव्रत महाकाव्य, (२१) चित्रसेन पद्मावती चरितम्, (२२) भव्यानन्द, (२३) कन्नड़ प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ-सूची, (२४) प्रशस्ति-संग्रह तथा हिन्दी में अनूदित कृतियों में मुहूर्त्तदर्पण एवं भव्यानन्द प्रसिद्ध हैं। अन्य निबन्धों में कर्नाटक कविचरिते, राजाबलि कथे, जैन रामायण में रावण का चरित्र तथा द्रौपदी के पंचपतित्व पर विचार प्रसिद्ध हैं।

पं. परमानन्दजी शास्त्री (निवार, सागर, १९६५ वि. सं.) मौन-मूक माधकों में से हैं, जिन्होंने यश एवं ध्याति अथवा पुरस्कार-प्राप्ति की कामना से दूर रहकर जैन समाज एवं जैन साहित्य की सेवा के लिए अपना तिल-तिल गला दिया है। उनके अनेक ऐतिहासिक शोध-निबन्ध एवं ग्रन्थ प्रकाशित हैं; किन्तु जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह तथा जैनधर्म का इतिहास (साहित्य खण्ड द्वि. भा.) ये दो ग्रन्थ उनकी इतिहास-सम्बन्धी प्रखर प्रतिभा के परिचय के लिए पर्याप्त हैं।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (वसई धियाराम १९२२-१९७४ ई.) ने अपनी वेग-गामी गवेषणाओं में समय की गति को काफ़ी पीछे छोड़ दिया था। उन्होंने स्वल्प जीवन-काल में विविध विषयक लगभग ४० ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें उनकी अन्तिम ऐतिहासिक कृति 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' है, जो चार भागों में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोश कहा जा सकता है। इतने विस्तृत इतिहास-ग्रन्थ का लेखन जैन विद्या के अनुसन्धित्सुओं के लिए एक अत्यन्त उत्साहवर्धक विषय है। इसमें शास्त्रीजी ने पूर्व प्रकाशित एवं विवेचित सामग्री के पूर्ण सदुपयोग के साथ-साथ किन्हीं अज्ञात कारणों से अद्यावधि अप्रकाशित, उपेक्षित, धूमिल तथा लुप्तप्रायः अथवा विस्मृत अनेक तथ्यों को भी प्रकाशित कर एक महान् ऐतिहासिक कार्य किया है। आपके अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में—“आदिपुराण में प्रतिपादित भारत”, “संस्कृत काव्य के विकास में जैन-कवियों का योगदान” तथा “हिन्दी जैन-साहित्य परिशीलन” (दो भाग) हैं।

डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (सैथल, १९२० ई.) ने—“शाकम्भरी प्रदेश के सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म का योगदान” लिखकर नागौर, साँभर, अजमेर, नरायणा, मौजमाबाद, मारौठ, जोबनेर, रूपनगढ़, कालाडेहरा, भादवा, दुहू एवं रैनवाल-किशनगढ़ के प्राचीन वैभव, वहाँ के भट्टारकों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, शास्त्र-भण्डारों तथा उनमें सुरक्षित कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों एवं प्रदेश के जैन पुरातत्त्वों का सुन्दर परिचय प्रस्तुत किया है। अपने विषय का यह प्रथम ग्रन्थ है।

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री (चिरगाँव, झांसी १९३३ ई.) कद में छोटे किन्तु विद्वता में अथाह हैं। सच्चे अर्थ में यह नन्हा-सा दिखनेवाला पण्डित-डॉक्टर ज्ञान, कर्म,

भक्ति एवं श्रद्धा का तेजस्वी पुंज है, जो अनेक विघ्न-बाधाओं के बीच भी अपने कर्तव्य-कार्यों में शिथिल नहीं पड़ता। उसकी तेजस्विनी लेखनी से दर्जनों शोध-निबन्धों एवं ग्रन्थों की सर्जना हो चुकी है और विश्वास है कि भविष्य में भी होती रहेगी। ऐतिहासिकता की दृष्टि से निम्न ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—(१) भविसयत्तकहा और अपभ्रंश कथा-काव्य, (२) अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ आदि।

एतद्विषयक शोध-निबन्धों में 'द ओल्ड व्हर्जैन ऑफ जैन रामायण' (डॉ. जगदीश-चन्द्र जैन), अपभ्रंश का अद्यावधि उपलब्ध हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थ 'तिसट्टि महा-पुराण पुरिमचरितालंकाह' तथा अद्यावधि अप्रकाशित सचित्र ग्रन्थ—संतिणाहचरिउ (डॉ. राजाराम जैन, आरा), 'प्लेस ऑफ जैन अचार्याज्ज एण्ड पोएट्स इन हिन्दी ऑफ कन्नड़ लिटरेचर' (डॉ. ए. एन. उपाध्ये), श्रुतावतार कथा (पं. जुगलकिशोर मुस्तार) आदि प्रकाशित एवं बहुचर्चित हैं।

सिद्धान्त, आचार एवं अध्यात्म के क्षेत्र में—

जैन साहित्य का बहुत भाग सिद्धान्त, आचार एवं अध्यात्म से सम्बन्ध रखता है। यह साहित्य मूल रूप से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं कन्नड़ भाषा अथवा लिपि में लिखा गया। जैन विद्वानों ने इस साहित्य का गहन अध्ययन कर उस पर मार्मिक टीकाएँ लिखी हैं।

पं. मखनलालजी शास्त्री (चावली, १८९८ ई. के लगभग) जैन समाज के शिरोमणि विद्वान् हैं। वे गुरु गोपालदासजी वरैया के साक्षात् शिष्य हैं; इस नाते उनके व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य में हम गुरु गोपाल की स्पष्ट झाँकी ले सकते हैं। पं. मखनलाल ने उच्चस्तरीय जैन न्याय एवं सिद्धान्त-ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर अनेक योग्य शिष्य तैयार किये हैं, जिनमें पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं. लालबहादुरजी शास्त्री, पं. जिनदासजी शास्त्री, पं. वर्धमानजी शास्त्री आदि प्रमुख हैं। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर विविध संस्थाओं ने आपको धर्मवीर, विद्यावरिधि, न्यायालंकार एवं न्यायदिवाकर जैसी सर्वश्रेष्ठ उपाधियों से अलंकृत किया है। वर्तमान में आप मुरैना विद्यालय के प्रधानाचार्य हैं।

श्री पं. लालारामजी शास्त्री, श्री पं. मखनलालजी शास्त्री के छोटे भाई हैं। वे जैन शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थों की टीकाएँ एवं अनुवाद-समीक्षाएँ की हैं। जैन समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति जागृत करने में इनकी भाषा-टीकाएँ प्रमुख कारण रही हैं।

श्री पं. वर्धमान पाश्वनाथ शास्त्री (मूडविद्री, १९०९ ई.) उच्चकोटि के लेखक, सम्पादक, समीक्षक, वक्ता, प्रतिष्ठाचार्य, प्रशासक एवं अनेक सामाजिक संस्थाओं के संचालक के रूप में ज्ञात हैं। जैन समाज में आज जितने भी सिद्धान्तशास्त्री उपाधिधारी विद्वान् हैं, वे सब उनके द्वारा संचालित माणकचन्द्र दिग. जैन परीक्षालय, बम्बई से तैयार हुए हैं। पण्डितजी ने दर्जनों ग्रन्थों का प्रणयन, सम्पादन, संचालन एवं अनुवाद

किया है; किन्तु उनके द्वारा सम्पादित-अनूदित 'कल्याणकारक' एवं 'भरतेश-वैभव' ऐसे महान् ग्रन्थ हैं, जो उन्हें विद्वत्जगत में सिरमौर बनाकर निरन्तर पूजा प्रदान करते रहेंगे।

पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री (शहडोल, १९०१ ई.) बुन्देल भूमि के यशस्वी सुत एवं जैन समाज के हृदय-सम्राट हैं। वे स्वयं अपने को तुच्छ ज्ञानी मानते हैं, वस्तुतः उनका यही भाव उनका सबसे बड़ा बड़प्पन एवं उनकी निरभिमानता व्यक्त करता है। जिसने 'श्रावक धर्म प्रदीप' 'श्रावकाचार सारोद्धार', 'अमृत कलश' जैसे ग्रन्थों का सरस एवं सुगम भाष्य लिखकर स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए साक्षात् अमृत कलश तैयार कर दिया हो; जिसने १९३० ई. में राष्ट्र के आह्वान पर विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार कर मामूली खदूर पहिनने का व्रत ग्रहण किया हो, सार्वजनिक संस्थाओं की निःस्पृह एवं निःस्वार्थ वृत्ति से सेवा की हो, साधनविहीन उन्नतीषु छात्रों की हर प्रकार की सहायता की हो, और अब घरद्वार से विरत होकर जो स्वयं तीर्थवासी बनकर स्वाध्यायमग्न रहकर तथा अर्जितज्ञानराशि को निरन्तर बाँटते रहने की जिन्होंने कठोर प्रतिज्ञा की हो; ऐसा महा-पुरुष यदि अपने को तुच्छ एवं नगण्य कहता है तो उसकी वह तुच्छता एवं नगण्यता भी जैन समाज के लिए गौरवशालिनी निधि मानी जाएगी।

पं. हीरालालजी शास्त्री के वसुनन्दी श्रावकाचार, जिनसहस्रनाम, जैन धर्मामृत, प्रमेयरत्नमाला, दयोदय, सुदर्शनोदय, वीरोदय, छहदाला, द्रव्यसंग्रह, श्रावकाचार-संग्रह आदि प्रकाशित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ-सम्पादक एवं लेखक, होने के साथ-साथ वे कुशल वक्ता एवं कवि भी हैं। आपके संग्रहालय में लगभग २५०० उच्चस्तरीय ग्रन्थों का संकलन है। उनका सिद्धान्त है कि "भले ही फटे वस्त्र पहिनो, एक ममय खाना खाकर रहो, किन्तु नवीन ग्रन्थ खरीदो"।

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री का नाम सन् १९२७ ई. के बाद के विद्वानों की श्रेणी में अग्रगण्य है। शौरसेनी आगम-साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किये, उनकी चर्चा पीछे हो चुकी है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही है। न्याय-दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने पं. महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित न्याय कुमुदचन्द्र की विस्तृत पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावना लिखी और शोधार्थियों तथा स्वाध्यायार्थियों के लिए "जैन न्याय" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया तो जन-सामान्य के लिए "जैनधर्म", "नमस्कार-माहात्म्य", "भ. ऋषभदेव" तथा "भ. महावीर का अचेलक धर्म" का प्रणयन किया एवं सोमदेव कृत "उपासकाध्यान" का सम्पादन, अनुवाद एवं समीक्षात्मक अध्ययन कर जिनवाणी की अपूर्व सेवा की है।

पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री की 'सर्वार्थसिद्धि' एवं 'पंचाध्यायी' की टीकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' की समीक्षात्मक प्रस्तावना पर वी. नि. भा. ने उन्हें २५०१ का पुरस्कार तथा स्वर्णपदक भेंट कर सम्मानित किया था। पण्डितजी के अन्य मौलिक ग्रन्थों में 'जैनत्व मीमांसा' एवं 'खानिया तत्त्वचर्चा' है। दोनों ग्रन्थ आपके अगाध पाण्डित्य के प्रतीक हैं। पण्डितजी का एक अन्य ग्रन्थ 'वर्ण जाति एवं धर्म' है, जिसमें आपने जैन साहित्य में वर्णित शोत्र, वर्ण एवं जातियों का सुन्दर विश्लेषण किया है। वर्तमान में आप विविध झिलालेखों एवं मूर्तिलेखों के आधार पर जैन उपजातियों का अध्ययन कर रहे हैं।

पं. नाथूलालजी शास्त्री समाज के उन विद्वानों में हैं, जिन्हें सभी वर्ग के विद्वानों एवं समाजों का विश्वास प्राप्त है। उन्हें जैन समाज के 'अजातशत्रु' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। वे जैन समाज के मुकुटमणि सेठ हुकुमचन्दजी की आशाओं एवं आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। उन्होंने जिस क्षेत्र की ओर झांका, वहीं उन्हें लोकप्रियता मिली। अध्यापन के क्षेत्र में आज भी उन्हें शिष्यों द्वारा वही सम्मान प्राप्त है, जो पुराणयुग में गुरुजनों को उपलब्ध था। सेठों के बीच में भी वे रहे। उनका विश्वास प्राप्त करना बड़ा कठिन होता है; किन्तु पिछले लगभग ४०-४५ वर्षों में वे उनके कण्ठ-हार बने हुए हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में वे आये। 'सन्मतिवाणी' के माध्यम में उन्होंने समाज को उद्बोधित किया और दूरवर्ती पाठकों ने उन्हें अपना विद्यागुरु मान लिया। प्रतिष्ठाचार्यों को महन्त तथा लालची माना जाने लगा था, किन्तु आपने अपने आचार-विचार, निर्लोभवृत्ति तथा प्रभावक पाण्डित्य के प्रभाव से जनमानस को परिवर्तित करने का पूर्ण प्रयास किया है। जैन धर्म-दर्शन का आपने न केवल अध्ययन मात्र किया, अपितु उसे धर्मराज युधिष्ठिर की तरह ही अपने जीवन में उतारने का सफल प्रयास भी किया है।

पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य (सौरई, वि. सं. १९६२) जैन धर्म-दर्शन के प्रबुद्ध विचारकों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हैं। आप राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत तथा राष्ट्र के आह्वान पर महात्मा गांधी के आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग करते रहे, फल-स्वरूप जेल-यातनाएँ सहीं।

जैन समाज के आप प्रथम व्याकरणाचार्य हैं। जैनतत्त्व-विद्या के प्रति आपकी गहरी अभिरुचि रही है। इस क्षेत्र में आपकी "जैनतत्त्व मीमांसा की मीमांसा" तथा "जैन दर्शन में कार्य-कारण भाव और कारक व्यवस्था" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मानी जाती हैं।

पं. नरेन्द्रकुमारजी जैन (कारंजा, १९०६ ई.) समाज के वयोवृद्ध विद्वान् हैं। आपकी मातृभाषा मराठी है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पंचाध्यायी, अष्टसहस्री, प्रमेय-कमल मार्तण्ड, मोक्षमार्ग प्रकाशक, अष्टपाहुड, जैन सिद्धान्त-प्रवेशिका, धत्रचूड़ामणि का मराठी अनुवाद कर मराठी भाषा-भाषियों के लिए उन्होंने उक्त ग्रन्थों को सुलभ बना कर महाराष्ट्र में दैनिक स्वाध्याय की प्रवृत्ति जागृत की है।

पं. बाबूलाल जमादार (ललितपुर, १९२२ ई.) का जीवन बहुरंगी रहा है। विद्वान्, पण्डित, लेखक, प्रचारक, प्रशासक, व्याख्याता, व्यवस्थापक, संगठनकर्ता, प्रकाशक, संपादक, प्रतिष्ठाचार्य, शास्त्रार्थकर्ता और यहाँ तक कि मुक़ेवाजी एवं अखाड़ेबाजी के आवश्यक तत्त्वों से मिल कर ही उनका व्यक्तित्व गठित हुआ है। वे सत्याश्रयी हैं और अपनी बात को मेज ठोक-ठोक कर निर्भीकता के साथ कह सकते हैं। यही कारण है कि जैन समाज ने उनके प्रति अपना अडिग विश्वास प्रकट किया है। अ. भा. शास्त्री परिषद् के वे सफल संगठनकर्ता एवं उसके लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वे दृढ़व्रत लिये हुए हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं

जिनमें (१) सराफ बन्धुओं के बीच, (२) सराफ हृदय (३) जैन संस्कृति के विस्मृत प्रतीक आदि प्रमुख हैं। विद्वत् अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार कर जमादारजी ने एक सर्वाधिक श्रेष्ठ कार्य किया है। इसके माध्यम से उन्होंने पिछले ११-१॥ सौ वर्षों के मध्य होने वाले दिग्ग्वर जैन विद्वानों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ ने यथार्थतः एक बड़ी भारी रिक्तता को भरा है। विश्वास है कि भविष्य में भी वे इसी प्रकार के ऐतिहासिक मूल्य के उपयोगी अनोखे कार्य करते रहेंगे।

पं. बालचन्द्रजी शास्त्री (सोरई, वि. सं. १९६२) जिनवाणी के उन एकनिष्ठ सेवकों में से हैं, जो समर्पित भाव से शोध-कार्यों में ही व्यस्त रहते हैं। सभा-सोसायटियों में जाकर अपना प्रदर्शन करना उनके स्वभाव के सर्वथा विपरीत रहा है। उनके कार्यों से ही समाज उन्हें जानती है, साक्षात्कार से सम्भवतः नहीं। जैन शौरसेनी के सुप्रसिद्ध पुराणेतिहास के मूल-ग्रन्थ 'तिलोपपण्णति' (दो भागों में) जंबदीवपण्णतिसंग्रहो एवं लोकविभाग जैसे दुरूह ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद आपने ही किया है। इनके अतिरिक्त पद्मनन्दी पंचविंशति, पुण्याश्रव कथाकोष, जानार्णव, धर्म-परीक्षा, सुभाषित-रत्न-संदोह जैसे जैन विद्या के सरस किन्तु दुर्लभ ग्रन्थों का भी आपने सम्पादन एवं अनुवाद कर उन्हें सर्वसुलभ बनाया है।

पं. चैनसुखदासजी (भादवाँ जयपुर, राजस्थान) राजस्थान के उन महा-मनीषियों में से थे, जिन्होंने समग्र जैन समाज के साथ-साथ राजस्थान के जैनेतर विद्वानों एवं समाजसेवियों के हृदयों पर अपने अगाध पाण्डित्य, निश्छल वृत्ति, परम औदार्य एवं निःस्वार्थ सहयोगी मनोवृत्ति की गहरी छाप छोड़ी थी। उन्होंने बिना किसी धर्म, जाति एवं प्रान्तीय भावना के हर साधनविहीन छात्र की सहायता की थी। इसी कारण वे छात्र-समुदाय के लिए कल्पवृक्ष माने जाते थे। राजस्थानी समाज उन्हें दीवान अमरचन्द्र, पण्डितरत्न टोडरमल एवं सदासुख जैसे नर-रत्नों की सम्मिलित आत्मा का अवतार मान कर पूजा करती रही। आज भी उनका नाम सुन कर उनके भक्त भाव-विह्वल हो उठते हैं।

प्रकृति ने उन्हें एक पैर से लंगड़ा बना कर उसकी शक्ति को उनकी प्रतिभा से संयुक्त कर दिया था; अतः एक ओर वे जहाँ ओजस्वी एवं प्रभावशाली वक्ता थे, वहाँ पर वे उच्चकोटि के शिक्षक, लेखक, सम्पादक, अनुवादक, विचारक, पत्रकार एवं कवि भी थे। उनके प्रमुख ग्रन्थों में 'जैनदर्शनसार', 'आर्हत-प्रवचन' तथा 'दार्शनिक के गीत' प्रसिद्ध हैं।

डॉ. सीतलप्रसादजी का साहित्यिक परिचय तो पीछे लिखा जा चुका है। उन्होंने अपने जीवन-काल में लगभग ७६ ग्रन्थों की रचना की जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—(१) लाइव्हूज ऑफ २३ तीर्थकराज (२) व्हाट इज जैनज्म, (३) बृहत् जैन शब्दार्णव, (४) तत्त्वमाला, (५) गृहस्थ-धर्म, (६) अनुभवानन्द, (७) स्वसंभरानन्द, (८) आत्मधर्म, (९) सुलोचना-चरित्र, (१०) सैठ माणिकचन्द्र का जीवन चरित्र, (११) जैनधर्म प्रकाश, (१२) मोक्षमार्ग प्रकाशक, (१३) महिला रत्न मगनवाई का जीवन चरित्र, (१४) जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान (दो भाग) (१५) जैनधर्म में अहिंसा। इनके अतिरिक्त निम्न ग्रन्थों पर उनकी लिखी हुई टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—(१) नियमसार, (२) समयसार, (३) प्रवचनसार, (४) पंचास्तिकाय, (५) समाधि-शतक, (६) इष्टोपदेश, (७) समयसार-कलश, (८) तारण स्वामीकृत श्रावकाचार, (९) त्रिभंगीसार आदि। (क्रमशः)



चित्र/तीर्थंकर के लिए विशेष/सिस्टर जनवियेव, फ्रान्स

“वह जीवन्त था
और उसकी यह जीवन्तता मनुष्यों की परम ज्योति थी।”

—योहन : १-४

देखा गया है कि अधिकांश सामाजिक और नैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक गड़बड़ियाँ धर्म के स्वरूप को गलत समझने के कारण ही होती हैं। बात असल में यह है कि हमने धर्म की परिभाषाएँ अपने सुभीते से, और सुभीते के लिए घड़ ली हैं, इसीलिए इसे हम कभी ईश्वर-प्रदत्त कहते हैं, कभी केवली-प्रणीत और कभी आचार्य-प्रतिपादित। इसी संदर्भ में हम ऐसे वाक्यों का उपयोग भी करते हैं, जो प्रायः संदर्भ से कटे होते हैं और भ्रान्तियों से जुड़े होते हैं। इन मनमानी व्याख्याओं ने कुछ भ्रम खड़े कर दिये हैं, और एक मिरफुड़ीब्वल वातावरण बना दिया है। वस्तुतः इस बौद्धिक अराजकता से सामान्य जन बड़े सकट में पड़ गया है और अकस्मात् ही धर्म से उदासीन हो गया है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो धर्म की गलत व्याख्याओं से जुड़कर या संदर्भ-कटे कथनों में भटककर सम्यक् मार्ग भूल बैठे हैं। कुल मिलाकर स्थिति अत्यन्त विषम और उलझनपूर्ण है।

सवाल सहज ही उठाया जा सकता है कि जब वस्तु का व्यक्तित्व या स्वभाव ही उसका धर्म है तो फिर उसके प्राप्त करने की आवश्यकता ही कहाँ है; वह पहले से ही प्राप्त है, उसे उवाड़ना-भर है। क्या स्वभाव ऐसी वस्तु है जिसे कहीं अन्यत्र से लाया जा सकता है? आत्मधर्म आत्मा को छोड़ नहीं सकता, वह किसी अन्य पदार्थ से संश्लिष्ट दीख सकता है, होता नहीं है; मिथ्याप्रतीति होती है। इसी मिथ्याभास के कारण वृद्धि-जीवी वर्ग तरह-तरह की गलतफहमियाँ खड़ी कर लेता है और फिर आपस में झूझता-झगड़ता है; अतः आवश्यक आज यह है कि हम तथ्यों का स्वयं खूब सावधान, पूर्वग्रह-मुक्त स्वतन्त्र अध्ययन करें, और किसी के वहकावे में न आयें। —श्रीमती विमला जैन

(२) महानता की कसौटियाँ

हमने महानता की भी कुछ काल्पनिक और अनुमानमूलक कसौटियाँ घड़ ली हैं। यद्यपि लौकिकों को इन लौकिक कसौटियों पर कसे जाने से अधिक गड़बड़ की आशंका नहीं है; किन्तु जब हम लोकातीत संदर्भों को इन कसौटियों पर डालने लगते हैं तब काफी-कुछ अस्तव्यस्त हो जाते हैं। आज तथाकथित महापुरुषों की संख्या काफी बढ़ गयी है। कोई योगी है, कोई भगवान्, कोई महर्षि, कोई महाराज। एक तरह से इन तथाकथितों की एक अनियंत्रित बाढ़ ही आ गयी है। अकेले भारत में ही दर्जनों योगी, महर्षि, भगवान् और महाराज सहज ही मिल जाएंगे। किञ्चित् आकर्षक यष्टि-गठन, साधारण-सी असाधारण वृद्धि और कुछ प्रदर्शनात्मक कौशल—एक नयी भगवत्ता को जन्म देने के लिए काफी होते हैं। इस भगवत्ता का असल नाम भगवानगरी ही कहना होगा; चूँकि इसमें गरिमा और वास्तविकता का स्थान छल-कपट और झांसेबाजी ले लेती है। इस पर तुराँ यह है कि इन भगवानों को अपना कारोबार चलाने के लिए अलग से कोई लाइसेंस नहीं लेना होता है, सब कुछ अन्धाधुंध चलता जाता है।

इस नूतन धार्मिक नेतागिरी के कुछ मानदण्ड इस प्रकार हैं— १. एक तामझामनुमा ढीला चोगा, २. एक चमकीला जादुई लॉकेट, ३. विदेशी युवकों की टोली, ४. निर्धारित वर्दी में कुछ सुदर्शन तरुणियाँ, ५. इधर-उधर से बटोरे हुए कुछ सिद्धान्तहीनों का झुण्ड, ६. विशाल सम्मति-युक्त सुविशाल आश्रम, ७. वातानुकूलित कक्षों में तरह-तरह के

आरामदेह इंतजाम तथा अपने तक नवागन्तुकों के पहुँचने पर अनावश्यक नियन्त्रण। इसी तरह के एक कृत्रिम वातावरण से इस तरह के लोग अपना झूठा, किन्तु तुरन्त प्रभावोत्पादक वर्चस्व कायम कर लेते हैं और फिर चाहे जिस धर्म को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करते हों, उसकी नींव खोखला कर देते हैं। ऐसे लोगों के पास या तो भाषा का एक कृत्रिम "फोर्स" होता है या कुछ ऐसे लोग हैं/होते हैं जो भाषा पर पेशेवर अधिकार रखते हैं और इनके लिए आवश्यक प्रचार-तन्त्र उपलब्ध करा देते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग इन तथाकथितों के पास न हों तो कोई काम चल ही नहीं सकता। इन मान-दण्डों की पृष्ठभूमि पर सब से बड़ी मानसिकता पूजैषणा या लोकेषणा की काम करती है; महज एक इसी यशस्विता अथवा कीर्ति के लिए सारा तामझाम और फौजफाटा खड़ा किया जाता है। जैन साधुओं में भी इन दिनों यह प्रवृत्ति प्रविष्ट होती जा रही है, किन्तु आज भी कुछ ऐसे साधु-मुनि हैं जो लोकेषणा से ऊपर उठे हुए हैं और विशुद्ध आध्यात्मिक साधना में लगे हुए हैं। उनके पास एकाध ग्रन्थ, कमण्डलू-पिच्छी के अलावा कुछ नहीं है। क्या हम ऐसा प्रयत्न कर सकते हैं कि आध्यात्मिक संतों की कुछ धार्मिक सांस्कृतिक पहचानें कायम कर सकें? मुझे विश्वास है इस ओर समाज का और सुलझे साधुवर्ग का ध्यान अवश्य जाएगा, ताकि नकली-असली के बीच कोई स्पष्ट भेद-रेखा डाली जा सके।

—गुलाबचन्द आदित्य

बोधकथा

चालीस वर्ष और सिर्फ चार आने !!

स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक कथा है। लाहौर छोड़ने के पश्चात् मस्ती की दशा में वे ऋषिकेश से आगे गंगा के किनारे घूम रहे थे। एक दिन एक योगी उन्हें मिला। स्वामीजी ने उनसे पूछा—'बाबा, कितने वर्ष से आप संन्यासी हैं?'

योगी ने कहा—'कोई चालीस वर्ष हो गये।'

स्वामी रामतीर्थ बोले—'इतने वर्षों में आपने क्या-कुछ प्राप्त किया है?'

योगी ने बड़े अभिमान से कहा—'इस गंगा को देखते हो? मैं चाहूँ तो इसके पानी पर उसी प्रकार चल कर दूसरी ओर जा सकता हूँ, जैसे कोई शुष्क भूमि पर चलता है।'

स्वामी रामतीर्थ ने कहा—'उस पार से वापस भी आ सकते हैं आप?'

योगी ने कहा—'हाँ, वापस भी आ सकता हूँ।'

स्वामी रामतीर्थ बोले—'इसके अतिरिक्त कुछ और?'

योगी ने कहा—'यह क्या छोटी बात है?'

स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—'बहुत छोटी-सी बात है बाबा! चालीस वर्ष आपने खो दिये। नदी में नौका भी चलती है। दो आने उधर जाने के लगते हैं, दो आने इधर आने के। चालीस वर्ष में आपने वह प्राप्त किया, जो केवल चार आने खर्च करके किसी भी व्यक्ति को मिल सकता है। तुम अमृत के सागर में गये अवश्य, किन्तु वहाँ से मोती के स्थान पर कंकर समेट लाये।'

ये सब-की-सब सिद्धियाँ आत्मोन्नयन के मार्ग में बाधाएँ हैं; आत्मोद्घाटन के रास्ते में रुकावट हैं। केवल सांसारिक सफलता है यह. आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग नहीं है। □

कसौटी

इस स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षार्थ पुस्तक अथवा ।
पत्र-पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजना आवश्यक है ।

आँखों ने कहा : मुनि वृद्धमल्ल : आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान);
मूल्य—दो रुपये पच्चीस पैसे; पृष्ठ १११; द्वितीय संस्करण, काउन-१९७८।

समीक्ष्य पुस्तक में एक सहृदय साधु-साहित्यकार के प्रतीकपरक उद्गार हैं, मानना चाहिये कि ये बोधकथात्मक संवेदनाएँ उनकी घटनाओं की प्रखर अनुवाद-शक्ति के अद्वितीय प्रमाण हैं। किसी चाक्षुष स्थूल दृश्य को भाषा में किस तरह उल्था जा सकता है, प्रस्तुत कृति में इसे सहज ही देखा जा सकता है। विद्वान् लेखक की 'ईटरप्रोटेटिव्ह प्रज्ञा' अप्रतिम है, उसका देखना और लिखना जहाँ एक हुआ है, वहाँ घटनाएँ सजीव हो उठी हैं, और उन्होंने मर्म को छू लिया है। पुस्तक में १११ गद्यकाव्य-खण्ड हैं, किन्तु प्रायः सभी मन कां, पकड़ते, झकझोरते और झन-झनाते हैं। इनमें ना-कुछ को बहुत-कुछ में बदलने की शक्ति प्रकट हुई है। प्राकृतिक प्रसंगों को जीवन से उनकी संपूर्ण जीवन्तता में जोड़कर गद्यकाव्यकार ने पाठक को स्थल-स्थल पर विस्मित किया है। ढोल और पूजा, नन्हा बीज, कूटनीति, स्थित-प्रज्ञता, दूरी और निकटता, लघु का सामर्थ्य इसके अच्छे प्रमाण हो सकते हैं। भाषा सर्वत्र मरल और सुबोध है। यदि 'द्वितीय संस्करण के लिए' में उल्लिखित चौरकर्म में प्रामाणिकता है (है इसलिए कि लेखक ने कुछ ठोस गुब्बूत आकलित किये हैं), तो यह हम सबके लिए दुष्चिन्ता का विषय है और पूरी शक्ति के साथ बहिष्करणीय है।

श्रीमद् राजचन्द्र अध्यात्म कोष (गुजराती) : संग्रहकर्ता—भोगीलाल गि. शेट;
के. के. संघवी ५०५, कान्तवादेवी रोड, बम्बई-२; पृष्ठ २०५-३३८; काउन-१९७४।

आलोच्य ग्रन्थ स्वाध्याय-संदर्भ की दृष्टि से एक अत्यन्त लोकोपयोगी प्रकाशन है। संग्रहकर्ता ने इसे 'एन्मायक्लोपीडिया ऑफ स्पिरिच्युअल साइन्स' संबोधित किया है। कोष में यद्यपि पृष्ठ कम हैं तथापि उसकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। संग्रहकर्ता ने परिश्रमपूर्वक श्रीमद् के प्रकाशित-अप्रकाशित विविध ग्रन्थों से शब्द चुने हैं और उन्हें अकारादिक्रम से संयोजित किया है। उक्त प्रकाशन से जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं एवं शोधार्थियों के लिए एक नया द्वार खुला है। जैसा कि संपादक ने लिखा है ग्रन्थ की रूपरेखा एक दशाब्द पूर्व ही तैयार हो गयी थी, किन्तु प्रकाशन में विलम्ब हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ को नगीनदास गि. शेट के न्यास-धारियों ने प्रकाशित किया है। हमें विश्वास है कि इससे प्रेरणा लेकर यदि जैना-

चार्यों के व्यक्तिगत साहित्य-कोश तैयार किये गये और उन्हें प्रकाश में लाया गया तो यह एक अविस्मरणीय कार्य होगा, जो स्वाध्याय के क्षेत्र को समृद्ध बनायेगा। स्पष्ट ही आलोच्य कोश श्रीमद्राजचन्द्र ही नहीं अपितु जैनधर्म-दर्शन को समझने में एक महत्त्वपूर्ण सोपान है; क्योंकि समीक्षक की विनम्र मान्यता है, कि श्रीमद् और जैनतत्व-दर्शन दो अलग-अलग अस्तित्व नहीं हैं।

जैन शासन में निश्चय और व्यवहार: पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य; श्रीमती लक्ष्मीबाई पारमार्थिक फण्ड, बीना, मध्यप्रदेश; मूल्य—दस रुपये; पृष्ठ ४६ + ३२०; डिमाई-१९७८।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक मनीषी विद्वान् की एक बड़े अभाव को पूरा करने वाली कृति है, जिसे एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने असोसा है, और जिसकी भूमिका न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया ने लिखी है। जैन समाज में निश्चय और व्यवहार को लेकर जितना प्रांजल चिन्तन आज चाहिये, नहीं है। वस्तुतः सापेक्ष दृष्टि की अनुपस्थिति है, और कमी है उन दोनों नयों के परिपूरक व्यक्तित्व को समझ पाने की। बहस इन संदर्भों की प्रायः सभी साधु-शामियानों में है, किन्तु कोई पूर्वग्रहमुक्त विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विचार करने को तैयार नहीं है। ऐसे संशया-कुल वातावरण में विद्वान् लेखक की यह कृति निश्चय ही नवसूर्योदय का कारण बनेगी क्योंकि सारा ग्रन्थ सैद्धान्तिक है, और एक गंभीर, अनासक्त, संयत, संतुलित मानसिकता के साथ लिखा गया है। ग्रन्थ के आठ भाग हैं। 'अन्तिम वक्तव्य' में प्रायः सभी मुद्दे स्पष्ट कर दिये गये हैं। सारा जोर वस्तु-व्यक्तित्व के सर्वांग जानने पर दिया गया है और स्पष्ट कर दिया गया है कि एकांगिता से बचा जाना चाहिये, तथा ज्ञाता-दृष्टि को सहृदयतापूर्वक समझना चाहिये। विश्वास है प्रस्तुत ग्रन्थ समाज में एक स्वस्थ वातावरण की सृष्टि करेगा और जैनधर्म तक सही एप्रोच बनायेगा। यद्यपि इसके व्यापक रूप में पढ़े जाने में संदेह है तथापि जब भी, जो भी इसे पढ़ेगा, उसका मन मंजेगा और वह पूर्वग्रहमुक्त हो सकेगा। दार्शनिक गूढ़ताओं को देखते हुए भाषा सरल है और यदि कोई पाठक प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली को जान ले तो उसे विषय-वस्तु को समझने में देर नहीं लगेगी। हमें आशा है पंडितजी अपनी प्रशस्त लेखनी का और अधिक लोकमंगलकारी उपयोग करेंगे।

प्रवचन-निर्देशिका; आर्यिका ज्ञानमतीजी; दि. जैन वि. शोध-संस्थान, हस्तिनापुर, मेरठ; मूल्य—पाँच रुपये; पृष्ठ २२६; डिमाई-१९७७।

विवेच्य पुस्तक प्रणिक्षण-शिविरो को ध्यान में रख कर लिखी गयी एक पाठ्य पुस्तक है, जिसे हम 'शिविरो की गीता' कह सकते हैं। इसे विदुषी लेखिका ने ४६ ग्रन्थों के परिमन्थन के उपरान्त लिखा है। पुस्तक शिविरार्थियों के लिए तो उपयोगी है ही, उन लोगों के लिए भी बड़े काम की है, जो जैनधर्म-दर्शन की अन्तरात्मा को समझना चाहते हैं। इसमें ७ परिच्छेद हैं जिनके अन्तर्गत क्रमशः

सम्यग्दर्शन, व्यवहारनय-निश्चयनय, निमित्त-उपादान, चारों अनुयोगों की सार्थकता, पंचमकाल में मुनियों का अस्तित्व, ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की शैली और ध्यान की आवश्यकता को प्रतिपादित किया गया। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में 'तथ्य क्या है' शीर्षक से उस परिच्छेद के प्रमुख विचार-बिन्दु संक्षेप में दे दिये गये हैं। पुस्तक के आरंभ में प्रवचन-पद्धति पर भी विचार किया गया है। मैथेडॉलोजी पर विचार करने वाली यह पहली पुस्तक है। विश्वास है इसका शिविरों में समीचीन उपयोग होगा, और शिविरार्थियों को संक्षेप में वह सब मिल जाएगा, जो सिद्धान्त के तल पर प्रवचनकर्ता देना चाहते हैं। वस्तुतः ऐसे ग्रन्थों की इस समय अत्यधिक आवश्यकता है, आ. जानमतीजी की इस पहल के लिए समाज को उनका अनु-गृहीत होना चाहिये।

भ्रमणोपासक (मासिक); वर्ष १६, अंक ३-४, अगस्त १९७८; ममता विशेषांक; संपादक—जुगराज सेठिया, मनोहर शर्मा, डा. शान्ता भानावत; अंक का मूल्य—दस रुपये; पृष्ठ ३०६+६८ विज्ञापन-पृष्ठ; रायल-१९७८।

आलोच्य मासिक अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ का मुखपत्र है, जिसने जैन समाज में जैनधर्म और दर्शन के स्वस्थ चिन्तन की पहल की है और उसके मानस को उद्वेलित किया है। पत्र विगत अठारह वर्षों से नियमित प्रकाशित है और इस बीच इसके खाते में कई अविस्मरणीय विशेषांक दर्ज हुए हैं। प्रस्तुत विशेषांक ६ खंडों में बंटा हुआ है। पहले चार खण्डों में समता के नानाविध पक्षों पर विद्वानों के ५९ लेख हैं, पाँचवें में संघ की गतिविधियों का ब्यौरा है, तथा छठे खण्ड में विज्ञापन हैं। हमें विश्वास है अंक ने समता-समाज की संरचना को जिस पवित्र मंशा से सामने रखा है, उसे समझा जाएगा और इससे प्रेरित होकर कम-से-कम सारे जैन समाज को मन्दिस्थ तो किया ही जाएगा ताकि आने वाले समता-मानव की रचना में स्याद्वाद में विश्वास रखने वाली यह कौम अपनी बहुमूल्य भूमिका निभा सके। आशा की जानी चाहिये कि समता का विचार यही समाप्त नहीं हो जाएगा वरन् इसका लाभ उठाकर उभर आयी संभावनाओं को स्वीकृति-परक मानसिकता में झेला-महेजा जाएगा। क्या विज्ञापन ऐसे अवसरों पर सहयोग नहीं है और उन्हें विज्ञापनदाताओं की विनम्र स्वीकृति-सहमति से साधारण कागज पर नहीं छापा जा सकता? इस दिशा में पहल की जानी चाहिये और बचे हुए धन का कहीं अन्यत्र सदुपयोग होना चाहिये। इतने सुष्ठु और सामयिक प्रकाशन के लिए संपादक और संघ दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं। अंक संकलनीय और मननीय है।

प्राप्ति-स्वीकार

भगवान् महावीर-रथा (शोध-प्रबन्ध) : डा. शोभनाथ पाठक; पाठक प्रकाशन, कनवानी-२२२१४६ (जौनपुर, उ. प्र.); प्राप्ति-स्थान : डा. शोभनाथ पाठक, मेघनगर ४५७७७९ (म. प्र.); मूल्य-तीस रुपये; पृष्ठ-२२४; डिमाई, द्वितीय संस्करण, १९७८।

साधना का राजमार्ग : (प्रेरक प्रवचन) : प्रवक्ता : रतन मुनि ; पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भण्डार, कटंगी (वालाघाट). म. प्र. ; मूल्य-दस रुपये ; पृष्ठ-३२८ ; डिमाई, मितम्बर, १९७८ ।

निर्वाण मार्गनुं रहस्य (गुजराती) : श्रीमद् राजचन्द्र के वचनान्त १७२ तथा ८७५ पर विवेचन ; विवेचक : भोमीलाल गि. शेठ ; ए. एम. मेहता एण्ड कंपनी, शरफ मेन्शन, ३२, शामलदास गांधी मार्ग, बम्बई ४००-००२ ; अमूल्य ; पृष्ठ-१५८ ; क्राउन-१९७७ ।

सर्वतोमुखी व्यक्तित्व (श्री चीथमलजी महाराज का संक्षिप्त जीवन वृत्त) : डा. पुरुषोत्तमरामचन्द्र जैन ; जयध्वज प्रकाशन समिति, मिण्ट स्ट्रीट, मद्रास-१ ; प्राप्ति स्थान : पूज्य श्री जयमल ज्ञान भण्डार, जीपाड़ जहर ; मूल्य-पन्द्रह रुपये ; पृ. १९२ ; डिमाई-१९७८ ।

जैन दिवाकर तन्त्र ज्ञान की दिव्य किरणें : मुनि भगवतीलाल 'निर्मल' ; श्री वृद्धमान जैन ज्ञानपीठ, तिरपाल, जि. उदयपुर ; मूल्य-तीन रुपये ; पृष्ठ-१६४ ; क्रिकेट, सितम्बर, १९७८ ।

साधक सार्थी (भाग १. गुजराती) डा. मुकुंद सोनेजी ; श्री सत्श्रुत सेवा साधना केन्द्र, मीठाखली, महाराष्ट्र सोमायटी अहमदाबाद ३८०-००६ ; मूल्य-चार रुपये ; पृष्ठ-२१८ ; डिमाई-१९७७ ।

वन्दना (प्रातः कालीन स्वाध्याय, प्रार्थना, स्तुति आदि का उपयोगी संग्रह) : संपा. चन्दनमल 'चाँद' ; चाँद प्रकाशन, २ बी ५, प्रेमनगर, बोरीवली (पश्चिम), बम्बई ४००-०९२ ; मूल्य-तीन रुपये ; पृष्ठ-१०० ; क्रिकेट मितम्बर, १९७८ ।

आत्मार्काहर्तन प्रवचन (गुजराती) ; प्रवक्ता : स्व. मनोहर वर्णी सहजानन्द ; अनु-श्रीमती भावना सुरेशकुमार कोठारी ; संपा. कपिलभाई कोटलिया ; गुजरात प्रान्तीय सहजानन्द साहित्य मंदिर, गणपुर, अहमदाबाद ; मूल्य-दो रुपये ; पृष्ठ-१८२ ; क्राउन-दिसम्बर, १९७७ ।

स्याद्वाद-अंक (गुजराती) : हिन्दी-लेखक-सुमेरचन्द्र दिवाकर, अनु. रमणलाल मगनलाल लाकडिया. बाबूलाल च्छीलाल गांधी ; संपा. कपिलभाई कोटलिया ; गुजरात प्रांतिवीर दि जैन मित्रांत संरक्षणी सभा, ३. वार वांगला, हिम्मतनगर (गुजरात) ; मूल्य-तीन रुपये ; पृष्ठ-१५० ; क्राउन-१९७८ ।

धरती के देवता (जैनमूर्तियों का चित्रण) : आर्थिका ज्ञानमती ; अ. भा. दि जैन शास्त्र परिषद्, बड़ौत (मेरठ). उ. प्र. ; मूल्य-स्वाध्याय : पृष्ठ-३० ; क्राउन ; अप्रैल, १९७८ ।

चरित्र-निर्माण : आर्थिका जिनमती ; अ. भा. दिगम्बर जैन युवा परिषद्, बड़ौत २५०६११ (मेरठ), उ. प्र. ; मूल्य-चारित्र-पालन ; पृष्ठ-६० ; डिमाई-१९७८ ।

(शेष पृष्ठ १०९ पर)

वाराणसी में संपन्न

संपादन एवं अनुसन्धान प्रशिक्षण शिविर

प्राचीन ग्रन्थों के संपादन एवं अनुसन्धान कार्यों के प्रशिक्षण हेतु एक शिविर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या-धर्म-विज्ञान संकाय के तत्त्वावधान में गत २१ से २७ अगस्त, '७८ को आयोजित किया गया था, जिसमें भारत के ३७ विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा-संस्थानों के ५६ अनुसन्धानकर्ता और विशेषज्ञ सम्मिलित हुए।

शिविर का उद्घाटन करते हुए जैन मठ, मूडविट्टी (कर्नाटक) के स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी ने कहा कि संस्कृत, प्राकृत, माली, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थ भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के विश्वकोण हैं। प्राच्यविद्या की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के अध्ययन अनुसन्धान के वे आधार-स्तम्भ हैं। भारतीय इतिहास, धर्म, दर्शन और संस्कृति

का अध्ययन प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन के बिना पूरा नहीं हो सकता। ऋषियों, आचार्यों और विचारकों के चिन्तन को हजारों वर्षों से विभिन्न लिपियों में विभिन्न उपादानों पर लिख कर सुरक्षित रखा गया। समय के दीर्घ अन्तराल में काल के कराल गालों से इन पोथियों को बचा कर रखे रहना कम कठिन नहीं था, फिर भी हमारे पूर्वजों ने उन्हें प्राणों से लगा कर रखा और एक के बाद दूसरी प्रतिलिपि करके उन्हें नष्ट होने से बचाया।

उन्होंने 'छबुंडागम' नामक उस प्राकृत ग्रन्थ की भी चर्चा की, जिसकी संसार-भर में मात्र एक ही प्रति उपलब्ध है और जो ताड़पत्रों पर प्राचीन कन्नड़ लिपि में लिखी गयी है तथा हजारों वर्षों से मूडविट्टी में सुरक्षित है।

स्वामीजी ने इस बात पर आश्चर्य



संपादन एवं अनुसन्धान प्रशिक्षण शिविर, वाराणसी के उद्घाटन-समारोह में अध्यक्षीय भाषण करते हुए काशी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. हरिनारायण।

तीर्थंकर : नव-दिस. ७८

१०५

व्यक्त किया कि प्राच्य ग्रन्थों के संपादन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय में स्वतन्त्र विभाग नहीं है। उन्होंने कुलपतिजी की ओर इंगित करते हुए कहा कि हिन्दू विश्वविद्यालय को ऐसे विभाग की स्थापना के लिए पहल करनी चाहिये।

प्राच्य ग्रन्थ-प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए 'जैन सिद्धान्त-कोश' के प्रणेता सत श्री जिनेन्द्र वर्णी ने अनुसन्धान-कार्य की सामान्य भूमिका का परिचय देने के पश्चात् कहा कि सभी विद्याओं की भाँति जैनविद्या भी एक है, इसमें भी अन्य विद्याओं की भाँति अगणित बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, कुछ का जगत् को परिचय है, कुछ सन्दिग्ध है, कुछ सांप्रदायिक पक्ष के कारण उलटे प्रतीत हो रहे हैं, और कुछ को अभी वायुमण्डल में आने का सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ है। इस विद्या को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है—प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग तथा करणानुयोग। प्रथमानुयोग में इतिहास, पुराण तथा कथाएँ निबद्ध हैं। द्रव्यानुयोग के दो विभाग हैं—न्यायशास्त्र तथा तात्त्विक व्यवस्था। चरणानुयोग में साधना, योग तथा तन्त्र का विवेचन है। करणानुयोग के दो विभाग हैं—कर्म-सिद्धान्त और लोक-विभाग। इन चारों ही अनुयोगों में अनेकों बातें अनुसन्धान की प्रतीक्षा कर रही हैं।

उन्होंने विद्वानों और शोधकर्ताओं से अनुरोध किया कि पूर्वग्रह और संप्रदायाभिनिवेश से ऊपर उठ कर वे अनुसन्धान में प्रवृत्त हों, तभी भारत की पुरासंपदा को उजागर किया जा सकेगा।

श्री वर्णीजी ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध विशाल ग्रन्थ-भण्डार की चर्चा करते हुए भारतीय मनीषा में जैन सन्तों के महत्त्वपूर्ण योगदान के अध्ययन-अनुसन्धान में जुट जाने का आग्रह किया।

अध्यक्ष-पद से बोलते हुए हिन्दू विश्व-विद्यालय के कुलपति डॉ. हरिनारायण ने कहा कि ऋषियों, मुनियों की विद्याएँ बहुत गूढ़ होती हैं, इसलिए उन पर निरन्तर 'रिसर्च' होते रहने की आवश्यकता है। विश्व में व्याप्त अज्ञान्ति को दूर करने का भी एक उपाय यही हो सकता है कि हम ऋषियों की बातों को ध्यान में रखें, समझें और उनको अंशतः ही सही, जीवन में प्रयोग में लायें। उन्होंने विश्वविद्यालय की ओर से ऐसे आयोजन के लिए पूर्ण सहयोग का भी आश्वासन दिया।

उद्घाटन-समारोह का समारोप करते हुए शिविर के संयोजक एवं संचालक डा. गोकुलचन्द्र जैन ने बताया कि उनके प्रस्ताव पर अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद् ने प्राच्य ग्रन्थों के संपादन एवं अनुसन्धान के लिए भारत-भर में शिविर आयोजित करने का जो निर्णय किया है, उस श्रृंखला का यह प्रथम शिविर है। यह एक महत्त्वपूर्ण समारम्भ का मंगलाचरण है।

प्राच्य ग्रन्थ-प्रदर्शनी में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की कतिपय दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ, विशिष्ट संपादित ग्रन्थ, शोध-प्रबन्ध तथा आन्तर शास्त्रीय अध्ययन-अनुसन्धान की संभावनाओं को उजागर करने वाले ग्रन्थों को प्रदर्शित किया गया था। ऐसे ग्रन्थ भी प्रदर्शित थे, जिनकी संसार-भर में एक भी पाण्डुलिपि शेष नहीं है, फिर भी विद्वानों ने अथक परिश्रम करके टीका-ग्रन्थों से उन ग्रन्थों का पुनः संकलन किया है।

सात दिनों में उद्घाटन-समारोह तथा समारोप सहित तेरह गोष्ठियाँ संपन्न हुईं। विशेषता यह थी कि गोष्ठियों के लिए अध्यक्ष, संचालक और वक्ता पारम्परिक ढंग से पूर्वनिर्धारित नहीं थे। गोष्ठियों के अध्यक्ष और संचालकों ने विभिन्न गोष्ठियों के चर्चनीय विषयों पर अपने-अपने विचार विस्तार के साथ व्यक्त किये तथा उपस्थित

समाचार : शीर्षक रहित, किन्तु महत्त्वपूर्ण

—प्राकृत भाषा श्रमण-परम्परा की भाषा रही। श्रमण-परम्परा की यह विशेषता रही कि उसने सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय सर्वजन की भाषा में ही उपदेश प्रसारित किये और उसी में साहित्य की रचना की। ये वे उद्गार हैं जो उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी ने श्री कुन्दकुन्द भारती द्वारा बनाए जा रहे वृषभदेव प्राकृत विद्यापीठ के भवन के शिलान्यास-समारोह में गत ५ नवम्बर को नई दिल्ली में व्यक्त किये। समारोह की अध्यक्षता श्री श्रेयान्स-प्रसाद जैन ने की और शिलान्यास-विधि कर्नाटक के धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेगड़े ने संपन्न की। समारोह में मुनि और भट्टारकगण भी उपस्थित थे।

—उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी को एलाचार्य के सर्वोच्च पद पर नई दिल्ली में गत १७ नवम्बर को प्रतिष्ठित किया गया। एलाचार्य पद-प्रतिष्ठा का संपूर्ण विधान भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन, कोल्हापुर ने संपन्न किया। भट्टारक श्री चारुकीर्ति ने कहा कि मुनिश्री इस शताब्दी के प्रथम एलाचार्य हैं। उत्तर में जान की गंगा बहा

कर अब वे दक्षिण की ओर मंगल विहार कर रहे हैं।

इस अवसर पर दिल्ली जैन समाज की ओर से मुनिश्री को विनयांजलि प्रस्तुत की गयी, जिसमें कहा गया कि उत्तर और दक्षिण भारत के सभी जैन जैन संस्कृति के नाते एक हैं। दक्षिण और उत्तर को मिलाने में पूज्य मुनिश्री ने सेतु का काम किया है।

—नईदिल्ली से गत १९ नवम्बर को मंगल विहार के पूर्व आयोजित विशाल सभा में एलाचार्य श्री विद्यानन्दजी ने अपने उद्बोधन में कहा कि यदि प्रतिदिन कुछ मिनट भी आत्मध्यान में लगाएं, तो निश्चित ही हमारा जीवन कल्याणमय होगा और दुःखों से छुटकारा मिलेगा। इसी से समता भाव पैदा होगा। समता भाव ही देश और समाज को एक सूत्र में बाँधने में काम देगा।

एलाचार्य श्री विद्यानन्दजी का दक्षिण भारत के लिए मंगल विहार १९ नवम्बर को हो गया है। उनका जयपुर में शुभागमन २४ दिसम्बर को होगा।

विद्वानों और अनुसन्धाताओं ने परिचर्चाओं में खुल कर भाग लिया।

२७ अगस्त को शिविर का समापन-समारोह वयोवृद्ध विद्वान् श्री अग्रचन्द्र नाहटा की अध्यक्षता में आयोजित हुआ। अध्यक्ष-पद से बोलते हुए उन्होंने शोध-खोज के अपने जीवन-व्यापी अनुभवों की चर्चा करते हुए नयी पीढ़ी के विद्वानों और शोधकर्ताओं से अनुरोध किया कि वे संपूर्ण मनोयोग से शोध-कार्यों में जुट जाएं।

शिविर की संस्तुतियों की चर्चा करते हुए डॉ. गोकुलचन्द्र जैन ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैनविद्या के उच्चानुशीलन की संभावनाओं की रूपरेखा तैयार

करने के लिए पाँच सदस्यीय समिति की घोषणा की। शिविर की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इन सात दिनों में अनुसन्धानकर्ताओं ने जो किया है वह कई महीनों में भी नहीं हो सकता था और संपादन एवं अनुसन्धान की जो दृष्टि उपलब्ध की है, वह वर्षों में भी संभव न थी।

वाराणसी की जैन समाज की ओर से सम्मान के प्रतीक रूप में शिविर में समागत विद्वानों और संचालकों को श्रीफल तथा उत्तरीय भेंट करके स्वागत किया गया।

□

—इन्दौर में गत १२-१३ नवम्बर को अखिल भारतीय स्तर पर जैन विद्वानों का सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें लगभग ५० विद्वानों ने भाग लिया। जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि के अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन, संरक्षण, संवर्धन, संशोधन, प्रकाशन आदि को प्रोत्साहन एवं सहयोग देने के लिए आचार्य श्री हस्तीमलजी की प्रेरणा से अ. भा. जैन विद्वत् परिषद् गठित की गयी, जिसके अध्यक्ष श्री सीभाग्यमल जैन, उपाध्यक्ष डा. मागरमल जैन, महामंत्री डा. तरेन्द्र भानावत, सहमंत्री श्री कन्हैयालाल दक और कोषाध्यक्ष श्री फकीरचन्द मेहता चुने गये।

परिषद् का उद्घाटन इन्दौर विश्व-विद्यालय के कुलपति डा. देवेन्द्र शर्मा ने किया। श्री फकीरचन्द मेहता ने विद्वत् परिषद् के अन्तर्गत जैन दिवाकर जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष 'जैन दिवाकर स्मृति व्याख्यान-माला' आयोजित कराने की घोषणा की। शाजापुर के श्री केशरीमल जैन ने रु. ५००१ और श्री शिरोमणिचन्द्रजी जैन ने जे. एल. जैनी ट्रस्ट की ओर से रु. ५०१ परिषद् को देने की घोषणा की। परिषद् का कार्यालय जयपुर में रखा गया है। पता है- डा. तरेन्द्र भानावत, सी-२३५, ए, तिलकनगर, जयपुर।

—नैनागिरि तीर्थ (म. प्र.) में ४-५ नवम्बर को महावीर ट्रस्ट (म. प्र.-इन्दौर) की श्री मिश्रीलाल गंगवाल की अध्यक्षता संपन्न बैठक में विभिन्न कार्यक्रमों पर रुपये १,९५,००० खर्च करने का निश्चय किया गया। श्री राजकुमार सिंह कासलीवाल द्वारा ट्रस्ट को इन्दौर के मध्य भाग में महावीर बाल संस्कार केंद्र की स्थापना हेतु करीब ५,००० वर्गफीट जमीन प्रदान की गई। ट्रस्ट द्वारा उस पर केंद्र की स्थापना हेतु तत्काल रु. ५०,००० की धनराशि स्वीकृत की गई। श्री बाबूलाल पाटोदी इसके संयोजक मनोनीत हुए।

—'तीर्थंकर' के आजीवन एवं वार्षिक सदस्य एक रुपये का पोस्टेज निम्न पते पर भेजकर बीस रुपयोंवाली इन पुस्तकों को उपहार-स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं: महावीर श्री चित्रशतक, जीव उद्धार-ग्रंथ (उत्तरार्ध-पूर्वार्ध सहित), हीनमान से वर्द्धमान (युगल चित्र), ढाई दीप नवरंग विशाल चित्र। भेंटकर्ता: मे. एन. जे. चेडा, ४०६, सूरत सदन, सूरत स्ट्रीट दाना बन्दर, बम्बई ४०० ००९।

—दिल्ली में जैन दिवाकर पं. रत्न श्री चौथमलजी महाराज जन्म-शताब्दी महोत्सव समिति के तत्वावधान में जन्म-शताब्दी महोत्सव ५ नवम्बर को कविरत्न मुनि श्री केवलचन्द्रजी के सान्निध्य में आयोजित किया गया, जिसमें मुख्य अतिथि उपराष्ट्रपति श्री बी. जी. जत्ती थे।

—मुजफ्फरनगर में स्व. धु. मनोहरजी वर्णा 'महजानन्द' का ६४ वां जयन्ती समारोह २६ अक्टूबर को स्वर्गारोहण के पश्चात् प्रथम बार आयोजित किया गया।

—जयपुर में अ. भा. जैन युवा फेडरेशन का श्री टोडरमन दि. जैन मिद्वान्त महा-विद्यालय के छात्रों द्वारा डा. हृकमचन्द्र भारिल के निर्देशन में ३ से १० अक्टूबर तक एक शिक्षण-शिविर आयोजित किया गया।

नये आजीवन सदस्य रु. १०१

३६२. श्री भागचन्द्र इटोरया
सार्वाजनिक न्यास
पो. दमोह ४३० ६६१ (म.प्र.)
३६३. डॉ. शोभनाथ पाठक
पो. मेधनगर-४५७ ७७९
जि. झाबुआ (म.प्र.)

(कसौटी : पृष्ठ १०४ का शेष)

पथिक काव्यलता : विजय विद्याचन्द्र मूरि; श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, श्री मोहनखंडा तीर्थ, राजगढ़ (म. प्र.); अमृत्य; पृष्ठ-१८०; क्राउन-१९७८।

आत्मिक आनन्द (कविता) : क्षु. शीतल सागर; श्री महावीर कीर्ति स्मृति भवन, अवागढ़ (एटा), उ. प्र.; मूल्य-पचास पैसे; पृष्ठ-२०, क्राउन, अक्टूबर, १९७८।

दशलक्षण धर्म-एक अनुचिन्तन : क्षु. शीतलसागर; श्री सुशीलकुमार जैन, जैनपुरी, खिरनी गेट, अलीगढ़ (उ. प्र.); मूल्य-एक रुपया पचास पैसे; पृष्ठ-६४; डिमाई-सितम्बर, १९७८।

अच्छे बच्चे : मुनि सुखलाल; अ. भा. तेरापंथ युवक परिषद्, लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान); मूल्य-एक रुपया; पृष्ठ-१०८; क्राउन, अक्टूबर, १९७८।

चतुष्कोण (संस्कृत-हिन्दी) : मुनि वत्सराज; अ. भा. तेरापंथ युवक परिषद्, लाडनू; मूल्य-पचास पैसे; पृष्ठ-५४; पॉकेट, सितम्बर, १९७८।

पंखुड़ियाँ कमल की (मुक्तक) : मुनि महेन्द्रकुमार 'कमल'; श्री शीतल जैन साहित्य सदन, मांडलगढ़ (राजस्थान); मूल्य-तीन रुपये; पृष्ठ-२६; पॉकेट, मार्च, १९७८।

विद्यार्थी बोध (कविता) : वैद्य कपूरचन्द विद्यार्थी; श्री भागचन्द्र इटोरया सार्वजनिक न्यास, दमोह (म. प्र.); अमृत्य; पृष्ठ-४४; डिमाई-जनवरी, १९७८। □

परमपूज्य युगप्रवर्तक आचार्य
मुनिश्री विद्यासागरजी महाराज
को श्रद्धापूर्वक नमन



सिंधई जीवेन्द्रकुमार
अरुणकुमार सागर

विमलकुमार मलैया
सागर, मध्यप्रदेश

विद्वान्, पं. रूपचन्द्रजी गार्गीय आदि जैसे धर्मोपकारी मनुष्य पानीपत में मौजूद हैं। इन्हीं सबके साहम और सतर्कता से उस रोज पानीपत के सुधारकों का पानी देखने को मिला। पहले तो ब्रह्मचारीजी को केवल धर्मोपदेश के लिए ही निर्मांत्रित किया गया था, अब विरोधी पक्ष के इस रवैये से चिढ़कर वहाँ के कुछ लोगों ने, जो विधवा-विवाह के पक्षपाती थे, दूसरे रोज एक सार्वजनिक सभा का बहुत बड़ा आयोजन किया। कान में भनक पड़ी कि कुछ लोग ब्रह्मचारीजी की नाक काटने को फिर रहे हैं। मुना तो मैं और पं. वृजवासीलालजी भौचक रह गये। हे भगवन् ! जब उन्हीं की नाक चली जाएगी, तब हमारी नाक की कीमत भी क्या रहेगी ? पानीपत में आकर बुरे फँसे। पानीपत बादशाही लड़ाइयों का क्षेत्र रहा है, यह तो इतिहास में पढ़ा था, पर हम भी कभी जा फँसेंगे, यह कभी ख्याल में भी न आया था। सभा-स्थान जैन-अजैन जनता से खचाखच भरा था, विरोधी भी डटे खड़े थे। जहाँ तक ख्याल है उस सभा के अध्यक्ष बा. जयभगवानजी बनाये गये थे। प्रारम्भ में ही खड़े होकर उन्होंने जो मौलिक, सारगर्भित, प्रामाणिक, नया-तुला भाषण दिया तो मैं स्तब्ध-सा रह गया ! पानीपत चार-पाँच बार व्याख्यान देने गया था, परन्तु बा. जयभगवानजी का व्याख्यान नहीं सुना था। यह तो जानता था कि वे एक सुलझे हुए और दार्शनिक व्यक्ति हैं, परन्तु इतना गहरा अध्ययन है और ऐसा मर्मस्पर्शी भाषण दे देते हैं, यह नहीं मालूम था। इनके बाद ब्रह्मचारीजी का भाषण हुआ, उनके भाषण सैकड़ों बार सुने थे, परन्तु उस रोज-जैसा भाषण फिर सुनने को नहीं मिला। सभा शान्त थी। और यह मालूम होता था कि किसी जादूगर ने मोहनी डाल दी है।

सन् १९४० में वे रुग्ण होकर रोहतक से दिल्ली आये। दो-चार रोज रहकर लखनऊ जब जाने लगे तो कार में बैठते हुए बोले—“शोयलीय ! हमारा जमाना समाप्त हुआ, अब तुम लोगों का युग है। कुछ कर सको तो कर लो, समाज-सेवा जितनी अधिक बन सके कर लो, मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलने का” कहते हुए गला हँध गया। मैं टप-टप रोने लगा, पाँव तो छू सका पर मुँह से न बोला गया। उस समय यह आभास भी न हुआ कि समाज के प्रति इतनी मोह-ममता रखने वाला व्यक्ति लखनऊ जाकर यूँ निर्मोही हो जाएगा और जिस लखनऊ ने उसे दिया था, वही हमसे बिना पूछे-ताछे अपने उदर-गह्वर में रख लेगा।

ब्रह्मचारीजी की मृत्यु पर पत्रों ने आँसू बहाये, शोक-सभाएँ भी हुईं। शीतल होस्टल, शीतल-वीर-सेवा-मंदिर, और शीतल-ग्रंथमाला की योजनाएँ भी कुछ दिनों बड़ी सरगर्मी से चलीं, पर आखिर सब शीतल-स्मारक—शीतल होकर रह गये।

(भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९५२ ई. में प्रकाशित 'जैन जागरण के अग्रदूत' से साभार।)

□

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

हमारे नये प्रकाशन (महान् उपलब्धियाँ)

धर्माभूत अनगार और धर्माभूत सागार

दिगम्बर जैन परम्परा में साधुवर्ग (अनगार) तथा गृहस्थ श्रावक (सागार) के आचार-धर्म का निरूपण करने वाली १३ वीं शती की संस्कृत कृति, ज्ञानदीपिका स्वोपज्ञ संस्कृत टीका एवं हिन्दी व्याख्या सहित, पहली बार प्रकाशित। दो अलग-अलग जिल्दों में। मूलकर्त्ता : पं. आशाधर, संपादन-अनुवाद : पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री। डबल क्राउन, कपड़े की जिल्द, पृष्ठ ८०० (अनगार), पृ. ४०० (सागार)। मूल्य क्रमशः ३०-००; १६-०० रुपये।

गोम्मटसार (जीव-काण्ड) भाग १

चार भागों में प्रकाशनाथ नियोजित सम्पूर्ण ग्रन्थ (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड) का यह प्रथम भाग है। सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रणीत मूलगाथाओं के साथ, केशव वर्णी द्वारा विरचित संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित कर्नाटकवृत्ति, तदनुसारणी संस्कृत टीका जीवतन्त्रप्रदीपिका, हिन्दी अनुवाद एवं विशेषार्थ तथा शोधपूर्ण विस्तृत हिन्दी-अंग्रेजी प्रस्तावना से अलंकृत। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण-पहली बार। संपादन : (स्व.) डा. आ. ने. उपाध्ये तथा पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री। डबल क्राउन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६४, मूल्य ३०। द्वितीय भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

STRUCTURE AND FUNCTIONS OF SOUL IN JAINISM by Dr. S.C. Jain

आत्मा का स्वरूप, उसकी संघटना और उसके संचरण आदि पक्षों पर जैनधर्म की मान्यताओं का विशद विवेचन करने वाली अंग्रेजी में अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक। भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में वर्णित आत्मा के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन। डा. सुमति चन्द्र जैन के दीर्घकालीन अध्ययन और चिन्तन का सुफल। डिमाई साइज, पृ. २५४; मूल्य २०) रुपये।

महापुराण भाग १ (नाभयचरिउ पूर्वाध)

महाकवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश ग्रन्थ। अंग्रेजी प्रस्तावना तथा नोट्स आदि के साथ सम्पादन : डॉ. पी. एल. वैद्य; हिन्दी-अनुवाद : डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन।

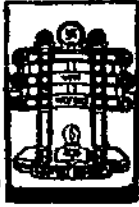
प्रथम संस्करण, डबल क्राउन, पृष्ठ. ५५० (प्रेस में मुद्रण प्रायः पूर्ण)।

भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (भाग १, २, ३, ४)

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, बम्बई की ओर से भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में छह भागों में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ के प्रथम चार भाग। प्रथम भाग में उत्तरप्रदेश (दिल्ली और पोदनपुर-तक्षिला सहित) के, द्वितीय भाग में बिहार-बंगाल-उड़ीसा के, तृतीय भाग में मध्यप्रदेश के तथा चतुर्थ भाग में राजस्थान-गुजरात-महाराष्ट्र के समस्त तीर्थक्षेत्रों का परिचय-ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा पुरातात्विक पृष्ठभूमि में। चारों भाग क्रमशः ८४, ७९, ७१ और ९९ भव्य चित्रों तथा मार्ग दर्शाने वाले अनेक मानचित्रों सहित। मूल्य-प्रत्येक भाग ३०) रु.। दक्षिण भारत से सम्बन्धित भाग पाँच और छह प्रकाशित होंगे।

भारतीय ज्ञानपीठ

बो ४५-४७, कॅनॉट प्लेस, नई दिल्ली-११०००१



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

हमारे सर्वश्रेष्ठ हिन्दी उपन्यास

सुवर्णलता	:	लेखिका—आशापूर्णा देवी प्र. संस्करण १९७८, डिमाई, पृ. ४१०	२५-००
गणदेवता	:	ले.—ताराशंकर वन्द्योपाध्याय प्र. सं. १९७७, डिमाई, पृ. ५८४	१६-००
माटी मटाल (दो भाग)	:	ले.—गोपीनाथ महान्ती द्वि. सं. १९७८, डिमाई, पृ. ६३९	भाग-१ २०-०० भाग-२ २०-००
सहस्रकण	:	ले.—विश्वनाथ सत्यनारायण द्वि. सं. १९७२, डिमाई, पृ. ४५६	१६-००
आधा पुल	:	ले.—जगदीशचन्द्र द्वि. सं. १९७५, डिमाई, पृ. १९९	१४-००
समुद्रसंगम	:	ले.—भोलाशंकर व्यास प्र. सं. १९७५, डिमाई, पृ. १६७	१७-००
जयपराजय	:	ले.—सुमंगल प्रकाश प्र. सं. १९७५, डिमाई, पृ. ४०४	२६-००
मृत्युंजय	:	ले.—शिवाजी सावंत प्र. सं. १९७४, डिमाई, पृ. ६८६	३५-००
पुरुष पुराण	:	ले.—डॉ. विवेकीराय प्र. सं. १९७५, काउन, पृ. १०२	८-००
मुक्तिदूत	:	ले.—वीरेन्द्रकुमार जैन च. सं. १९७५, काउन, पृ. २७०	१३-००
महाश्रमण मुनें	:	ले.—कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्षु' द्वितीय सं. १९६६, काउन, पृ. १२८	४-००
अस्तंगता	:	ले.—कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्षु' द्वि. सं. १९७३, काउन, पृ. ३२०	९-००
अवतार बरिष्ठाय : रामकृष्ण परमहंस	:	ले.—विवेकरंजन भट्टाचार्य प्र. सं. १९७७, डिमाई, पृ. २८२	१०-००
अपने अपने अजनबी :		ले.—अज्ञेय सातवाँ संस्करण, काउन, पृ. १०२	३-००
कृष्णकली	:	ले.—शिवानी पाँचवाँ संस्करण, डिमाई, पृ. २४४	९-००

भारतीय ज्ञानपीठ

बी-४५-४७, कॅनाट भ्लेस, नई दिल्ली-११० ००१

अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर

चार खण्डों में संपन्न वीरेन्द्रकुमार जैन का एक बहुपठित और बहुचर्चित
महाकाव्यात्मक उपन्यास

- प्रथम खण्ड : त्रैणाली का विद्रोही राजपुत्र : कुमार-काल
द्वितीय खण्ड : असिधारा-पथ का यात्री : साधना तपस्या-काल
तृतीय खण्ड : तीर्थंकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन : तीर्थंकर-काल
चतुर्थ खण्ड : अनन्त पुरुष की जय-यात्रा (शीघ्र प्रकाश्य)
प्रत्येक खण्ड का मूल्य रु. ३०-००

‘अनुत्तर योगी’ एक ऐसी अद्भुत कृति है, जिसे देश के कोने-कोने से सराहा गया है—

‘१. ‘मैं समझता हूँ कि आने वाले समय में यह रचना वैसे ही लोकप्रिय एवं श्रद्धास्पद बनेगी जैसी तुलसी-कृत रामचरितमानस शीर्षक रचना बनी हुई है। सृजेता का परिश्रम एवं अनुचिन्तन फलदायी सिद्ध हुआ है।’

—एलाचार्य विद्यानन्द मुनि

२. ‘ललित शब्द-विन्यास में शब्दातीत को मणवद और भावों की अभिव्यंजना में भावातीत को प्रभावी बनाने में श्री वीरेन्द्रकुमार जैन सफल हुए हैं, यह असंदिग्ध है। भगवान् महावीर का योगी रूप सचमुच अनुत्तर सत्ता में उपस्थित हुआ है। अनुत्तर योगी को अपना स्थायी मूल्य प्राप्त होगा, यह मैं अनुभव करता हूँ।’

—आचार्य तुलसी

३. ‘महाश्रमण भगवान् महावीर के अद्यावधि जितने भी जीवन-चरित्र आँखों में छविमान हुए हैं, उन सबमें यह अग्रिम पंक्ति में है। मेरा यह सुनिश्चित विश्वास है कि सुचिरकाल तक भविष्य के वीर-चरित्र-लेखकों के लेखन का ‘अनुत्तर योगी’ प्रेरणा-स्रोत रहेगा और रहेगा आधारभूमि।’

—उषाध्याय अमरमुनि, राजगृह

४. ‘इस शताब्दी के संसार के प्रायः सारे उपन्यास-साहित्य में से गुजर कर यह बात मैंने अनुभव की है कि ‘अनुत्तर योगी’ जैसी कृति कहीं भी अब तक दूसरी सामने नहीं आयी है।’

—भानीराम ‘अग्निमुख’, दिल्ली

प्राप्ति-स्थान :

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति

४८, सतलामाता बाजार, इन्दौर ४५२००२ (म.प्र.)

निराकुलता

उन दिनों विदेह देश की राजधानी मिथिला थी। वहाँ के अधिपति महाराज नमि की वीरता और पराक्रम की गाथाएँ दूर-दूर तक गायी जाती थीं, किन्तु साथ ही ये वे अति भोग-विलासी। अनेक अनिन्द्य रूपसि रानियों से भरा-पूरा, नून्य और संगीत से सतत गूँजता उनका रनिवास मानो इन्द्र के अखाड़े से होड़ ले रहा हो।

अतिभोग का परिणाम अतिरोग होता है, फलतः महाराज नमि विषम दाह-ज्वर से पीड़ित हो गये। उनके शरीर का अंग-प्रत्यंग धधक उठा। उनकी गुदगुदी कोमल शैया भी उन्हें अंगार-बिछी-सी जान पड़ी। बड़े-बड़े वैद्य आये और औषधियाँ दीं, साथ ही उनके संपूर्ण शरीर को चंदन से लेप करने का भी निर्देश दिया। मलय चंदन के बार-बार लेप करने से महाराज को बहुत-कुछ शान्ति भी मिलती।

रनिवास की सभी रानियाँ पति-सेवा के लिए उमड़ पड़ीं। वे चंदन घिसतीं और अपने कोमल करों से, अति मृदुलता से पति-वेह पर उसका लेप करतीं। चंदन घिसते समय रानियों के हाथों की चूड़ियों से समुत्थित रुनझुन ध्वनि होती, वह थी तो मधुर; किन्तु येचैन महाराज को सह्य न हो सकी। फलतः रानियों ने सौभाग्य-सूचक एक-एक ही चूड़ी रखकर अपना कार्य यथावत रखा।

जब रुनझुन ध्वनि बन्द हो गयी तो राजा नमि ने पूछा—“क्या चंदन अब नहीं घिसा जा रहा है?” पटरानी ने उत्तर दिया—“नाथ! चंदन तो यथावत घिसा जा रहा है, परन्तु हर रानी के हाथ में एक-एक चूड़ी होने से संघर्ष-जन्य ध्वनि बन्द हो गयी है”। इस उत्तर से राजा नमि की विचार-धारा धीरे-धीरे इस एकाकी चूड़ी-प्रसंग पर बहने लगी। उनकी अन्तर चेतना जाग उठी कि ‘एकान्त’ में ही शान्ति है। जहाँ न संघर्ष है, न टूट-फूट है, न टकराव और न कोलाहल, बस ऐसी ही एकत्व-दशा परम उपादेय है। इसी विचार-धारा में बहते हुए उन्होंने निश्चय किया कि अब भावी जीवन में मैं संसर्ग-संघर्ष की विषम स्थिति से बचूँ, और शान्त तथा एकाकी मार्ग की ओर बढ़ूँ। आकुलता और संघर्ष से भरा-पूरा यह राज्य मेरी एकता एवं निराकुलता के विपरीत है। जब मेरी दाह-ज्वर की पीड़ा में कोई भागीदार या हिस्सा बँटाने वाला संसार में नहीं है और न हो सकता है, तो फिर किसके लिए ऐसे राज्य-भार को मैं ढोऊँ? मुक्ति-मार्ग समवेत से नहीं, एकत्व से ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार सोचते-सोचते वे चुपचाप, अकेले महलों से निकल पड़े और सीधे वन की राह ली। वे किसी एकान्त वन-खण्ड में पहुँचे, और एकत्वाराधना, ध्यान और तपस्या से एक दिन शान्त-निराकुल अवस्था की श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुए।

○○

अनचीते एक नन्हे प्रसंग से राजा नमि का भोग और राग भरा जीवन शीघ्र ही योग और विराग का जीवन बन गया। कौन कह सकता है कि आज किरी का दुष्ट-निकृष्ट जीवन, किसी ऐसे नन्हे प्रसंग के स्पर्श से कल के इष्ट-सुष्ठु जीवन में बदल जावे? सच तो यह है कि न कोई सतत दुष्ट है और न सतत सुष्ठु, सब ही प्रसंग का रंग है।

□ नैमीचन्द पटोरिया



प्रश्न भी स्वाध्याय

- स्वाध्याय शब्द की दो निरुक्तियाँ हैं—स्व+अध्याय और सु+अध्याय। मुमुक्षु को नित्य स्वाध्याय करना चाहिये। स्व आत्मा के लिए हितकर शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है, तथा 'सु' अर्थात् सम्यक् शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है।
- शब्द की शुद्धता, अर्थ की शुद्धता, बिना विचारे न तो जल्दी-जल्दी पढ़ना और न अस्थान में रुक-रुक कर पढ़ना तथा 'आदि' शब्द से पढ़ते हुए अक्षर या पद न छोड़ना सम्यक्त्व या समीचीनता है।
- विनय आदि गुणों से युक्त पात्र को शुद्ध ग्रन्थ, शुद्ध उसका अर्थ, और शुद्ध ग्रन्थ तथा अर्थ प्रदान करना वाचना (स्वाध्याय-भेद) है।
- ग्रन्थ, अर्थ, और दोनों के विषय में 'क्या यह ऐसा है या अन्यथा है' इस सन्देह को दूर करने के लिए अथवा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार से निश्चित को भी दृढ़ करने के लिए प्रश्न करना पृच्छना-स्वाध्याय है।
- प्रश्न अध्ययन की प्रवृत्ति में निमित्त है। प्रश्न से अध्ययन को बल मिलता है इसलिए वह भी स्वाध्याय है।
- प्रश्न करना स्वाध्याय का मुख्य अंग है; मगर उस प्रश्न करने के दो ही उद्देश्य होने चाहिये—अपने सन्देह को दूर करना और अपने जाने हुए को दृढ़ करना।
- जाने हुए या निश्चित हुए अर्थ का मन से जो बार-बार विन्तवन किया जाता है वह अनुप्रेक्षा है। पठित ग्रन्थ के शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण को आम्नाय कहते हैं। आम्नाय भी स्वाध्याय है।

| श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महाश्वरजी
(राजस्थान) द्वारा प्रचारित |



हेसते-हेसते
जियो,
हेसते-हेसते
मरो
अंक
९३-९४

वर्ष ८, अंक १-१०; पौष-माघ २०३५; जनवरी-फरवरी १९७९

कारा !

दिव्य चेतना की सरिता का
भंगुर देह किनारा,
काट रही है क्षण-क्षण जिसको
सतत समय की धारा,

किन्तु उदधि तक पहुँचाने का
पुद्गल स्वयं सहारा,
लीन परम में होते ही यह
छूट जाएगी कारा ।

□ कन्हैयालाल सेठिया

तीर्थकिर्त

विचार-मासिक

(सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन)

वर्ष ८, अंक ९-१०; जनवरी-फरवरी १९७९

पौष-माघ, वि. सं. २०३५; बी. नि. सं. २५०५

संपादक : डा. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन

वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया
विदेशों में : तीस रुपये
आजीवन : एक सौ एक रुपये



हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कालोनी,
कनाड़िया रोड,
इन्दौर-४५२००१
दूरभाष : ५८०४

नई दुनिया प्रेस
केसरबाग रोड,
इन्दौर-२ से मुद्रित

क्या/कहाँ

कारा ! (कविता)

—कन्हैयालाल सेठिया; आव. २

क्या आप हँस सकते हैं ?

—संपादकीय ३

हँसते-हँसते जियो

—डा. सुरेन्द्र वर्मा ५

आनन्द के क्षण

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

हँसते हुए गुलाब के सान्निध्य में (कविता)

—उमेश जोशी १२

हँसते-हँसते जियें

—राजकुमारी बेगानी १३

(हम) हँसना भूल जाते हैं

—अर्चना जैन १७

हँसते-हँसते जियें/करें

—डा. निजामउद्दीन १९

तू हाँसे जग रोय

—कन्हैयालाल सरावगी २१

हँसते-हँसते जियो : कब तक ?

—सुरेश 'सरल' २५

हँसते-हँसते मरना

—गणेश ललवानी २८

अपने पर भी हँसें कभी

—जमनालाल जैन ३१

हँसते-हँसते मृत्यु-वरण

—डा. प्रेमसुमन जैन ३३

जीवन : हरा हर पल, भरा हर पल

—डा. कुन्तल गोयल ३७

रुढ़ि के ताले इस तरह खुल सकते हैं

—काका कालेलकर ४०

जो हँसने से रोके, तोड़ें ऐसी परम्पराएँ
(कविता)

—कल्याणकुमार 'शशि' ४१

आदमी हो आदमी की तरह जीना जरा
जानो (कविता)

—नरेन्द्र प्रकाश जैन ४३

टिप्पणियाँ

(१) जैन पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी
पर्याय

—केशरीमल जैन ४४

(२) स्वर्ग और नरक एक सत्य है

—हरखचन्द बोधरा ४६

जैन विद्या : विकास-क्रम/काल, आज

—डा. राजाराम जैन ४७

साधु-वाद

—आ. विद्यासागरजी ५१

ये कुछ नये मंदिर नये उपासरे

—नेमीचन्द जैन ५२

कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) ५५

पत्रांश ५७

समाचार-परिशिष्ट ६१

साधना-भ्रष्ट (कविता)

—दिनकर सोनवलकर; आव. ३

वह मनुष्य है

—आवरण ४

आवरण-आकल्पन (हँसते-हँसते जियो;
हँसते-हँसते मरो)

—गणेश ललवानी, कलकत्ता

क्या आप हँस सकते हैं ?

हँसना आसान है, हँसना मुश्किल है;

हँसना एक कला है, हँसना एक विज्ञान है;

आसान वह तब है जब आप पूरी तरह, पूरी निष्ठा और स्वाभाविकता से सरल हों,
मानवीय हों; पाशविक या बर्बर न हों — और

मुश्किल तब है जब आप पेचीदा हों, जटिल हों, जालसाज हों, मनुष्य को मनुष्य
न मानते हों, उसका शोषण करते हों; ब्रह्मरताओं और क्रूरताओं में डुलसते-जीते हों;

या फिर आधे में हों

यानी न माया में हों, न राम में। ऐसे अधर में झूलते-तड़पते लोग हँसते तो हैं,
किन्तु उनकी यह हँसी एक हथकंडे की हँसी होती है, जिसकी पीठ पर जहर

लहरें मारता है,

लगता है वह कोई बामी, या माँद है; जो ऊपर से स्पष्ट नहीं है, किन्तु भीतर से
रक्त-पिपासु है।

इसलिए, जरूरी है कि आप हँसते-हँसते जीने की कला जानें और उसे एक कुशल-
अप्रमत्त विज्ञानी की तरह से जानें;

यानी यह जानें कि स्वाभाविकता ही हँसी है, अस्वाभाविकता या वैभाविकता
रुदन है, अर्थात् स्वयं में समस्त लोक को देखना-पाना हँसने की स्थिति है, अन्य
शब्दों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हँसने की हालत है, और स्वयं को अहम्-अभिमान
में डाले रहकर अन्यो को छोटा, हीन, हेटा समझना रुदन है, एक अन्तहीन रुदन;
इसलिए जो हँसना चाहता है उसे सम्यक्त्व को जानना होगा, और यदि वह
ऐसा नहीं कर पायेगा तो उसे वे स्थितियाँ, जो झूठी हैं, सच लगेंगी; और
तिस पर भी यदि वह हँसेगा तो एक झूठी, मिथ्या, रूढ़ हँसी ही वह हँसेगा।

गरज यह है कि तब वह एक औपचारिक हँसी हँस पायेगा,

ऐसी हँसी जो उसके व्यक्तित्व का अंग कभी नहीं होगी, बल्कि ऐसी कोई हँसी
होगी वह, जो पके हुए घड़े पर क्वारंरी मिट्टी की तरह चिपकी होगी,

मूल में यह हँसी भीतर गहरे से आयी हुई हँसी होगी ही नहीं —

इसलिए यदि हँसी को उल्लास, हर्ष, आनन्द इत्यादि का सीधा पर्याय बनाना है,
तो उसे अन्तस् की गहराइयों में से उठ-फूटकर सारे जीवन में छा जाना होगा
और विश्व के हर एक प्राणी को अपनी सक्षम मंगलमयी भुजाओं में समेट लेना
होगा;

हँसी की एक विशेषता है कि यदि वह वास्तविक होती है तो ऐसा कभी ही ही
नहीं सकता कि वह दूसरों के दिल को न छुए और उसके दर्द से कोई रिश्ता
बनाये न,

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/३

इसलिए हँसना एक कला है, सौन्दर्यवृद्धि का सबसे बड़ा उपकरण है, वह एक विज्ञान भी है, यानी उसका सहज व्यक्तित्व के साथ कोई सरोकार, कोई संगति है; रुदन की कोई संगति नहीं है, वह जीवन-मरण दोनों से असंगत, अयुक्तियुक्त स्थिति है;

प्रश्न है -

क्या आप कभी हँसे हैं ?

क्या आप हँसना जानते हैं ? क्या आप हँस सकते हैं ? क्या आप सुख-दुःख दोनों में एक-सी ऊँचाई की हँसी हँस सकते हैं ?

क्या आप कष्टों के चेहरे, जो असंख्य और विविध हैं, जानते हैं—उनसे वाकिफ़ हैं ?

क्या आप इन आकृतियों से भयभीत रहते हैं और उनसे भागना, या उन्हें टालना चाहते हैं, या एक अपराजिता मुस्कराहट के साथ उनसे निबटने की कोई युस्त तैयारी रखते हैं ?

क्या आप इस रहस्य को जान गये हैं कि कष्ट जल-तरंग है, या बादलों में कौंधती विजली की तरह ही अजर-अमर नहीं है, उसकी उम्र हवा के एक झोंके, या पानी के बुद्बुद की उम्र से अधिक नहीं है ? और यह कि जो सहता है, सह लेता है, सहता आया है;

जो बहता है, बह लेता है, बहता आया है,

अपराजित है;

और यह कि जो सहने से इनकार कर गया है,

बहने से मुकर गया है,

जड़ है, नासमझ है, रुक गया है,

बल्कि कहें—बहुत लम्बे समय के लिए चल पाने में असमर्थ किसी दलदली जमीन में धँस गया है ?

ज्यादातर लोग -

मौत से, मौत की खबर-खौफ़ से; कष्ट से, संकट से, विपदा से डरते हैं, क्यों ?

इसलिए कि वे नहीं जानते कि अधिक स्वस्थ होने के लिए निर्विकार होना आवश्यक है,

विकारों का निरसन हँसी से होता है, उल्लास से होता है, प्रसन्नताओं और परोपकारों से होता है,

वस्तुतः मौत मौत है ही नहीं, वह जीवन है, या किसी जीवन की शुरुआत है; वह समस्या नहीं है, समाधान है,

समाधान इसलिए कि वह सर्वत्र है;

इमारत मरती है, कुर्सी मरती है, मेज मरती है, मशीन मरती है,

जो भी है कुछ अन्य होने के लिए मरता है, यानी अपनी जगह किसी अन्य के लिए छोड़ देता है;

(शेष पृष्ठ १६ पर)

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४

हँसते-हँसते जियो

“क्या आपने कभी अनुभव किया है कि हँसी कड़वाहट के मेल को काटती है और वार्तालाप को आगे बढ़ाने में स्निग्धता प्रदान करती है कितना ही गंभीर वातावरण क्यों न हो, हवा कितनी ही गर्म क्यों न हो, हँसी की एक हल्की फुहार ठंडक पहुँचाती है, तनाव शिथिल करती है, और बोझ हलका कर जाती है।

□ सुरेन्द्र वर्मा

मानव-संस्कृति के आरम्भ से ही मनुष्य स्वयं को परिभाषित करने का प्रयत्न करता आया है। उसने अपने आपको विचारशील प्राणी, सामाजिक प्राणी, इतिहास-जीवी प्राणी, नैतिक प्राणी, राजनैतिक प्राणी और उपकरणों का उपयोग करने वाला प्राणी आदि अनेक अवधारणाओं द्वारा मुनिश्चित किया है; किन्तु इन सबमें उसकी एक परिभाषा का अपना विशिष्ट स्थान है जिसके अनुभार वह एक हँसने वाला प्राणी है।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के अतिरिक्त शायद ही कोई प्राणी कभी हँसा हो। लकड़बग्घे की आवाज मनुष्य की हँसी से थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती है और सुना है हंस (पक्षी) हँसता है। किन्तु मानव-समाज के किसी भी व्यक्ति ने हंस की हँसी शायद ही कभी अनुभव की हो। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने अतिरिक्त किसी भी प्राणी को हँसते हुए देखना ही नहीं चाहता! उसे डर है कि यदि अन्य प्राणियों ने कहीं हँसना सीख लिया तो उन्हें मनुष्य के अतिरिक्त हँसने के लिए और कौन सर्वाधिक उपयुक्त पात्र मिल सकेगा।

वस्तुतः मनुष्य को न केवल हँसने की क्षमता प्राप्त है बल्कि शायद वही एक मात्र प्राणी है जिस पर हँसा जा सकता है। जो-जो और जैसे-जैसे करतब मनुष्य करता है, भला क्या मजाल कि कोई अन्य प्राणी कर सके।

मनुष्य के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का राज उसकी हँसी है—यह मुझे अल्पावस्था में ही पता चल गया था। तब मैं काफी छोटा रहा होऊँगा। एक वैद्यजी मेरे परिवार के स्वास्थ्य की देख-रेख करते थे। एक दिन मैं उनके चिकित्सालय में दवा के लिए अपनी बारी का इंतजार कर रहा था। वैद्यजी एक मरीज को देख रहे थे। उसे शायद अनिद्रा की बीमारी थी। बहुत देर तक, बहुत दुःखी मन से वह वैद्यजी को अपनी बीमारी के अनेक लक्षण बताता रहा। उसकी बात खत्म होने पर वैद्यजी ने उससे एक बड़ा गंभीर प्रश्न पूछा— आप हँसे कबसे नहीं हैं? कष्ट पाने पर जानवर रो सकते हैं, लेकिन वे हँस नहीं सकते; आप तो आदमी हैं!

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/५

क्या आपने कभी अनुभव किया है कि हँसी कड़वाहट के मूल को काटती है और वार्तालाप को आगे बढ़ाने में स्निग्धता प्रदान करती है! कितना ही गंभीर वातावरण क्यों न हो, कितनी ही तनूवपूर्ण परिस्थिति क्यों न हो, हवा कितनी ही गर्म क्यों न हो, हँसी की एक हल्की बौछार ठंडक पहुँचाती है, तनाव शिथिल करती है और बोझ हलका कर जाती है, इसीलिए एक अंग्रेज निबंधकार ने हँसी को संवाद का सहगान कहा है।

हँसी जाड़े के दिनों में धूप का एक टुकड़ा है। वह गरमाई भी देती है और रोशनी भी। मनुष्य जिस दिन एक बार भी नहीं हँसता, उसके लिए वह दिन मनहूस होता है। वह उसे पूरी तरह गँवा देता है। जितने ही दिन मनुष्य इस प्रकार गँवा देता है, उतनी ही अपनी जिन्दगी वह छोटी करता जाता है। सुप्रसिद्ध हास्य-लेखक लॉरेंस स्टर्न ने एक बार कहा था—‘जब मनुष्य मुस्कराता है, और उससे भी अधिक जब वह हँसता है, तब मुझे ऐसा लगता है कि वह हर बार जिन्दगी की छोटी-सी अवधि को थोड़ा बढ़ा रहा है।’

मन्द मुस्कराहट से लेकर अट्टहास तक हँसी की अनेक छटाएँ हैं। हँसी अपने रंगों को गिरगिट की तरह बदलती है। एक भावना-रहित खोखली हँसी है तो एक औपचारिकता के लिए मात्र खीसें निपोरना है। एक हँसी में धृणा है, तो एक अन्य में व्यंग्य है। हँसी बनावटी भी हो सकती है, और हँसी हादिक भी होती है। एक अश्लील, भद्दी हँसी है तो एक सुसंस्कृत स्मित हास्य है; किन्तु सर्वोत्तम हँसी सहज प्रेम की हँसी है जो होट और हृदय दोनों को एक साथ आंदोलित करती है—इसमें न दुराव है न व्यंग्य, न बनावट न औपचारिकता। बच्चों की अबोध हँसी को कौन अनदेखा कर सकता है और लड़कियों की खनखनाहट किसे आकृष्ट नहीं करती? क्या आपने कभी बूढ़ों की पोपली हँसी पर ध्यान दिया है? उनके चेहरे की लकीरों सिर्फ इतना बताती हैं कि कभी उस पर भी वह कहाँ-कहाँ खेला करती थी!

जो मनुष्य हँसता नहीं, उससे सतर्क रहो। ऐसा व्यक्ति कभी भी विश्वासघात कर सकता है। वस्तुतः उसका सारा जीवन ही एक विश्वासघात है। जो मनुष्य बिना वजह हँसता है, वह मूर्ख है; उसकी मित्रता कभी भी खतरे में डाल सकती है। जो व्यक्ति बेहद हँसता है—बन-बन कर हँसता है—वह सहानुभूति का पात्र है क्योंकि हो सकता है उससे अधिक और कोई दुःखी न हो।

हँसी मनुष्य के चरित्र को अभिव्यक्त करती है। हम किस पर हँसते हैं, इससे पता लगता है कि हम कैसे व्यक्ति हैं। अहंकारी व्यक्ति दूसरों की कमजोरियों पर हँसते हैं। जो पर-पीड़ा में आनन्द लेता है वह अपने साथियों के दुर्भाग्य पर हँसता है। यदि हँसना ही है तो अपनी कमजोरियों और अपने दुर्भाग्य पर हँसो। ऐसी हँसी व्यक्ति को बल देती है और दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल देती है। ऐसा व्यक्ति हँसते-हँसते जीता है और मरते-मरते भी हँसता है। □

तीर्थकर : जन. फर. ७९/६

आनन्द का क्षण

क्या आपको भी कभी जीवन को गुदगुदाने वाले ऐसे कुछ क्षणों का अनुभव हुआ है, और क्या ऐसे क्षणों को जन्म देने की कला आप जानते हैं? नहीं, तो अभ्यास कीजिये; क्योंकि धरेलू और आम जीवन को समृद्ध बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

□ कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

एशिया के एक प्रसिद्ध जीवन-शास्त्री (श्री लिन यू तांग) का कहना है कि जिन्दगी संघर्ष से भरी हुई है। एक के बाद एक खींच-तान लगी ही रहती है और चैन नहीं मिल पाती, इसलिए जीवन में उन क्षणों की बहुत कीमत है, जो जीवन को गुदगुदा दें और खींच-तान की तेजी को भुला दें।

इस जीवन-शास्त्री ने लोगों को एक बड़ा दिलचस्प मशवरा दिया है कि जब तुम अपने किसी मित्र-दोस्त से बात करने बैठो, तो घड़ी का मुंह दीवार की तरफ़ कर दो।

जब उनसे पूछा गया कि बातचीत का और घड़ी का क्या सम्बन्ध? तो उत्तर मिला कि वह कम्बख्त याद दिलाती रहती है कि इतनी देर हो गयी—इतनी देर हो गयी और इस तरह आनन्द का वह क्षण खण्डित हो जाता है, जो मित्र की बात-चीत से मिलता है।

इसी विद्वान् के जीवन का एक संस्मरण बहुत मजेदार है। उनके देश के राष्ट्रपति—चांगकाईशेक—ने अपने देश (चीन) में शिक्षा के प्रचार पर विचार करने के लिए एक विदेशी विद्वान् को बुलाया। निश्चय हुआ कि राष्ट्रपतिजी चार बजे शाम को उनसे बातें करें और उस बातचीत में ये महाशय भी उपस्थित रहें, जो घड़ी का मुंह दीवार की तरफ़ करने का मशवरा देते हैं। इसकी सूचना इन्हें दे दी गयी और इनसे चार बजे आने की स्वीकृति ले ली गयी।

ठीक चार बजे वे विदेशी विद्वान् राष्ट्रपति-भवन पहुँच गये, और राष्ट्रपति तो वहाँ थे ही, पर ये तीसरे महाशय कहाँ हैं? सवा चार बजे गये और चाय आ गयी, पर वे नहीं आये। लो ये बजे साढ़े चार और तब भी वे लापता। राष्ट्रपति का सेक्रेटरी उनके घर गया, तो पता चला कि वे तो तीन बजे ही राष्ट्र-पति-भवन चले गये थे।

सेक्रेटरी जब उनके घर से लौट रहा था, तो वे बाजार में उसे मिले। वे बाजार में क्या कर रहे थे? राष्ट्रपति-भवन में एक विदेशी विद्वान् से सलाह करने के मुकाबले वह कौन-सा जरूरी काम था, जिसे वे बाजार में कर रहे थे?

तीर्थकर : जन. फर. ७९/७

“जी ; क्या देख रहे थे वे वहाँ बाजार में ?”

जी कुछ नहीं और क्या कुछ भी नहीं। न भौंचक होने की जरूरत है, न विस्मय-विस्मय । बात एकदम साफ़ है कि वे बाजार में कबूतरबाजी का मैच देख रहे थे ।

आपका जी चाहे, तो आप नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं, उनके नाम पर कुढ़ सकते हैं; राष्ट्रपति ने भी कबूतर देखने की बात सुनकर यही किया था, पर एक बात पहले ही बता दूँ आपको कि तब आप का भी वही हाल होगा, जो उनका उत्तर सुनकर राष्ट्रपति का हुआ था। सुन लीजिये वह उत्तर—

राष्ट्रपति ने अपने देश की भाषा में जब उनसे कहा कि क्या कबूतरों का मैच देखना इस राष्ट्रीय काम से ज्यादा जरूरी था? तो वे बोले—“यह जरूरी और बेजरूरी का या बढ़िया-घटिया का सवाल नहीं है, यह तो आनन्द का प्रश्न है। यह काम बहुत जरूरी है, मैं यह बात मानता हूँ, पर अचानक जीवन में आनन्द का गुदगुदाने वाला जो क्षण आ गया था, मैं भला उसकी उपेक्षा कैसे कर सकता था राष्ट्रपति महोदय !”

सुनकर राष्ट्रपति को हँसी आ गयी। आप भी अब हँस सकते हैं, पर इस विद्वान् की इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि संघर्षों और खींच-तानियों से भरी घड़ियों में जीवन को गुदगुदाने वाले क्षणों का बहुत महत्त्व है और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

□ □

गुरुदेव रघीन्द्रनाथ ठाकुर की चप्पल की कील उखड़ी हुई थी। समय की बात, उस पर उनका ध्यान नहीं गया और वे उसे ही पहने हुए एक सभा में भाषण देने चले गये। कील पैर में चुभती रही और खून गिरता रहा, पर उनके भाषण का प्रवाह बहता रहा। वे भाषण देकर मंच से उतरे, तो लोगों ने देखा कि चप्पल में काफी खून लगा है।

किसी ने कहा—“जब कष्ट हो रहा था, तो आप रुके क्यों नहीं ?”

गुरुदेव ने उत्तर दिया—“सब बन्धु भाषण सुनकर आनन्द ले रहे थे और मैं सबको आनन्द परोसने का आनन्द ले रहा था। ऐसे आनन्द के क्षण में मैं दुःख की ओर ध्यान देना, तो वह क्षण खण्डित हो जाता। वही बात कि जीवन को गुदगुदाने वाले कुछ क्षण जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं।

□ □

इन क्षणों का कोई समय नहीं होता और इन क्षणों को जन्म देने का कोई निश्चित तरीका—प्रकार भी नहीं है। समालोचकप्रवर आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल बहुत गम्भीर विद्वान् थे और कवि-सम्मेलनों में अपनी कविता, वाचने के स्वर में पढ़ा करते थे, उसे गाते न थे। पर उनके एक मित्र अपनी कविता खूब गाकर पढ़ा करते थे।

तीर्थकार : जन. फर. ७९/८

एक कवि-सम्मेलन में दोनों साथ गये। जब शुक्लजी अपनी कविता आरम्भ करने लगे, तो उनके मित्र और से बोले—“अब आप असुर की कविता सुनिये”। असुर का अर्थ बिना सुर की भी और असुर का अर्थ राक्षस भी। बड़ी सीधी चोट थी, पर बड़ी सधी हुई चोट थी। शुक्लजी उस चोट को सह गये, पर जब वे मित्र कविता पढ़ने खड़े हुए, तो शुक्ल जी ने खूब जोरदार स्वर में कहा—“आप लोग असुर की कविता तो सुन ही चुके, अब असुर की कविता सुनिये”।

असुर की तरह असुर के भी दो अर्थ हैं। पहला सुरसहित और दूसरा श्वसुर-सुसुरा, जो एक सम्बन्ध भी, पर एक गाली भी। सारा समाज हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया और उस क्षण ने सभी के जीवन को गुदगुदा दिया। इस आनन्द-मय क्षण को जन्म देने का काम बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से प्रयोग किये एक शब्द ने ही तो किया, पर यह कोई नियम नहीं है कि बुद्धिमत्तापूर्ण शब्दों के प्रयोग से ही ऐसे क्षण का जन्म हो। अनेक बार बुद्धिहीन शब्दों से भी गुदगुदाने वाले क्षण का जन्म होते देखा गया है।

□ □

प्रसिद्ध अभिनेत्री ग्रेसकेली जनवरी में माँ बनने वाली है, पत्रों में यह समाचार छपा। एक परिवार में वह समाचार पढ़ा गया और उस पर चर्चा हुई, तो दस वर्ष की एक लड़की ने अपनी माँ से पूछा, “माँ ग्रेसकेली को यह कैसे पता चला कि जनवरी में उसके बच्चा होने वाला है?”

माँ चिन्ता में पड़ गयी कि बच्ची को क्या जवाब दे, पर तभी उसकी छोटी लड़की, जिसकी उम्र पाँच-छह साल की ही थी, चटाख से बोली—“वाह, सब पत्रों में यह समाचार छपा है, तो क्या केली को पढ़ना नहीं आता”।

कितने अबोध बोल थे ये, पर इन्होंने एक ऐसे क्षण को जन्म दिया, जिसने बहुत दिनों तक उस परिवार को गुदगुदाया और जो आज भी हमारे मन को गुदगुदा देता है।

□ □

व्यंग्य बुरी चीज है, इसीलिए उसे मुहावरे में व्यंग्य-बाण कहा गया है, पर वह भी कभी-कभी हमारे जीवन को गुदगुदा देता है—बिल्कुल उसी तरह, जैसे चतुर वैद्य विष से भी चिकित्सा का काम ले लेता है। विश्वविख्यात लेखक एच.जी. वेल्स की पुस्तक शॉप ऑफ् थिंग्स् टू क्रम पढ़कर एक धमण्डी अभिनेत्री ने उन्हें पत्र लिखा—“पुस्तक मुझे बहुत पसन्द आयी, पर जनाब, यह तो बताइये कि यह आपने किससे लिखवायी थी?”

इसे पढ़कर वेल्स नाराज हो सकते थे और उस चिट्ठी को फाड़ कर फेंक सकते थे, पर नहीं, उन्होंने उसका उत्तर दिया और उसमें लिखा, “आपको यह पुस्तक पसन्द आयी, धन्यवाद, पर यह तो बताइये कि यह पुस्तक आपको किसने

तीर्थकर : जन. फर. ७९/९

पढ़कर सुनायी थी?" मतलब यह कि आप की राय में मैं लेखक नहीं हूँ, पर मेरी राय में तो आप अनपढ़ भी हैं—इस लायक भी नहीं कि कोई पुस्तक बाँच सकें। ज़रा-सी सहिष्णुता और सरसता ने नाराज़ी के क्षण को अपने लिए, उनके लिए, और सबके लिए जीवन को गुदगुदाने वाला क्षण बना दिया और धमण्ड का सिर भी झुका दिया।

□ □

महान् लेखक श्री पद्मसिंह शर्मा और महान् कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' साथ-साथ जा रहे थे। शर्मा जी पतले-छरहरे, तेज़-तर्रार और 'रत्नाकर' जी मोटे, भारी-भरकम और रईस-मिजाज़। तो शर्मा जी की चाल यों कि झपटते-से; और 'रत्नाकर' जी की चाल यों कि हिलते-से दिखायी दें।

ऊब कर शर्मा जी ने कहा, "रत्नाकरजी, आप भी क्या जानमाशे (बारात ठहरने का स्थान) जैसी चाल चलते हैं।"

उचित है कि 'रत्नाकर'जी यह सुनकर अपने मुटापे पर झेंप जाँएँ और यह क्षण उदासी का क्षण बन जाए, पर 'रत्नाकर'जी झेंपे नहीं, बोले—“मैं कोई डाक का हरकारा तो हूँ नहीं, कि जब चलूँ, भागता हुआ ही चलूँ!” इस उत्तर ने उस उदासी और झेंप के क्षण को गुदगुदाने वाला क्षण बना दिया और दोनों ही महान्, बालकों की तरह खिलखिला कर हँस पड़े।

□ □

गांधीजी को उनके सब कार्यकर्ता बापू कहते थे, और उनके साथ बापू-जैसा ही बेतकल्लुफ व्यवहार करते थे। बातों-बातों में एक दिन एक कार्यकर्ता को मज़ाक सूझी, तो उसने कहा, “बापू आप गौओं की सेवा के लिए बहुत-से काम करते हैं और संस्था चलाते हैं, पर एक प्राणी गाय से भी अधिक निरीह है, लोग उस पर मनमाना अत्याचार करते हैं, उसे खाना भी ठीक से नहीं देते। वह है गधा। क्या आप उस बेचारे के लिए कुछ न करेंगे?”

बापू बोले—“तुम्हारी बात ठीक है। मैंने गौओं की सेवा के लिए गौ-सेवक-संघ की स्थापना की है। अब तुम गधा-सेवक-संघ की स्थापना कर उसके महामंत्री बन जाओ, तो बहुत अच्छा हो।” गांधीजी के प्रस्ताव पर सब लोग खिलखिला कर हँस पड़े और गधे की बात ने सब के जीवन को क्षण-भर के लिए आनन्द से गुदगुदा दिया। जी हाँ, गधे की बात ने।

□ □

अच्छा गधा-सेवक-संघ का मंत्री बनना तो फिर भी एक सार्वजनिक पद पाना है, पर किसी को गधा कहना और वह भी भरी सभा में कैसा है? जी,

तीर्थकर : जन. फर. ७९/१०

आपकी भी यही राय है कि यह घोर अपमान है, एक बार इस घोर अपमान में भी जीवन को गुदगुदाने वाले क्षण का जन्म हुआ था।

इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री मिस्टर लायड जार्ज एक सभा में अपने मंत्रिमण्डल के कार्यों की तारीफ कर रहे थे। यह पहले महायुद्ध-काल की बात है। उनके विरोधी एक श्रोता ने सभा में खड़े होकर पूछा—“मिस्टर लायड जार्ज, आप तो शायद वही हैं, जिसके पिता गधे की गाड़ी चलाया करते थे?”

हँसना अंग्रेजों का स्वभाव है, तो लोग हँस पड़े, पर तभी लायड जार्ज ने कहा—“दोस्तो, यह सवाल सही है। मेरे पिता वाकई गधे की गाड़ी चलाया करते होंगे, पर वह गाड़ी तो अब बिक गयी है। हाँ, गधा अभी तक मौजूद है।”

ओह, कुछ न पूछिये कि लोग किस तरह हँसे, किस तरह हँसे कि लायड जार्ज के बार-बार कहने पर भी हँसी के फव्वारे बन्द न हुए और जलसा-का-जलसा लोट-पोट हो गया।



अच्छा, हँसी और गुदगुदी की आवाजें तो आप काफ़ी सुन चुके, अब एक ऐसी बात सुनिये कि जिसमें न शब्दों की आवाज़ है, न हँसी की, फिर भी वह जीवन को गुदगुदाने वाले क्षणों का सर्वोत्तम प्रतीक है।

इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मेजिनी उन दिनों निर्वासित थे। एक दिन वे अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक कार्लाइल से मिलने गये। कार्लाइल ने बहुत आदर से उनका अभिनन्दन और स्वागत किया। इसके बाद वे अलाव के पास बैठ गये और चुपचाप कई घंटों तक बैठे रहे, कोई कुछ नहीं बोला।

जब मेजिनी चलने के लिए उठे, तो कार्लाइल ने कहा “आज की शानदार मुलाकात से बहुत आनन्द मिला और इन क्षणों की याद बहुत दिनों तक जीवन को गुदगुदाती रहेगी।”

क्या आपको भी कभी जीवन को गुदगुदाने वाले ऐसे कुछ क्षणों का अनुभव हुआ है? और क्या ऐसे क्षण को जन्म देने की कला आप जानते हैं? नहीं, तो अभ्यास कीजिये; क्योंकि घरेलू और सार्वजनिक जीवन को समृद्ध बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

(भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित लेखक की अत्यन्त लोकप्रिय कृति ‘महके जीवन, चहके द्वार’ से साभार)। □

तीर्थकर : जन. फर. ७९/११

आब जब मैंने
 अपने कमरे की खिड़की खोली
 तो मैंने देखा कि
 एक गुलाब का फूल
 जो उग आया है
 मेरे द्वार के सामने
 अड़े हुए, पहाड़ पर
 बड़ी मस्ती के साथ हँस रहा है
 अपने आन्तर सौंदर्य के
 नये-नये इन्द्रधनुषी आयामों को
 प्रस्फुटित करते हुए।

पहाड़ के सीने को चीर कर
 वह गुलाब का फूल ऊपर उठा,
 यह कहता हुआ कि—
 “मुसीबत और कठिनाइयों की दीर्घा में
 बैठकर जो हस्ताक्षर अपने अधरों पर
 मुस्कराने की सुरम्य रेखाओं को
 अक्षुण्ण रख पाते हैं
 वे ही यथार्थ में
 कीर्ति के आसमान पर
 सूर्य बनकर प्रदीप्त होते हैं
 सृष्टि को ज़िन्दादिली का
 नया इतिहास प्रदान करते हुए।

बस्तुतः संघर्षों के उच्चतम बुर्ज पर भी
 जो व्यक्ति हँसते-हँसते जीना जानते हैं
 उनका ही गुणगान
 धरती के विशाल प्रांगण में होता है
 उनके अनुपम कृतित्व को
 अमरता का सुन्दरतम लबादा पहनाते हुए।
 हमेशा स्मरण रखो कि
 प्रतिष्ठा की मीनार का
 मञ्जुल मयंक वही बन पाते हैं,
 जो काँटों की असहनीय चुभन में भी
 हँसते-हँसते जीना

अपने कर्तव्य की धुरी बना लेते हैं
 नयी लीक को निमित्त करते हुए।

पहाड़ पर अपने अस्तित्व को
 टांकते हुए गुलाब के हँसते हुए चेहरे को
 देखकर मेरी सारी मायूसी और निराशा का
 घटाटोप कुहरा एक पल में विनष्ट हो गया
 शीतल सुगंधित हिलोर से भर गयी
 मेरी आन्तर सृष्टि
 फिर भुझे अहसास होने लगा कि
 मेरे जीवन का एक और गीयर बदल गया
 हाथ स्टीयरिंग पर महसूस करने लगते हैं
 गति की नयी धड़कनें
 नयी उमंगों के नये सोपान
 और नये उत्साह की बुलन्दी
 ज़िन्दगी की बालकनी में
 एक नयी ऊष्मा भरते हुए।

हँसते हुए
 गुलाब
 के
 सान्निध्य में

उमेश जोशी

हँसते - हँसते जिये

□ □ हँसी मनुष्य के अंतरंग की सही पहचान भी है; कोई हँसी दैवी होती है कोई सादा मुस्कराहट, कोई कुटिल कोई प्रलयंकर—किन्तु जीने के लिए हमें चाहिये वह सात्त्विक हँसी, जो किसी को आघात न पहुँचाये, किसी का मर्म विदीर्ण न करे, किसी के जीवन में विष न धोले, वरन अपनी निष्कपटता से जिन्दगी के सन्नाटों को खण्डियों से भर दे।

□ श्रीमती राजकुमारी बेगानी

जीवन-जीना एक बहुत बड़ी कला है और उससे भी बड़ी कला है हँसते-हँसते जीना। संसार में बिरले ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जो नहीं रोते। साधारणतया देखा जाता है कि जिसके पास रोटी नहीं है, वह रोटी के लिए रोता है; जिसके पास रोटी है, वह आरोग्य के लिए रोता है; धनहीन धन के अभाव में रोता है, धनवान अधिक प्राप्ति की कामना में घुलता है; जिसके पुत्र नहीं, उसे संसार ही सूना-सा लगता है; जिनके पुत्र हैं वे निरन्तर उनकी अयोग्यता को ही झींकते रहते हैं। एक अजीब समस्या है यह संसार!! उपनिषद् कहता है—'सब कुछ आनन्द से उत्पन्न हुआ है, आनन्द से जीवित है'। सुनकर लगता है कि न जाने किस मौज में कह डाली गयी है यह बात। यदि यह सत्य है तो संसार में इतनी व्यथा, इतनी पीड़ा, इतनी वेदना क्यों है? क्यों निविड निराशाओं और कुण्ठाओं के घने कुहासे से इतना आवृत है हमारे चारों ओर का परिवेश कि हमारे इर्द-गिर्द खड़ी आनन्द की वे ऊँची मीनारें, सुख की वे सुन्दर इमारतें हमें दृष्टिगोचर ही नहीं होतीं? एक दीर्घ कतार में मुँह बाये खड़े ये प्रश्न सदैव-सदैव हमसे पूछते हैं—क्यों, क्यों, क्यों???

शायद इसलिए कि हम यह भूल जाते हैं कि मानव मात्र गरल-पुंज ही नहीं होता, वरन् उसमें कहीं कोई अमृत-कुम्भ भी है; किन्तु हाँ—आवश्यकता है ऐसे किसी नीलकण्ठ की जो गरल को स्वयं में समाहित कर अमृतपान का सुयोग उपस्थित कर सके; अन्य के सम्मुख, स्वयं के सम्मुख ! मैं ऐसे बहुत से सम्पन्न परिवारों को जानती हूँ जहाँ कोई अभाव नहीं है। धन-दौलत, सुख-सुविधाओं से भरा-पूरा कुटुम्ब, नीरोग शरीर; फिर भी वहाँ न किसी को चैन, न किसी को शान्ति। क्योंकि वहाँ हर व्यक्ति एक दूसरे को ग़लत देखता है, ग़लत समझता है अतः परस्पर ग़लत व्यवहार करता है; तिस पर कोई किसी को सह नहीं सकता और आफत यह है कि कोई किसी को छोड़ भी तो नहीं सकता!! बस, सब एक-दूसरे पर दोषारोपण करते रहते हैं, एक-दूसरे का छिद्र देखते रहते हैं और निरन्तर रोते रहते हैं। ऐसे में भला रोयें न तो हँसें भी कैसे? तो क्या हमने जिन वस्तुओं को हँसने का आधार मान लिया है वे ग़लत हैं? इन परिवारों को देखकर तो ऐसा ही लगता है सचमुच ग़लत हैं।

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/१३

हँसी एक ईश्वरीय देन है। बहुत बड़ी देन। आमुर्बेद कहता है कि जो सदैव दिल खोलकर हँसता है, वह दीर्घायु होता है; क्यों होता है? क्योंकि दिल खोलकर वही हँस सकता है, जिसका हृदय निश्छल है, निर्मल है और जो भीतर-बाहर एक है। जिसकी गुण-ग्राहक दृष्टि दोष नहीं, अच्छाई खोजती है, उन अच्छाइयों से स्नेह करती है—सच्चा स्नेह, निःस्वार्थ स्नेह! जिसका हृदय संवेदनशील है, दृष्टि स्वच्छ; वह हर वस्तु को उसी रूप में देखता है, जिसमें वह है। यही लक्षण है उस देवत्व का जो अमृत पीना जानता है, पिलाना जानता है और गरल को पचाना जानता है।

हँसी मानव के अन्तर्गत भावों की, विचारों की एक विलक्षण पहचान है, एक कसौटी है। कोई हँसी दैवी होती है, कोई मात्र स्मिति; किसी की हँसी कुटिलताओं से पूर्ण होती है, तो किसी की प्रलयकारी। भरी राजसभा में पांचाली का अपमान करने वाला दुर्योधन भी खिलखिला कर हँसा था। वीर अभिमन्यु की धायल देह पर गदापात करने वाला दुःशासन भी अट्टहास कर रहा था। द्यूत में पासा जीतकर कपटी शकुनि भी मुस्कुराया था, कैंकयी के कान भर कर अयोध्या में आग लगाने वाली कुटिल मंथरा भी मुस्कुरायी थी। इन्द्र को अस्थिदान देते समय महान् दधिचि के अधरों पर भी एक मुस्कुराहट थी, और जहर का प्याला पीते हुए सुकरात और मीरा के अधरों पर भी वही थी। जितने प्रकार के हैं शाश्वत भाव उतनी ही प्रकार की है हँसी भी; किन्तु जीने के लिए हमें चाहिये वह सात्त्विक हँसी, जो किसी को आघात न पहुँचाये, किसी का मर्म न छेदे; किसी के जीवन में विष न धोले; अपितु वह अपनी निश्छलता से जीवन की शून्यता को प्रसन्नताओं से भर दे; कटुता को सरस कर दे, मृत प्राणों में संजीवन संचारित कर दे। वह किसी भी स्थिति में विषम न हो बस हो संगीत के आरोह और अवरोह के पश्चात् आने वाले उस सम की भाँति जिसकी मधुरता जीवन को उल्लसित कर देती है, नवचेतना से भर-भर देती है।

मेरी एक शिक्षिका थी। कमलाधर। बाल विधवा थीं वे। न अपना उनका कोई ससुराल में था, न पीहर में। सुना था उनके एक लड़का हुआ था, पर वह भी उनकी गोद सूनी कर शीघ्र ही चल बसा। बड़े संघर्ष के पश्चात् वे लिख-पढ़ पायी थीं। बस यही थी उनकी आजीविका, यही था उनका धन। मैंने कभी उन्हें रोते नहीं देखा। जब देखा तब हँसमुख। जैसे उनके जीवन में कहीं, कोई अभाव था ही नहीं। न उन्हें किसी से कोई शिकवा रहता, न कोई शिकायत। सब उन्हें चाहते, सब उनका सन्मान करते। क्यों न करते? सबके सुख-दुःख की सतत् सह-भागी जो थीं वे। मैं तो उन्हें देखकर इतनी विस्मित हो जाती कि कैसे उन्होंने जीवन को इतने सहज रूप में ले लिया है! कभी-कभी लगता असीम वेदना की उष्णता ने जैसे उनकी कुण्डलिनी को जागृत कर दिया है, अतः उनके ब्रह्मरन्ध्र का

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/१४

अमृत निरन्तर झरता रहता है, उनके कश्या-भरित नेत्रों से, हास्य-पूरित अधरों से। तभी तो उनका स्नेह अपने-पराये की संकीर्ण सीमा को लाँघकर इतना विस्तृत हो गया था; अहं की परिधि को तोड़कर सुख-दुःख की अनुभूति में एकरस हो गया था। तुलना नहीं थी उनकी किसी से।

भक्तमाल की कथा है—एक दरिद्र ब्राह्मण को ज्ञात हुआ कि सनातन गोस्वामीजी के पास एक ऐसी स्पर्शमणि है जिससे लोहा सोना हो जाता है। बेचारा तुरन्त दौड़ा उनके पास; लगा गिड़गिड़ाने और याचना करने—‘भगवन्! मैं बहुत दरिद्र हूँ। कुछ सुवर्ण दान कर मेरी दरिद्रता समाप्त कर दें।’ गोस्वामीजी आश्चर्यचकित हो कहने लगे—‘सुवर्ण दान! मेरे पास कौन-सा सुवर्ण है? मैं तो भिक्षान्न से अपनी उदर-पूर्ति करता हूँ, पर्णकुटी में रहता हूँ।’ ब्राह्मण ने कहा—‘आप मुझे टाल नहीं सकते। मैंने सुना है, आपके पास लोहे को सुवर्ण बना देने वाली पारसमणि है।’ सुनते ही उन्हें अचानक याद आया कि सचमुच एक दिन उन्हें स्नान के समय यमुना-किनारे एक पारसमणि मिली थी जिसे अपने लिए निरर्थक समझकर वहीं किनारे पर गाड़ दिया था। उन्होंने तुरन्त स्थान का अता-पता बता दिया और कहा—‘वहाँ जाकर ले लो।’ ब्राह्मण ने उस स्थान को खोदकर मणि तो प्राप्त की पर सोचने लगा—‘जिस मणि के लिए मैं इतना व्याकुल हूँ उसे व्यर्थ समझकर गोस्वामीजी ने इस प्रकार गाड़ दिया है? अवश्य ही उनके पास पारसमणि से भी बड़कर कोई ऐसी वस्तु है, जिसके सम्मुख यह फीकी है। बस मुझे तो वही प्राप्त करना है।’ उसने मणि यमुना में फेंक दी और खाली हाथ गोस्वामीजी के पास जाकर खड़ा हो गया। अब लगा याचना करने, वही पाने की। मैंने भी अपनी उन शिक्षिका से कई बार यह प्रश्न किया था कि वह कौन-सी अमूल्य निधि है, जिसे पाकर वे इतनी खुश हैं।

उन्होंने मुझे उस रहस्य को ही नहीं समझाया, हँसना भी सिखाया है; अतः मैं भी हँसती रहती हूँ, अर्हनिश हँसती रहती हूँ। गमगीन होकर भी हँसती रहती हूँ। मुझे इस प्रकार हँसते देखकर कुछ ऐसे लोगों को गलत-फहमी हो जाती है, जिन्होंने धन को ही हँसने का आधार माना है, वे कहने लगते हैं—मैं अवश्य ही भीतर से भरी हूँ। ठीक ही तो कहते हैं वे। भरी तो हूँ ही। खाली पात्र से तो निकलती है मात्र प्रतिध्वनि, किन्तु हाँ—मैं उन जड़ पदार्थों से नहीं भरी हूँ, जिन्हें भेद कर उन्मुक्त हास्य बाहर ही न आ सके। □

एक ज्ञान, दूसरा प्रेम

“आयु में आनन्द है; समग्र शरीर के मंगल में, स्वास्थ्य में एक आनन्द है। इसी आनन्द का भाग कर देने से दो वस्तुएँ प्राप्त होती हैं—एक ज्ञान और दूसरा प्रेम।”

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

तीर्थंकर : जन. प.र. ७९/१५

या वह जिस माध्यम को अबतक काम में ले रहा था, उसे जर्जर पाता है, छूटा हुआ पाता है; ऐसे में एक सवाल सामने आता है—

क्या हम किसी ऐसे वस्त्र को, जो अब नया नहीं रहा है, जर्जरित हो गया है, बदलने में एक संतोष का अनुभव नहीं करते ?

एक तो यह कि आप उस वस्त्र को मैला होने ही न दें, या कम मैला होने दें, इससे आप उसकी कुछ उम्र बढ़ा लेंगे, किन्तु यह नितान्त असंभव ही होगा कि आप किसी उपादान को उसमें संभावित आकार में जाने से रोक सकें;

वृक्ष तो होंगे ही,

फल भी होंगे,

बीज नये वृक्षों को जनम देंगे ही;

वही-वैसी स्थिति हमारी है,

हम आये हैं, जाएँगे ही;

इसलिए, फिर आप ही बतायें व्यर्थ ही इतने चिन्तित आप क्यों हैं ?

हमारी विनम्र समझ में उन्मुक्त और असली हँसी के लिए मोह के पंजे से छुटकारा जरूरी है;

जो अनासक्त है, वही हँस सकता है, हँसने का अधिकारी है;

जो जीवतोत्सर्गी है, हँसने का अधिकार उसे ही है;

जो यह जानता है कि उसका कुछ भी नहीं है, और यह कि सबकुछ उसी का है, वही हँस सकता है।

शहीद हँस सकता है,

बलिपंथी हँस सकता है,

लोकसेवी हँस सकता है,

संत मुस्करा सकता है,

महावीर हँस सकता है,

गौतम हँस सकता है,

राम हँस सकता है, कृष्ण हँस सकता है —

क्योंकि वहाँ एक गहरा अमेद और समत्व है;

हर्ष-विषाद,

कांचन-माटी,

महल-कुटीर,

जन्म-मरण,

सब समत्व की धरती पर एक हैं वहाँ, दो नहीं हैं;

इसलिए,

जिन्होंने हँसते-हँसते जीने की स्वीकृति दी है, स्वयं को स्वयं में;

वे हँसते-हँसते मर भी सकते हैं;

वस्तुतः अभय और अन्यां लिए बारहमासी स्वस्ति ही हँसी के जनक-जननी हैं।



हम हँसना भूल जाते हैं

- जीवन के प्रति जब भी हम एक सहज-स्वाभाविक दृष्टि को संकुचित या विस्तृत करना चाहते हैं, हँसना हमारे हाथ से फिसल जाता है।
- कृत्रिमताओं में खुद को इतना न जकड़ दिया जाए कि हम स्वयं जकड़ जाएँ और एक स्वस्थ वातावरण में सांस लेना मुश्किल हो जाए।

□ क. अर्चना जैन

“सच्ची-ई-ई-ई-! क्या जिया जा सकता है, हँसते-हँसते? धत्! जीवन और हँसता? व्हांट ए स्ट्रेंज कॉम्बिनेशन!” (क्या विचित्र मेल है) लगा जैसे दूर कोई हँस रहा है—फिक्-फिक्; भौंड़ी-सी हँसी एकदम मखौल उड़ाने के अंदाज में। मन दप् से बुझ गया। सोचने लगी कैसा होगा वह जीवन जो प्रचण्ड ग्रीष्म, कड़कड़ाती ठंड, और डूबती-उफनाती बाढ़ों में भी धीर, प्रशान्त और ऊर्ध्वमुखी होगा, थपेड़े निगलकर भी स्मित उगलेगा। सर्चलाइट घूमी और अचेतन के जाने किन दरों में पड़ा यह वाक्या अचानक उछलकर सामने खड़ा हो गया।

दो मित्र थे। लोगों का मत था कि एक बड़ा अच्छा है और दूसरा बड़ा बुरा। आर्थिक स्तर पर दोनों समान थे। पहला समाज-सुधारक था। ऊँची-ऊँची बातें कहता था, उसका दायरा विस्तृत था और समाज में उसको भारी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। दूसरा अपने में खुश रहने वाला मस्तमौला प्राणी था। आत्मप्रतिष्ठा से उसे कोई सरोकार न था। वह ऊँची-ऊँची बातों से परहेज करता था, लोग उससे कतराते थे।

समय दौड़ता रहा। अचानक दोनों की ही परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं। पहला लड़खड़ाया, दूसरा डटा रहा। जीवन में चलने के लिए एक ने बाहर से जितनी भी बैसाखियाँ लगायी थीं हर झटके के साथ वे गिरती गयीं और अन्त में वह भूमि पर गिरकर तड़पने लगा। सारी सामाजिकता, सुधारवाद का भूत उतर चुका था, अब वह मुंह दाँपे कमरे में पड़ा रहता। बैसाखियाँ दूसरे ने भी लगायी थीं, पर बाहर नहीं, भीतर, अतः चाल में कोई फर्क नहीं आया। चेहरे की मुस्कान ज्यों-की-त्यों बनी रही।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पता चलेगा कि एक वस्तुतः अच्छा था और एक दीखता था। बड़ा फर्क है इस ‘होने’ और ‘दीखने’ में। जीवन दोनों के सामने था और परिस्थितियाँ भी, किन्तु जिसके पास सम्यक् दृष्टि व आत्मचेतना का अभाव था वह चूक गया।

कभी-कभी लगता है हमें शायद रोग हो गया है बड़ी-बड़ी बातें कहने का, बड़ी-बड़ी बातें सुनने का, और बड़ी-बड़ी बातें लिखने का। तब महसूस होता है कि हमारे चारों ओर के उपादान अत्यन्त विराट हैं और इन विराट तत्त्वों के मध्य यदि कोई लघु है तो—‘हम’। किन्तु हम अपने लघुत्व को भी सहज पचा नहीं पाते, उसे विराट बताने की कोशिशों में जुटे रहते हैं। एक ओर तो जीवन को टाट

बताते हैं, दूसरी ओर उस टाट पर रेशम के पैवंद लगाना भी नहीं भूलते; फलतः दो पृथक्-पृथक् सत्ताएँ अपने पूर्ण पृथक् अस्तित्व के साथ दृष्टिगोचर होती हैं। रेशम को हम ललचायी नजरों से देखते हैं, उसकी दिव्यता पर मोहित होते हैं; किन्तु टाट के साथ उसकी असंगत योजना को हमेशा सशंक नजरों से देखते हैं। आदर्शों के विशाल अलाव हमने जला लिये हैं और दूर बैठकर हाथ सेक रहे हैं; जैसे ही आँच खत्म होती है, हम पुनः ठंड में सिकुड़ने लगते हैं।

जीवन के प्रति जब भी एक सहज-स्वाभाविक दृष्टि को छोड़कर हम ससीम या निस्सीम होना चाहते हैं, हँसना भूल जाते हैं। जी हाँ, ससीम और निस्सीम; क्योंकि जीवन को हम या तो 'पंक' मानते हैं या फिर 'पंकज'; जबकि पंक और पंकज के इस तालाव से दूर, जीवन कुछ गीली-सूखी वह भूमि है जिस पर हमें मार्ग के कंकड़ और फिसलन-काई भरी सभी परसे नंगे पाँव गुजरना होता है।

जीवन जीने के लिए है, चिपकने के लिए नहीं, पर अक्सर हम जीवन से चिपकना चाहते हैं। भूल जाते हैं कि हम मेहमान हैं, मेजमान नहीं हैं। पैर हमारे रुके नहीं हैं, यात्रायित हैं। वक्त हमें मिला जरूर है पर निर्धारित है, संपूर्ण नहीं। सोचकर देखें, दिन में एक बार जरूर ऐसा सोचें, सुख और दुःख अब उतने बड़े नहीं लगेंगे जितने पहले लगते थे, आघात-प्रतिघात उतने प्रताड़ित नहीं करेंगे, जितने पहले करते थे। एक तटस्थ और सम्यक् दृष्टि का प्रवेश खुद-ब-खुद प्रारम्भ होगा।

लोगों को अक्सर कहते सुना है कि जीवन को पूर्णता और समग्रता के साथ जीना है तो जीवन के प्रति मोह छोड़ दो। 'मोह छोड़ना' तो बहुत बाद की प्रक्रिया है। मोह छूटा नहीं कि संत बनने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई; पर क्या सारी दुनिया एका-एक संत बन सकती है? एक सामान्य स्तर पर समग्र एवं भरपूर जीवन जीने के लिए, जीवन के प्रति मोह तो नहीं पर हाँ, सम्मोह जरूर छोड़ना होगा, अपनी अतिरिक्त सजगता छोड़नी होगी। कृत्रिमताओं में खुद को इतना न लपेट लिया जाए कि हम स्वयं को जकड़ा महसूस करने लगें और एक स्वस्थ वातावरण में साँस लेना मुश्किल हो जाए।

व्यवहार एवं व्यावहारिक ज़िदगी से पलायन भी जीवन को बहुत किरकिरा बनाता है। आदर्श, सिद्धान्त, एवं बौद्धिकता हमारे आत्मविकास के साधन हैं; अतः एक धीमी-भीनी फुहार के समान ही इनका आनन्द लेना चाहिये। हममें इनका वेग इतना भीषण न हो पाये कि सारी हरियाली, सारी सरसता ही चुक जाए और जीवन एक टूट की भाँति दरक उठे।

सर्चलाइट तेजी से निरन्तर घूम रही है और कई ध्वनियाँ एक साथ अतल में प्रतिध्वनित हैं—'जीवन जलकुण्ड नहीं जलप्रपात है जो हास, उल्लास, गति, समन्वय एवं समर्पण की भावनाओं को समेटे हुए है। चंद्र लमहे जो तुम्हारे निमित्त बने हुए हैं, उन्हें इस सहजता से जियो कि वे मिसाल बन जाएँ और तुम मशाल बनकर युग-युगों तक अपने ज्योतिकणों को अक्षुण्ण रख सको। □

तीर्थंकर : जन. फर. : ७९/१८

हँसते-हँसते जियें/करें

□ निजामउद्दीन

शबे तारीक ओ बीमे मौज ओ गिरदाबे चुनो हायल
कुजा दानन्द हाले मां मुबुकसाराने साहिल हा

—हाफिज़

(रात का अंधेरा है, लहरें उठ रही हैं, भँवर चक्कर में डाल रहे हैं। जो किनारे पर आराम से खड़े हैं वे हमारा हाल क्या जानें !)

बरामदे में पत्नी, दो बच्चों-सहित बैठा चाय पी रहा था। शाम के बजे होंगे यही कोई छह। धूप—उजली-चमकीली धूप—चारों ओर फैली थी। बस यों ही इधर-उधर की बातें हो रही थीं। साथ बैठी थी पड़ोस की सूरत-सौरत से भली-भोली एक कश्मीरी महिला—संभ्रान्त परिवार की। यदि वह सौन्दर्य में कश्मीरी युवती का प्रतिनिधित्व करती है, तो संवेदनशील, हमदर्द, सुख-दुःख में शरीक एक आदर्श हमसाये का भी प्रतीक है। ऐसे हमदर्द पड़ोसी भाग्य से ही मिलते हैं। खुदा उसे अमान में रखे। हाँ, तो उम्र समय (अब लिखते हुए आँखें छलक पड़ीं) इकलौती लड़की किताबों में कुछ ढूँढ़ कर दूसरे कमरे में पत्नी के पास चली गयी, जो कुछ सी रहीं हैं—कलम कुछ क्षण सकती है—हाथ में कम्पन आ जाता है—साहस कर संभलकर लिखता हूँ (दिल-मस्तिष्क अभी भारी है) मेरा सबसे छोटा बच्चा उठ कर द्वार पर जाकर लौट आता है, शायद किसी ने दस्तक दी थी। वह मेरे हाथ में तार देता है। एकदम से मैंने उसे खोल डाला—एक-एक शब्द को कई बार देखा—तिथि—समय—पता—(एक आह भर कर रह जाता हूँ)—मैंने जबान भी न खोली थी कि वह बच्चा बोल उठा—‘मम्मी अजहर आ रहा है’। ‘अजहर आ रहा है क्या?’ पत्नी ने उसकी बात सुनकर मेरी ओर देखकर पूछा। मैंने उनकी आँखों-में-आँखें डालकर कहा—‘हाँ, आने वाला है’। थोड़ा मुस्कराया कहते हुए। ‘आने वाला है तो तार अभी से देने की क्या जरूरत थी?’—पत्नी ने पूछा। ‘पागल है’—बिना आँखें उठाये मैं बोला। पास बैठे दोनों बच्चे बहुत खुश थे कि उनका भाई आ रहा है (मेरठ से—गाँव बलौनी से)। पड़ोसन भी खुश हुईं। फिर अजहर के विषय में—उसकी ‘मिर्गी’ के, स्वभाव के, सुन्दर स्वास्थ्य के बारे में बातें करते छोड़ मैं ऊपर कमरे में अकेला जाकर लेट गया—हृदय में शोक का अथाह सागर भरे हुए—एक तूफान लिये। इधर-उधर करवटें बदलता रहा—सूर्यास्त हो गया, हाँ ‘सूर्यास्त’। उठ कर कुछ गम शलत करने पहुँचा पास ही एक कश्मीरी प्रोफेसर के घर। उन्हें अकेला पाकर—अंधेरे में मेरे धैर्य के बांध टूट गये—काफ़ी देर अश्रुपात करता रहा—‘मेरा बच्चा गाँव में खत्म हो गया’—उनके पूछने पर मेरे मुख से निकला। ‘कैसे? क्या हुआ? कोई आया है—तार—ख़त कुछ मिला है’। उन्होंने एक साथ पूछा।

तीर्थकर : जन. फर. ७९/१९



उनकी यथार्थ रूप में दी गयी तसल्ली से संभला। वह मुझे मेरे द्वार तक छोड़ने आये। बगैर खाना खाये—तबीयत ठीक न होने का बहाना कर लेट गया—तमाम रात जागते बीती—कभी सजल नेत्र, तो कभी शुष्क। हृदय का तूफान कम नहीं हुआ। दूसरे दिन नाममात्र का नाश्ता कर कॉलेज गया—दो क्लासों पूर्ववत् पढ़ायी। अंग्रेजी-विभाग में गया—एक उर्दू के प्राध्यापक मित्र ने मेरी ओर देखकर कहा—‘क्यों, तबीयत तो ठीक है’। ‘हाँ, कुछ ऐसा ही है’ मैंने कहा।

‘वो बच्चा ठीक है आपका जो बीमार था’—उसने फिर पूछा।

‘वो ही ठीक नहीं’—मैंने बताया।

‘क्यों क्या हुआ उसे?’—वह फिर बोला।

‘अब तो बस मामला खत्म समझो’—इतना ही कह पाया था कि एक दूसरे मित्र ने मुझे उठाया और कमरे से बाहर ले जाकर पूछा—‘क्या बात है साफ़-साफ़ बताओ, घर पर खैरियत है न?’ मैंने इधर-उधर की बातें कीं, अजहर के ८-१० रोज़ गाँव से आये हुए खत का तज़करा किया कि वह परेशान है और उसने लिखा है—‘मुझे सब परेशान करते हैं, क्यों न मैं उसी के पास चला जाऊँ जिसने मुझे पैदा किया है।’

‘कोई एक्सीडेंट तो नहीं हुआ?’ उनका प्रश्न था।

‘नहीं, अभी तक ऐसा मालूम नहीं हुआ’—मैंने बताया। उस दिन मैंने टी. डी. सी. फा. की क्लास नहीं ली थी घर उस दिन कुछ विलम्ब से पहुँचा, चाय पी और कोई किताब लेकर बैठ गया। रात में कुछ यों ही पन्ने पलटता रहा। पत्नी ने तार के बारे में फिर पूछा था, अजहर की खैरियत पूछी थी मैंने कह दिया था—‘सब ठीक है’।

इसी मानसिक तनाव में मैंने इष्टरव्य भी एक पोस्ट के लिए दिया। उससे पूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष (कश्मीर वि. वि.) से भी मिलने पहुँचा, उन्होंने चपरासी भेज कर मुझे बुलाया था। अपने को संभालता हुआ साक्षात्कार के लिए गया था। कई-एक मित्र थे वहाँ—थोड़ी औपचारिकता के साथ बातें कीं। जिस स्थिति में गया था, उसी स्थिति में—तनाव की—शोक की—अन्दरूनी स्थिति में घर लौटा। संभलते हुए साक्षात्कार में प्रश्नों के उत्तर दिये। बाद में एक सज्जन के द्वारा मालूम हुआ कि एक एक्सपर्ट ने कहा था—‘निज़ाम साहब कुछ डिस्टर्ब्ड से मालूम होते थे’।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

तीर्थकर : जन. फर. ७९/२०

तू हाँसे जग रोये

□□ अपनी साधना में सफल होकर ही हम जीवन की चादर हँसते-हँसते ओढ़ सकते हैं और हँसते-हँसते ही उसे छोड़ सकते हैं। यदि हम अपने कर्तव्यों की याद कर लें, और ईमानदारी से उनके पालन का व्रत ले लें, तो फिर देखें कि जीवन जीवन कितना संगीतमय और उपयोगी सिद्ध होता है।

□ कन्हैयालाल सरावगी

मनुष्य जब जन्मता है तब स्वयं तो रोता है और लोग हँसते हैं, और जब वह मरता है तो अपने-पराये तो रोते ही हैं, मरने वालों में भी कोई-कोई बेचैन भी होता है और रोता बिलखता भी है। मृत्यु एक अनिवार्यता है, यह सबके लिए आने वाली है। जीवन जीने मात्र के लिए नहीं होता, वरन् उसके साथ एक भूमिका होती है। जीते सभी हैं, पर जीने की जो कला है, उससे कम ही लोग परिचित होते हैं। इसलिए उनका जीवन एक नीरस जीवन मात्र रहता है, उसमें अपेक्षित माधुर्य नहीं आ पाता। वह मनुष्य हो सकता है, पर मानवता से दूर, बहुत दूर। कलाविहीन जीवन जीने वाले ही रोते-चिल्लाते हैं और जीवन को भार-रूप मानते और ढोते हैं। मरते समय उन्हें मृत्यु से भी भय होता है। जैन भाषा में उनकी मृत्यु को बाल या अपण्डित मरण कहते हैं।

जीने की कला जानने वाले भी इस धरती पर अनेक हो गये हैं। उन्हीं में से एक थे कबीर, जिन्हें अपने जीवन की कला में संतोष था और मृत्यु में जीवन की चादर समेटने जैसी सहजता भी थी। तभी वे डंके की चोट कह सके थे कि- “या चादर गुर-नर-मुनि ओढ़ी, ओढ़के मैली कीनी। दास कबीर जतन करि ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धर दीनी”। यही बात हम सुकरात, गणेश वर्णी, सहजानन्द वर्णी आदि के लिए भी कह सकते हैं। इन सभी ने अपनी-अपनी चादरें बेदाग और बेधब्बे के रख दीं।

उस कला को ढूँढ़ना है जिसके लिए कबीर कहते हैं कि ‘कुछ ऐसी करनी कर चल कि (मरते समय) तू हाँसे जग रोये’। ऊपर कह आये हैं कि मनुष्य को जीवन के साथ एक भूमिका भी मिली होती है। उस कला का गुरमंत्र नुस्खा या प्रक्रिया इसी भूमिका में है। अपनी भूमिका की जो सफल अदायगी करता है; शान्ति, संतोष और प्रसन्नता उसी के पल्ले पड़ती है। कबीर एक जुलाहा थे, कपड़ा बुनते थे। वे जो चरखा और करघा (लूम) चलाते थे उससे संसारियों की नग्नता ढंकने का साधन बनता था और साथ ही भीतर ध्यान और सुरत का चरखा और करघा भी चलाते थे, जो कर्मास्रियों से उनकी रक्षा करने वाला संवर-रूपी अम्बर बुनता था।

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/२१

हममें से बहुतेरे कह सकते हैं, और ठीक ही कह सकते हैं, कि हम कबीर नहीं हैं, सुकरात भी नहीं और वर्णाद्वय भी नहीं हैं। यह ठीक है, पर उतना ही ठीक यह भी है कि हम यथालिंग (स्त्री या पुरुष) किशोर, युवा, मित्र, पति, पिता और नागरिक भी हैं और उनके अतिरिक्त आजीविका के लिए हमने कोई व्यवसाय, पेशा, नौकरी आदि भी अपना रखी है। ये हमारी भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं का सही निर्वाह हमारे लिए गौरव का कारण होगा; यही हमारी पूजा होगी, हमारी नमाज होगी, हमारी इबारत, प्रार्थना या साधना होगी। इस साधना में सफल होकर ही हम जीवन की चादर को हँसते-हँसते ओढ़ सकते हैं और हँसते-ही-हँसते छोड़ सकते हैं। अपने कर्तव्यों की याद कर लें और ईमानदारी से उनके पालन करने का व्रत लें, फिर देखें कि जीवन कितना संगीतमय और उपयोगी सिद्ध होता है।

कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो दूसरों को हँसाते हैं, पर स्वयं रोते हैं। हास्यरस एवं साहित्य के अधिकांश रचयिताओं के जीवन में इस वैषम्य के दर्शन होते हैं। अभी कुछ ही समय पूर्व हास्यरसावतार कहाने वाले जी.पी. श्रीवास्तव रोते-रोते संसार से विदा हो गये। ऐसे लोगों का स्वभाव तो विनोदी होता है, पर परिस्थितियाँ रावण अर्थात् रलाने वाली होती हैं। ऐसे लोगों के विनोद से हँसने वाले लोग उनके दुखते हृदय को नहीं देख पाते। हमारे परिचितों में दो भाई-भाई थे। दोनों इतने जिन्दादिल थे कि रोते को भी हँसा देते थे, परन्तु स्वयं में वे असफलता और विफलता की लू अथवा पाले के मारे हुए थे। उनमें कुछ ऐसा आकर्षण था कि उनके सम्पर्क में आने वाला प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। बड़े धनीमानी भी उनसे प्रभावित थे, किन्तु 'सफलता' शब्द सम्भवतः दोनों के भाग्य-कोश में था ही नहीं। ऐसे लोगों को किस श्रेणी में परिभाषित करें—हँसते-हँसतों में या रोते-रोतों में—समझ में नहीं आता।

बाल्यकाल तक तो जिम्मेदारी अभिभावक की होती है, पर किशोर होते ही वह स्वयं पर आ जाती है। मार्गदर्शक की आवश्यकता होती भी है तो निमित्त मात्र; उचित विवेक होने पर नहीं भी होती है। मार्गदर्शक हो अथवा न हो, दोनों दशा में चलने की जिम्मेदारी अपनी है। गीता कहती है, 'उद्धरेदात्मनात्मानं'—अपना उद्धार स्वयं करो; अस्तु।

किशोरावस्था से ही मनुष्य को अपने समय, शक्ति, परिस्थिति अथवा विवेक, ज्ञान और कर्म (हार्ट, हेड, हैंड) के सदुपयोग करने का अभ्यास करना चाहिये। आलस्य, तंद्रा, व्यर्थ की गप्पाष्टक, हास-परिहास, ताश, जुआ, धूम्रपान, चाय-कॉफी आदि हानिकारक नाना प्रकार के पेय, मद्य, मांस-भक्षण, अनैतिक आचार-विचार, अनावश्यक श्रृंगार, चमक-दमक आदि से सतत बचते रहना चाहिये। सादा और पौष्टिक आहार करना, व्यायाम करना, चरित्र-निर्माण करने वाला साहित्य पढ़ना और

तीर्थकर : जन. फर. ७९/२२

शुद्ध-सार्विक जीवन बनाना चाहिये। प्रातःकाल जल्दी उठकर नित्य कृत्य से झटपट निवृत्त होकर अपना जो कर्म या व्यवसाय हो उसमें लग जाना चाहिये। विद्यार्थी को पढ़ने में, कृषक को कृषिकर्म में, व्यापारी को अपनी दुकान आदि में पूर्ण मनो-योग से जुट जाना चाहिये।

युवावस्था में कर्तव्य-भार कुछ और बढ़ जाता है। विवाह कर गृहस्थाश्रम अर्थात् योग्य गृहस्थ की भूमिका में प्रवेश करने का यह अवसर होता है। इस अवस्था में अपने 'स्व' का विस्तार होता है। पत्नी की सुख-सुविधा और आकांक्षा का भी ध्यान रखना होता है। एक के बदले दो का दायित्व होता है और दोनों के योग से सन्तति-परम्परा भी चलती है और संतान के प्रति भी कर्तव्यशील होना होता है। इस प्रकार कर्तव्यों की तालिका बढ़ती जाती है। रोटी, कपड़े, आवास आदि की समस्या के समाधानार्थ योग्य अर्थाजिन करने की साधना के अतिरिक्त का समय परिवार के साथ बिताने से पारिवारिक जीवन सुखी बनता है; पत्नी को गृहकार्यों में कुछ सहारा मिलता है और बच्चों को उलझाये रखने से उनमें आत्मीयता आती है और वे भी सुसंस्कृत बनते हैं। अवकाश का समय कुछ लोग क्लबों, सिनेमा, गोष्ठीयों आदि में बिताते हैं। यह पारिवारिक, आर्थिक और नैतिक दृष्टि से सही नहीं है। घर में बैठना किसी को न रुचता हो तो वह बाहर कहीं भी जा सकता है; पर तभी, जब घर में काम न हो; और पत्नी तथा बच्चों को भी साथ ले सकता है। घर में वृद्ध माता-पिता हों तो उनका भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।

आजीविका का साधन भी निर्दोष, वैध, नैतिक और सम्मानपूर्ण होना चाहिये, जिसमें स्वयं, अपने माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि को न तो कष्ट उठाना पड़े न लोक में लज्जित होना पड़े और न उसके कारण राजदरबार या राजपुरुषों आदि के पीछे दौड़ना पड़े। अपने आश्रितों को दूसरे के आश्रय में कभी न जाना पड़े, इसका सतत ध्यान रखना चाहिये। पराये घरों में न तो अधिक देर ठहरना चाहिये और न दूसरों को अपने यहाँ अधिक बैठा कर रखना चाहिये। इससे होने वाले चारित्रिक प्रदूषण की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। मित्र, नागरिक आदि के भी जो कर्तव्य हैं उन्हें भी जागरूकता पूर्वक करते रहना चाहिये।

जो अपने कर्तव्यों का सही शैली में परिपालन नहीं करता, वह पापी है, और मृत्यु से भय उस पापी को ही होता है। मरने के नाम से वह काँप उठता है, पर कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य मृत्यु को महोत्सव मानता है। क्या अन्तर पड़ता है, वह आज है और कल नहीं है? वह जब नींद में होता है, तो कुछ घंटों के लिए या कम-से-कम उतने समय के लिए, संसार के लिए नहीं होता है। क्या अन्तर पड़ता है यह कुछ घंटों का न रहना शाश्वत अनुपस्थिति में बदल जाए तो? उसने यदि अपने कर्तव्यों का सही पालन किया है और अपने बेटे-बेटियों को भी इसमें

निष्णात कर दिया है, उनमें इसकी आदत डाल दी है, तो वह सारी चिन्ताओं, सारे भयों और सारी शंकाओं से मुक्त होता है। जो आत्मा और शरीर के भेद अर्थात् स्व-पर भेद-विज्ञान का सत्य श्रद्धालु है, वह हँसते-हँसते जीता है। जीवन में भी उसकी मुक्ति है और मृत्यु भी उसके लिए निर्वाण में बदल जाती है; अर्थात् वह हँसते-हँसते मरता है और उसके अभाव में लोक रोता है। कर्त्तव्यनिष्ठ की दशा कबीर की इस परिकल्पना-जैसी होती है कि—

“कबिरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर ।
पीछे-पीछे हरि फिर कहत कबीर कबीर ॥”

अथवा कवि विनोदीलाल के शब्दों में कि—

“तो जियरा तरस सुन राजुल, जो तनको अपनो कर जाने ।
पुद्गल भिन्न है, भिन्न सबे तन, छाँड़ि मनोरथ आन समान ।
बूँडगो सोई कलधार में, जड़ चेतन को जो एक प्रमाने ।
हंस पिवं पय भिन्न करे जल, सो परमात्म आत्म जाने ॥”

—बारहमासा नैमी-राजुल-११.

प्रत्येक विवेकशील और स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति को हँसते-हँसते जीने और हँसते-हँसते मरने की कला को जानना, समझना और चरित्र में उतारना चाहिये। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र या कायिक, वाचिक और मानसिक तपोसाधना के द्वारा आत्मकल्याण की दिशा में जीवन को प्रशान्त, निर्भीक और स्वतंत्र बनाना मानव-जीवन का परम कर्त्तव्य है। □

(हँसते-हँसते जियें/करें : १७४ २० का शेष)

अभी दो-तीन ही दिन इस कशमकश में गुजरे थे कि चाय पीते मेरी आँखें नम देख कर पत्नी को शक-सन्देह हुआ। छोटा बच्चा स्कूल जाने की तैयारी में था। मुझे नहीं मालूम वह कब मेरे एक मित्र प्रोफेसर के घर गया और उन्हें अपने साथ ले आया। वह हाथ में पुस्तकें लिये—कपड़े लगाये आये। ‘क्या कॉलेज जा रहे हो?’—मैंने उन्हें देख कर पूछा। ‘हाँ’—कह कर वह मेरे पास बैठ गये, मैं लेटा था। अब पत्नी रो रही थी। कुछ देर वह मौन बैठे रहे। ‘भाभी, क्यों क्या बात है’ उन्होंने पत्नी से पूछा।

‘कई दिन हुए घर से तार आया है (इस बार आँखों में फिर आँसू भर जाये—उत्तर लिखते हुए धुंधले दिखायी दे रहे हैं—आँसू पोंछ कर) ये कुछ बताते नहीं, क्या बात है’—पत्नी ने अश्रुपात करते उत्तर दिया। मैं अब भी लेटा था। ‘क्यों डॉक्टर साहब, क्या बात है, कहाँ है वह तार, लाइये मुझे दीजिये’—उन्होंने मुझ से पूछा। मैंने मुस्कराकर कहा—‘सब ठीक है, कोई ऐसी बात नहीं’। एक बार फिर उनकी तरफ देख कर मुस्कराया और बोला—‘आप जाइये, आपका फस्ट पीरियड होता है, देर हो रही है दस मिनट बाकी हैं’।

इस बार उन्होंने आहिस्ता से—हमदर्दी से पूछा और उत्तर में मेरी आँखों से आँसू टपकने लगे। ‘अजहर एकसपायर्ड’—उनके उत्तर में मैंने एक कागज़ पर लिख दिया। □

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/२४

हँसते-हँसते जियो : कब तक ?

□ □ मेरी बात को यदि आप बच्चों की बात कहकर न डालें तो आप स्वतः अनुमान सकेंगे कि जो श्रावक प्रतिदिन एक घंटा मूर्ति के सामने बैठता है, वही आठ घंटे तिजोरी के सामने अथक जमा रहता है। इममे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे प्रिय श्रावक का जीवन और जीवन का हँसते-हँसते कहाँ है, मंदिर में या तिजोरी में ?

□ 'सुरेश सरल'

मान्य संपादकजी,

लेखक के भीतर एक व्यापक आकाश होता है जहाँ वह उड़ानों की पेंगें भरता रहता है। यह आकाश—कोरा आकाश—शून्य नहीं होता है, वरन् उसमें सूर्य, चन्द्र, तारे और बादल भी होते हैं—शब्द, भाव, उद्देश्य और उपयोगिता; या अभाव, क्लेश, ईर्ष्या और औपचारिकता। 'सो लेखन से पहले होने वाले चिंतन को ओढ़ता हूँ, ओढ़ने का प्रयास करता हूँ, तब जाकर किसी अदृश्य गवाक्ष से कुछ चमकता-सा नजर आता है कि जो क्षण हँसते-हँसते न जिये जा सकें उन पर हँसते-हँसते लिखा ता जा सकता है, या यों कहा जाए कि हँसते-हँसते न जी पाऊँ तो हँसते-हँसते कुछ लिखता ही चलूँ।

अंग्रेजी लोकोक्ति है—'सबसे सुन्दर हास्य उसी का है जो अन्त तक हँसता रहे'। हास्य के क्षणों के लिए श्री व्यूमार्काई सोचते थे—'मैं हर वस्तु पर हँसने की शीघ्रता इसलिए करता हूँ कि कहीं मुझे रोना न पड़े'। हास्य की आकांक्षा विलकावस को भी थी, वे कहते हैं—'तुम हँसोगे तो संसार हँस पड़ेगा, किन्तु रोते समय तुम्हें अकेले ही रोना पड़ेगा, क्योंकि यह मर्त्यलोक केवल हास्य का इच्छुक है, रुदन तो इसके पास स्वयं अपना ही पर्याप्त है'।

'हास्य वह यन्त्रांश है जिसके अभाव में जीवन-रूपी यन्त्र विगड़ जाता है'—ये मेरे शब्द नहीं हैं, स्वामी रामतीर्थ के हैं।

स्मरण दिलाऊँ, हँसिये न, आज से करीब पच्चीस सौ वर्ष पूर्व महावीर भगवान् ने व्यक्ति के हँसते-मुस्कराते जीवन के लिए ऐसा ही कुछ कहा था, वे तब एक आदमी ही थे। एक विचारक, एक परिव्राजक। उन्होंने कहा था—'जियो और जीने दो' और आप कह रहे हैं—'हँसते-हँसते जियो'। यह बात महावीर की बात से ऊपर प्रतीत होनी है,

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/२५

यदि कोई माने तो । यह न समझिये कि मैं मस्का नाम की वस्तु लगा रहा हूँ आपको । और आपकी बात ऊपर कर रहा हूँ । दरअसल वह तो हमने भगवान् का भी नहीं लगाया था, जब वे 'जियो और जीने दो' का सूत्र निःशुल्क प्रदान कर रहे थे । एक बात कह दूँ, मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि वे उस समय 'जियो और जीने दो-विशेषांक' निकाल पाते तो यह भी सूत्र की तरह निःशुल्क ही वितरित करते । महावीर आप-जैसे नहीं थे कि दो रुपये मूल्य रखते विशेषांक का । यह अलग बात है कि महावीर जैन समाज की करनी-कथनी से परिचित थे, इसीलिए वे सूत्र या पुस्तक निःशुल्क बाँटने की बात सोचते थे । उन्हें मालूम था कि 'जैन' सम्प्रदाय का साफ-सुथरा दीखने वाला आदमी, इतना दौलत-प्रिय और संदर्भों से कटा हुआ; लेटा हुआ; आदमी है कि वह निःशुल्क बँट रहे सूत्र या साहित्य को भी समय पर प्राप्त कर लेने का कष्ट नहीं करेगा और गादी से टिके-टिके कह देगा—महावीर जाओ, कभी फिर बाँटने आना अपना सूत्र-साहित्य, अभी तो मैं नोट गिन रहा हूँ ।

लगता है कि महावीर का 'जियो और जीने दो', या आपका 'हँसते-हँसते जियो' गादी और बादी वाले समाज के सामने कोई मायने नहीं रखता । हाँ, एक बात हो सकती है, यदि आप अगला अंक 'नोट गिनते-गिनते जियो' नाम से निकालें तो अवश्य देश की सम्पूर्ण गादियों में होड़ लग जाएगी और बादी वाले शरीरों में हलचल मच जाएगी—अंक सबसे पहले पाने के लिए । तब लाखों अंक बिक सकते हैं ।

नोट गिनते-गिनते जीना कौन नहीं चाहता, जिसे अवसर उपलब्ध है, वह भी और जिसे अवसर चाहिये, वह भी ; अतः आप धर्म की बात का कितना ही समाजीकरण करें, सरलीकरण करें, वह हमें, हमारे समाज को तभी पसंद आयेगी जब उसके गर्भ में कहीं 'नोटों' की चर्चा धड़कती हो; चाँदी की खनक हो, सोने की दमक हो ।

मेरी बात को यदि बच्चों की बात कहकर न टालें तो आप स्वतः अंदाज लगा सकेंगे कि जो श्रावक प्रतिदिन एक घंटा मूर्ति के सामने बैठता है वही आठ घंटे तिजोरी के समक्ष भी जमा रहता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे प्रिय श्रावक का जीवन और जीवन का 'हँसते-हँसते' कहाँ है, मंदिर में या तिजोरी में; विशेषांक के संकेत समझने में या नगदी गिनने में ?

हँसते-हँसते जीने का उपाय कोई मुझसे पूछे तो वह मेरे दृष्टि-क्षेत्र में बहुत सीधा-सा है—'पसीना बहाकर खाये, और दिन भर मुस्काराये' ।

फँकटरी का मालिक एक पूरी फँकटरी चलाता हुआ भी 'हँसते जीवन' से जीवन-भर दूर रहा आता है । दुकान का स्वामी दिन-भर बिक्री करते रहने के बाद भी 'हँसते जीवन' को नहीं छू पाता । दुकान के बाद नौकरी और नौकरी के बाद मजदूरी में भी 'हँसते जीवन' का उतना गाढ़ा स्पर्श देखने नहीं मिल रहा है जितना चाहिये । यह स्पर्श

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/२६

केवल बहते पसीने में ही देखने मिला है। पसीना फैक्टरी मालिक का हो, दुकानदार का हो, नौकरी करने वाले का हो या मजदूर का; हो पसीना मेहनत-ममकत से बहा हुआ पसीना—फिर देखिये, आपका सूत्र 'हँसते-हँसते जियो' और महावीर का सूत्र 'जियो और जीने दो' एक साथ व्यवहृत हो जाते हैं।

परन्तु... पसीना बहाकर भोजन करने वाले हैं कितने? एक विशेषता यह भी देखने मिली कि जो सचमुच बहाते हैं, उन्हें आँसू भी बहाने पड़ते हैं। मगर जो आँसू के अर्थ को नहीं जानते, वे पसीने की परिभाषा क्या समझेंगे, वे महावीर का सूत्र कैसे उतारेंगे जीवन में? इससे बड़ी बात यह है कि ऐसे लोग—पसीना, आँसू, सूत्र-न समझने वाले आधुनिक सफेदपोश—एक विचित्र हँसी जीते हैं, हँसते हैं, इनकी हँसी तब जाने क्यों हँसी नहीं लगती; सभी अट्टहास और ठहाके बेसार और कृत्रिम लगते हैं; किसी अदृश्य स्वार्थसिद्धि के सूचक लगते हैं।

जिन्हें 'हँसी' देखना हो, हँसते-हँसते जीने का अर्थ जानना हो, वे उस तरफ देखें, जहाँ—बिस्तर-पेटी ढोने के बाद कुली एक रुपये को प्राप्त कर मुस्कराता है। जहाँ—मंदिर के परिसर में कार्य कर रहा मजदूर अचानक वेदी पर स्थापित प्रतिभाजी के सामने फर्श पर झाड़ू देने का आदेश पाकर खुश होता है। जो हाँ—कोई गूजर एलुम्युनियम के पुराने-तुचके कटोरे में काँपते हाथों से दाल-भात लाता है और चांदनपुर के बाबा के ममक्ष रखकर मुग्ध होता है; जहाँ—अभाव-पीड़ित जन-ममुदाय भूख को उपवास में बदल कर निढाल होता है; जहाँ...। यही तो है हँसते-हँसते जीने का उपक्रम।

हँसते-हँसते जीने का दूसरा दौर कठिन है। मैं उसे जीने के लिए बहुत दिनों तक बेचैन रहा हूँ। बहुत दिनों तक यानी कई जन्मों तक। और मैं यानी आत्मा। इस बीच कभी जीवन मिला तो हास्य न मिला, जब हास्य मिला तो जीवन इतना विरक्त हो चुका था कि हँसी न आयी। सच, आत्मा से जब हास्य पर भी हँसी न प्रकट हुई संताप में भी अश्रु न बहे तब कहीं दूर से आवाज़ें आयीं 'यह है हँसते-हँसते जीना'। आवाज़ें आती-जाती रहीं, जीवन हँसता रहा। व्यक्ति का 'मैं' आत्मा में—कहीं भीतर-स्थापित होता रहा। वातानुकूलित भवन, कारें, गोदाम, दुकानें, कारखाने सब कुछ बाहर रह गये और 'मैं' आत्मस्थ हो गया। भीतर। अपने ही भीतर। 'मैं' बन गया परमहंस, बन गया वीतराग, एक हँसता हुआ जीवन।

...पर छोड़ो इसे, लोग कहेंगे दर्शन बधाराता है; फिर भी यह कहना चाहता हूँ कि हँसते-हँसते जीने के लिए मात्र हँसते रहना है, अपने ही ऊपर; जीवनान्त तक।

आपका—सुरेश

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/२७

हँसते-हँसते मरना

यदि मनुष्य इस तथ्य को जान पाये कि मैं रहूँगा उसी प्रकार रहूँगा जिस प्रकार हूँ तो फिर कहाँ है मृत्यु का भय? मृत्यु मिट जाना नहीं है, वह है नवजीवन का सिंहद्वार। रवीन्द्र कहते हैं—‘जखन पड़वे ना मोर पाएर चिन्ह एई बारे’—जब इस पथ पर मेरा पैर नहीं पड़ेगा, अर्थात् जब मैं जीवित नहीं रहूँगा तब क्या मैं नहीं रहूँगा! अवश्य रहूँगा।

□ □ □

लगता है हँसते-हँसते जीने से कहीं सहज है हँसते-हँसते मरना। जब देश पर आक्रमण होता था राजपूतगण हँसते-हँसते देश की बलिबेदी पर मर मिटते थे। राजपूत महिलाएँ इज्जत आवरू के लिए हँसते-हँसते अग्नि में प्रवेश कर जाती थीं। सहस्र-सहस्र प्रेमी-प्रेमिकाओं ने प्रेम-यज्ञ की ज्वाला में हँसते-हँसते स्व-प्राणों की आहुति दे डाली थी। रवीन्द्रनाथ की ‘श्यामा’ नृत्य-नाटिका में उत्तरीय अपनी प्रेमिका के लिए हँसते-हँसते शली चढ़ गया था। मुझे आज वे दिन याद आ रहे हैं जबकि बंगाल के नवयुवकों ने हँसते-हँसते गोलियों का सामना किया था; और वे हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये थे। ख़दीराम बोस के लिए तो कहते ही हैं—

हाँसि हाँसि परब फाँसी,
देखवे भारतवासी ।

अतः मैं कह रहा था, लगता है हँसते-हँसते जीने से कहीं सहज है हँसते-हँसते मरना। हँसते-हँसते जीना जहाँ एक कला है, एक साधना है, वहाँ हँसते-हँसते मरना एक आवेग, एक उल्लास है, जिससे प्रेरित होकर हम क्षण-भर में ही हँसते-हँसते मर सकते हैं।

यह हँसते हुए मरना हुआ देश के लिए, नाम के लिए, इज्जत के लिए, प्रेम के लिए। . . . पर एक हँसते-हँसते मरना और भी है और वह है आत्मा के लिए। वह आवेग नहीं, उल्लास नहीं वह भी है एक साधना, एक सतत प्रयास। कठोपनिषद् की कथा है कि वाजश्रवा के पुत्र ने विश्वजीत यज्ञ का अनुष्ठान किया और स्वर्ग-कामना से अपना सर्वस्व दान कर दिया। उनके एक पुत्र था नञ्जिक्ता। वह था तो बहुत छोटा पर हृदय उसका था श्रद्धा से आपूरित। जब उसने देखा कि पिताजी ने सर्वस्व दान कर दिया; किन्तु उसे दान नहीं किया (सर्वस्व में वह भी तो था) तब वह पूछने लगा—‘आपने मुझे किये दान किया है?’ एक बार पूछा; दूसरी बार पूछा, किन्तु पिता निरुत्तर रहे। पर जब बार-बार वह बड़ी

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/२८

प्रश्न करने लगा तो झुंझलाकर कह डाला—‘जा तुझे यम को दान किया है। मुनते ही नचिकेता उठा और सीधा यम के घर पहुँचा। यम उस समय घर पर नहीं थे, अतः वह उनके दरवाजे पर बैठा प्रतीक्षा करता रहा। तीन दिन बाद यम घर लौटे। देखा—भूखा-प्यासा नचिकेता द्वार पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा है। यम ने अतिथि की अवहेलना के प्रति पश्चात्ताप करते हुए उसे जल, आम्र आदि देकर संतुष्ट किया; और तीन वर माँगने को कहा। नचिकेता ने प्रथम वर में मांगा—‘मेरे पिता मेरे लिए उत्कण्ठित न बनें और न ही मेरे प्रति क्रोध रखें और जब मैं यमलोक से लौटूँ तब मुझे पहचान सकें एवं पूर्ववत् ही प्रीतिवान रहें। यम ने कहा—‘ऐसा ही होगा’। दूसरे वर में उसने उस अग्निविद्या की याचना की जिससे वह स्वर्ग प्राप्त कर सके, यम ने उसे अग्नि-विद्या भी प्रदान की जिसे नचिकेता ने तत्क्षण ही अधिष्ठित कर लिया। प्रसन्न होकर यम ने नचिकेता से कहा—‘तीन वर तो तुम माँग ही रहे हो चौथा मैं तुम्हें स्वयं देता हूँ कि आज से यह अग्नि तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगी’। साथ ही उसे एक शब्दमय माला भी अर्पित की जिससे वह कर्मविज्ञान का परिज्ञाता बन सके। जब यम ने तृतीय वर माँगने को कहा तो नचिकेता बोला—‘मृत्यु के पश्चात् कोई कहता है आत्मा है, कोई कहता है नहीं; अतः मैं आत्मा के अस्तित्व एवं अनस्तित्व के विषय में जानना चाहता हूँ’। यम ने कहा—‘आत्मतत्त्व बहुत सूक्ष्म है यह सहजता से ज्ञात नहीं होता; एतदर्थ तुम दूसरा वर माँगो’। परन्तु नचिकेता उसी पर अड़ा रहा। कहने लगा—‘जिसे आप कठिन बता रहे हैं उसे दूसरा तो बता ही कैसे सकता है, अतः मुझे तो आपको ही बताना होगा; फिर अन्य कुछ मुझे चाहिये भी नहीं। मुझे तो चाहिये मात्र आत्मज्ञान।’ यम ने बहुत समझाया। धन, वैभव, साम्राज्य, नुन्दरियाँ बहुत कुछ देना चाहा—दीर्घायु तक बनाने का प्रलोभन दिया—पर नचिकेता उसी बात पर अड़ा रहा—‘मुझे चाहिये मात्र आत्मज्ञान’। उसने प्रेय छोड़ श्रेय चाहा था, अतः यम को विवश होकर आत्मज्ञान देना पड़ा। वह ज्ञान क्या था—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्—

नायं कुटश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं

हतस्वेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतौ

नायं हन्ति न हन्यते ॥ (१/२/१८-१९)

कठोपनिषद् के ये दो श्लोक इसी प्रकार गीता (अध्याय २, श्लोक १९-२०) में लिये गये हैं। भगवान् कृष्ण अर्जुन को आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—‘अर्जुन ! न

तीर्थकर : जन. फर. ७९/२९

इसका जन्म होता है, न मरण। यह कारणान्तर से उत्पन्न नहीं हुई न ही कुछ उत्पन्न होता है इससे। यह जन्महीन है, नित्य है; शाश्वत है पुराण है। शरीर का नाश हो जाने पर भी, इसका नाश कभी नहीं होता।

मृत्यु होने पर आत्मा का विनाश हो जाता है यही शंका थी वह मिट गयी।

अमलियत में मृत्यु की शंका क्या है? यही तो कि मैं नहीं रहूँगा। 'आई एक्विस्ट' इसी अभाव की शंका। यही मनुष्य को खलता है, इसी का रोना है, यही दुःख है। यदि मनुष्य इस तथ्य को जान जाए कि मैं रहूँगा और उसी प्रकार रहूँगा जिम प्रकार हूँ तो फिर कहाँ है मृत्यु का भय? भय क्यों? गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—'वासामि जीर्णानि यथा विहाय' पुरातन जीर्ण वस्त्र का परित्याग क्या दुःखद होता है? नवीन वस्त्र धारण करने में कोई दुःख होता है? तो उस जीर्ण शरीर का परित्याग एवं नवीन कलेवर धारण करने में दुःख क्यों? मृत्यु मिट जाना नहीं है, वह है नवजीवन का सिंह-द्वार—कविवर रवीन्द्र कहते हैं—जखन पड़वे ना मोर पाए र चिन्हु आई बारे' जब इस पथ पर मेरा पैर नहीं पड़ेगा अर्थात् जब मैं जीवित नहीं रहूँगा तब क्या मैं नहीं रहूँगा? नहीं, अवश्य रहूँगा। वे कहते हैं—

तखन के बने गो सेई प्रभात नेई आमि
सकल खेलाय करवां खेला एइ - आमि
नतून नाम डकवे मारे बाँधने नतून बाहुर डोरे
आसव जाव चिर दिनेर सेई- आमि।

(कौन कहता है उस प्रभात-वेला में मैं नहीं रहूँगा? मैं सभी खेलों में खेलूँगा। मुझे नये नामों से पुकारोगे, नवीन ब्राह्मणों में बाँधोगे। शाश्वत 'मैं' आता-जाता ही रहूँगा। निरवधिकाल तक निरन्तर निरन्तर।)

'मैं अजर हूँ, अमर हूँ' यही है वह अभयमन्त्र, जिसके बल पर मनुष्य हँसते-हँसते मर सकता है ठीक उसी प्रकार जिम प्रकार हँसते-हँसते मृत्यु का आलिङ्गन करता है; क्योंकि मृत्यु है ही नहीं। वह तो है महज काया-कल्प। मानव मृत्युजय है, मृत्यु के अधीन नहीं। वह चलता है मृत्यु को पैरों-तले दबाता हुआ, रौंदाता हुआ।

पर इतना अभीत वह कब बन सकता है? तब जबकि वह नचिकेता की भाँति आत्मतत्त्वों को जान ले के लिए यम के घर भी पहुँच जाए, मृत्यु का वरण कर ले। यह कथा नहीं एक रूपक है। हर आत्मार्थी को नचिकेता की भाँति यम के घर जाना ही पड़ता है। अमृत प्राप्त करने के लिए मृत्यु का वरण करना ही होता है। किन्तु मृत्यु किसकी? संस्कारों की। संस्कारों की मृत्यु होते ही जीवन रूपान्तरित हो जाता है महाजीवन में। तभी तो वह मृत्यु को अपना कर हँसते-हँसते मर सकता है; क्योंकि उसे ज्ञात है—आत्मा अजर है, अमर है, अक्षय है। □

तीर्थकर : जन. फर. ७९/३०

अपने पर भी हँसे कभी

- हम अपने पर कभी नहीं हँसते बल्कि कोई हम पर हँसे तो बुरा लगता है। हम अपने पर इसलिए नहीं हँसते कि हम भूल को स्वीकार करने में कतराते हैं।
- वस्तुतः जो भूल करने से डरता है, वह हँस नहीं सकता। भूल करता है और उसे स्वीकार करता है, वही जीना जानता है।

□ जमनालाल जैन

चिकित्सा-शास्त्री और बेफिक्र लोग कहते हैं कि जीवन को तरोताजा स्वस्थ एवं हलका रखने के लिए हँसना जरूरी है। हँसने से फेफड़े मजबूत होते हैं दिल की कली-कली खिल जाती है। जो हँसी उम्र बढ़ा दे, उसे कौन नहीं चाहेगा? हँसी के सब भूखे हैं। मेरे पास, आपके पास, सबके पास इतना कुछ है कि गिनती करना मुश्किल; पर अगर नहीं है तो एक हँसी नहीं है।

हँसी क्या इतनी कीमती चीज है कि हम उसे खरीद नहीं सकते, कोई हमें दान नहीं कर सकता या उधार भी नहीं मिल सकती? अगर कहीं हँसी का बाजार लगे और वह नोटों के मोल मिल सके तो सच भागिये; बेचने वाला आनन-फानन मालामाल हो जाएगा और खरीदने वाला तिहाल' पर हाय, न उसका बाजार है, न वह मंदिर में मिलती है।

जब देखो तब लोग हमें हँसते रहने का उपदेश देते हैं। बैठे-बैठे हम कैसे हँसें? खा रहे हैं, पी रहे हैं, चल रहे हैं, बतिया रहे हैं, बाजार-हाट करते हैं, बाल-बच्चे पैदा करते हैं, घर बनाते हैं, घर बसाते हैं, धन तिजोरी में जमा करते हैं—पर हँसी छूटती ही नहीं। अपने-आप अपने में कोई हँसता हुआ हमने तो नहीं देखा। हाँ, कभी कोई घटना याद आ गयी और मूर्खतापूर्ण घटना याद आ गयी तो स्मृति की दुनिया में जाकर मुस्करा-भर देते हैं। ऐसे मौकों पर हम आप सभी मुस्कराते हैं; लेकिन यह तो हँसी नहीं है और इसे हँसने-हँसते जीना भी नहीं कहते।

हाँ, ऐसी हँसी सभी हँसते हैं जो रोके नहीं सकती; हजारों बार इस हँसी का अनुभव हम करते हैं। किसी का कुछ नुकसान हो गया किसी की मूर्खता

दोधरकर : जन, फर. ७९/३१

प्रकट हो गयी, कोई रिक्छे या माइकिल से गिर गया, किसी की ठोकर से कोई चीज गिर गयी किसी की टोपी कांटे में उलझ गयी तो हमारे शरीर में गुदगुदी होने लगती है और हँसी छूट पड़ती है। गलत शब्द-प्रयोग, हकलाना, तुतुलना: या ब्रालकों की क्रीड़ाओं को देखकर हम हँस पड़ते हैं। किसी पर व्यंग्य करने में, किसी को बेवकूफ बनाने में हमें मजा आता है। किसी पर क्रोध करके भी हम भीतर-ही-भीतर हँस पड़ते हैं। इस प्रकार की हँसी को दूसरों पर हँसना कहते हैं। नीतिशास्त्र इसे बुरा कहता है, पाप कहता है।

हम अपने पर कभी नहीं हँसते बल्कि कोई हम पर हँसे तो बुरा लगता है। हम अपने पर इसलिए नहीं हँसते कि हम भूल को स्वीकार करने में कतराते हैं। भूल तो करते हैं, पर उसे स्वीकार करने में अपना अपमान समझते हैं। यह अपमान की प्रतीति अदंकार के बोझ से होती है।

काव्य-शास्त्र में हास्य एक रस है, पर धर्म-शास्त्र में वह एक विकार है। धर्म-शास्त्रों ने हमारी हँसी पर हमारी महजता पर हमारी उन्मुक्तता पर ताला जड़ दिया है। कोई दो क्षण के लिए मौज में आकर हँस-बोल ले, किसी से प्रेम कर ले, किसी का शरीर छू ले, भर-नयन निरख ले, अपनी प्यास बुझा ले, तो हमारी परम्परा उसे माफ नहीं करती। क्यों नहीं करती? इसलिए कि हम स्वयं इस आनन्द से इस हँसी से वंचित हैं।

कौआ अकेला नहीं खाता, मोर घन-गर्जन सुनकर झूमने लगता है, कुत्ते भी एक-दूसरे का मुँह चाटते रहते हैं पर आदमी अजीब है। उसने अपनी जिन्दगी को चारों तरफ से डम कदर जकड़ रखा है कि रात-दिन माथा पकड़कर वह रोता रहता है। हम जन्म-जन्म के उदास हो गये हैं और उदासी को, उदासीनता को हमने जीवन की ऊँची माधना ममझ लिया है! अब हँसी हमारे हाँठों पर और आँखों पर कैसे आ सकती है?

मैं स्वयं हँसी का प्यासा हूँ। हँसी मिले मुस्कान मिले तो अबतक के पाले हुए भगवान् को भी तजने में हर्ज नहीं। जो भूल करने से डरता है वह हँस नहीं सकता। जो भूल करता है और उसे स्वीकार करता है, वही जीना जानता है।

फूल हँसता है क्योंकि उसे चिंता नहीं कि कोई उसे तोड़कर जेब में टाँकेगा, या देवता के चरणों में अर्पित करेगा, या किसी प्रेमिका के जूड़े में बाँधेगा, या शव पर चढ़ायेगा, या वह स्वयं ही गिर जाएगा। यह उन्मुक्तता ही हँसी का मूल है और यही जिन्दगी है, मुक्ति है। कोई रस्ती-भर हँसी मुझे भी दे दे, चाहे जीवन ले ले। □

तीर्थकर : जन. फर. ७९/३२

हँसते-हँसते मृत्यु-वरण

“जीवन के अन्तिम क्षणों में जिमकी चेतना में उल्लाम न हो, होश न हो, नृप्ति न हो, सहजता न हो, उमने शास्त्र चाहे जितने पढ़े हों; किन्तु स्वाध्याय क्षण-भर भी नहीं किया; और जिसने अपने स्वयं का अध्ययन नहीं किया उसकी दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध में बटोरी गयी जानकारी बेकार है।”

□ डॉ. प्रेम सुमन जैन

प्रिय अमिन,

तुम्हारे कितने पत्र इकट्ठा हो गये हैं मेरे पास। पहले सोचा था कि तुम्हें किसी पत्र का जवाब न लिखूँ; किन्तु तुम्हारे इस अंतिम पत्र ने मुझे विवश कर दिया है, जीवन की इस मन्ध्या में भी तुम्हारी जिज्ञासाओं को समाहित करने के लिए। विचारों के जिम धरातल पर हम दोनों खड़े हैं वहाँ किसी की कोई बात मानी ही जाए, यह आवश्यक नहीं है; किन्तु जीवन के इन अस्सी वसंतों में मन के भीतर जो सँजोता रहा हूँ, उसे तुम्हारे सामने रख देना चाहता हूँ। मुझसे हजारों मील दूर मागर-पार होते हुए भी तुम्हें मैं अपने पलंग के निकट बैठा अनुभव कर रहा हूँ। जन्म-यात्रा का यह मेरा अंतिम पड़ाव हो, इस प्रयत्न में हूँ; अतः वह सब कहूँगा, जो अब तक अनुभव तो किया था, किन्तु किसी से कह नहीं पाया था। उममें तुम्हें तुम्हारी जिज्ञासाओं के समाधान मिल जाएँ; तो उन्हें पकड़ लेना और न मिलें तो फिर तुम स्वयं खोजना।

तुमने लिखा है कि जहाँ तुम रह रहे हो वहाँ धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर यह धर्म इस दुनिया में क्यों है? नये-नये चोले पहिनकर इमने समस्त जगत् को आक्रान्त क्यों कर रखा है?

यह तुमने बहुत अच्छा किया कि अपनी जिज्ञासा में मानव को ही सम्मिलित किया है। पशु-जगत् के अनुभव को हम क्या जानें? प्रकृति का साम्राज्य तो और सूक्ष्म है। मैं अन्य लोगों की बात तो नहीं जानता कि वे धर्म क्यों मानते हैं, किन्तु मेरा अपना अनुभव कह रहा है कि धार्मिक होने के मूल में मृत्यु का भय प्रमुख है। मृत्यु की घटना हमारे लिए जितनी भयावह और दुःखदायी होगी, हमारा चित्त उतना ही धर्म की ओर आकृष्ट होगा। उतना ही हम धर्म को आवरण की तरह ओढ़कर मृत्यु से भागते रहेंगे। और जब मृत्यु भिर पर ही आ जाती है तो हम इतने बेहोश हो जाते हैं कि उस क्षण क्या घटा, यह हम कभी अनुभव ही नहीं कर पाते। मानव की मृत्यु के क्षण में यही बेहोशी उसे मृत्यु के चक्र से बाहर नहीं निकलने देती। इसी मृत्यु पर विजय पाने की लालसा ही मानव को धार्मिक बनाये रखती है।

तीर्थकर : जन. फर. ७९/३३

अमित, ऐसा नहीं है कि मानव की मृत्यु के प्रति यह बेहोशी टूटती न हो। तुम तो प्राचीन धर्मों के जानकार हो। तुम्हें पता है कि भगवान् बुद्ध की बेहोशी इसी मृत्यु की घटना को देखकर ही टूटी थी। उन्होंने रास्ते में पहली बार किसी वृद्ध की मृत्यु देखी और सारथी से कहा कि अब उत्सव में नहीं जाना भूझे। घर वापिस चलो। उसी क्षण से बुद्ध ने ऐसी मृत्यु का वरण करने का प्रयत्न किया जो हँसते-हँसते गुजर जाए। उन्होंने समझ लिया कि जन्म और मृत्यु जीवन के दो पग हैं; उन्हें बराबर का आदर देना होगा। जब जन्म में उत्सव हो सकता है तो मृत्यु क्यों उल्लासपूर्वक वरण नहीं की जा सकती? बुद्ध ने इसे अपने जीवन द्वारा मत्य कर दिखाया। उनके निर्वाण के समय की मुद्रा कितनी प्रफुल्ल और शान्त है!!

तुम्हारे देश में भगवान् महावीर को तो लोग जानते ही होंगे। पहले न जाना होगा तो उनकी इस पच्चीस सौवी निर्वाण-शताब्दी पर तो उनका नाम वहाँ पहुँच ही गया होगा। इस महापुरुष ने जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में अद्भुत चिन्तन प्रस्तुत किया है। इसे मृत्यु को समझने के लिए किसी घटना की आवश्यकता नहीं हुई। महावीर का कहना है कि जन्म लिया है, तो यही पर्याप्त है मृत्यु की अनिवार्यता के लिए। मेहमान आया है तो जाग्राही। आने की अनिवार्यता से ही वह मेहमान कहलाता है। और जो अनिवार्य है उसके घटने में दुःख कैसा? भय किसलिए? अतः दुःख और भय का मृत्यु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति के साथ यह घटना तो हजारों बार घटी है। उसे स्मरण नहीं है, होश नहीं है, इसी कारण उसके लिए मृत्यु भयावह है। दुःखदायी है। व्यक्ति के साथ कितनी मृत्यु-घटनाएँ घट चुकी हैं उन्हीं को स्मरण दिलाने का कार्य ही महावीर ने किया है।

तुम्हें याद होगा, जब तुम यहीं भारत में थे, एक बार मैंने तुमसे आगरा का ताजमहल देखने के लिए बहुत आग्रह किया था। सारे खर्च का इन्तजाम भी कर दिया था; किन्तु तुम माउण्टआबू जाने पर तुले हुए थे। जब मैंने बहुत ज़िद की ताजमहल देख आने की, तो तुम्हें याद होगा, तुमने अपनी काँपी में हिसाब जोड़कर मुझे बताया था कि तुम्हारा वचन ही आगरा में कटा है और तुम पाँच सौ अस्सी बार ताजमहल देख चुके हो; किन्तु माउण्टआबू देखने पहली बार जा रहे हो। भूझे इस हिसाब के आगे हारना पड़ा था।

आज जब उस घटना को सोचता हूँ तो महावीर के चिन्तन की गहराई समझ में आती है। वे यही तो कहते थे कि व्यक्ति मृत्यु के समय इतना होश रखे कि उसे अगले जन्म में इस जन्म के सब सुख-दुःख याद रह जाएँ। कोई यदि थोड़ा अभ्यास और करे तो उसे पिछले कई जन्मों की घटनाएँ याद आ सकती हैं। और यदि एक बार होश में किसी व्यक्ति को इस संसार के सभी अनुभव स्मरण हो जाएँ तो इन्द्रिय-सुख भोगने की उसकी आकांक्षा ही समाप्त हो जाएगी। उसे

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/३४

अनुभव होने लगेगा कि यही सब कुछ मैंने पिछले जन्मों में कितनी ही बार भोगा है। पर उससे मिला क्या है? भोग से भी कुछ नहीं मिला और योग से भी कुछ नहीं। पाप से भी कुछ नहीं और पुण्य से भी कुछ नहीं। ऐसे व्यक्ति के लिए फिर एक ही रास्ता है—हँसते-हँसते मृत्यु-वरण। अदृश्य आत्मत्व को दृष्टिगोचर करने का जैसा कि तुम्हें भाउण्डआबू देखने का ही विकल्प वचा था।

यह सब पढ़कर तुम सोचोगे कि तुम्हारे इस बूढ़े आचार्य को ही क्या गया है? पहले मैं जब कभी वीमार पड़ता था तो तुरन्त अच्छा होने के लिए तुम सबसे कितनी सेवा कराता था? कहता रहता था कि अभी मेरी मृत्यु न आये। वास्तव में तब मुझे भय लगना था कि कहीं मैं मर गया तो मेरे प्रिय शिष्यों का जीवन कौन बनायेगा? इस आश्रम को आगे कौन चलायेगा? आदर्श-शिक्षण की यह परम्परा जीवित कैसे रहेगी? पर अमित, यह सब भ्रम था। अज्ञान था। तब मैंने वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा था।

तुमने अपने इस पत्र में यही तो प्रश्न उठाया है कि सब परिवर्तित हो रहा है। पूर्वी सभ्यता में भौतिकता बढ़ रही है। पश्चिमी देशों में आध्यात्मिकता के प्रति आकर्षण है। व्यक्ति दिनोदिन आत्मनिष्ठ होता जा रहा है। परार्थ की भावना संकुचित हो रही है। यह सब क्यों है?

सब पूछो अमित, तो यह प्रश्न ही पूछने लायक नहीं है। यह मैं अब कह रहा हूँ। पहले पूछते तो शायद इन सब प्रश्नों पर विस्तार से भाषण दे डालता; किन्तु अब लगता है कि मृत्यु की तरह यह सब परिवर्तन भी अनिवार्य है और जो मृत्यु से भयभीत नहीं है, उसे इस परिवर्तन से भी कोई खतरा नहीं है। वस्तुतः हमारे सारे पछतावे, अधिकांश दुःख इसी परिवर्तन के ही तो हैं। जिसे हम अपना आत्मीय समझते थे, मित्र मानते थे, सम्बन्धी कहते थे, यदि किसी दिन उसने हमसे मुँह फेर लिया तो हम दुःखी हो गये। हमने यह नहीं सोचा कि जो अभी प्रेम से भरा है, विनय से भरा है, वह कभी घृणा भी कर सकता है, अविनय भी उससे हो सकती है। विकासशील चेतना वाले व्यक्ति में स्थिरता की आशा करना ही बेकार है। जड़ पदार्थ भी प्रतिफल परिवर्तित होते रहते हैं, तब चेतन के बदलने में अकुलाहट क्यों? महावीर ने इसी समझ को भेद-विज्ञान कहा है। जन्म-मरण को प्रवाह की संज्ञा दी है।

मुझे याद है अमित, कि तुमने विदेश में डॉक्टरी की शिक्षा ली है। कुछ दिन पहले अखबारों में पढ़ा था कि तुम विश्व के श्रेष्ठ शल्य-चिकित्सक माने जाते हो। शरीर के एकएक भाग को अलग कर सकते हो; किन्तु अमित, इन क्षणों में तुम्हें विश्व का सर्वश्रेष्ठ शल्य-चिकित्सक मानने को मैं तैयार नहीं हूँ। इसलिए नहीं, कि मेरी शल्य-क्रिया करने तुम नहीं आ पाओगे, बल्कि इसलिए कि मेरी शल्य-क्रिया किर्मा और ने कर दी है। वह है, मेरी सन्निकट माँ का क्षण। हाँ अमित,

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/३५

मृत्यु सबसे बड़ा सर्जन है इस जगत् का। तुम तो आदमी की बेहोशी में सर्जरी करते हो और मृत्यु आदमी के होश में होने पर। यह उसकी पहली गर्त है। जन्म-जन्मान्तरों तक आत्मा और शरीर की एकता का अज्ञान व्यक्ति ढोये चलता है। शरीर पर होने वाले कष्टों को अपना मानते हुए जीवन-भर वह दुःखी रहता है; इसलिए वह मृत्यु से डरता भी है कि कहीं यह मृत्युरूपी बड़ा सर्जन मेरे शरीर और आत्मा के जोड़े को अलग न कर दे। इसी भय से अज्ञानी व्यक्ति मरने समय बेहोश हो जाता है और जब होश में आता है तब उसकी आत्मा किसी-न-किसी शरीर में फिर जुड़ी हुई होती है। व्यक्ति को यह पता ही नहीं चलता कि मृत्यु ने उनकी क्या चीर-फाड़ की है; कहीं से उठाकर कहीं पटक दिया है।

पता नहीं अमित, मेरा क्या सौभाग्य था कि इधर मैंने धार्मिक पुस्तकों को पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। किसी दिन मुझे महावीर के वचनों को पढ़ने का अवसर हाथ लग गया। पढ़कर जाना कि वह बहुत अद्भुत आदमी था। उसने तो मृत्यु को समाधि-मरण का नाम दिया है। वह कहता है जिससे मृत्यु नहीं मधी वह माधक कैसा? मृत्यु ही तो कसौटी है—जीवन की सार्थकता की। जीवन के अंतिम क्षणों में जिसकी चेतना में उल्लास न हो, होश न हो, तृप्ति न हो, महजता न हो उसने शास्त्र चाहे जितने पढ़ लिये हों, किन्तु उसने स्वाध्याय क्षण-भर भी नहीं किया। और जिसने अपने स्वयं का अध्ययन नहीं किया उसकी दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध में बटोरी गयी जानकारी बेकार है; इसलिए अमित भाई, जिसे तुम विज्ञान कहते हो वह व्यक्ति द्वारा एकत्र की गयी वस्तुओं की जानकारी है और महावीर—जैसे लोग जिसे धर्म कहते हैं, वह स्वयं के द्वारा स्वयं को जानने की कला है। तुम्हें सूचना दूँ कि मैं भी, मृत्यु के क्षण में ही मधी, इस कला का विद्यार्थी हो गया हूँ।

तुमने लिखा है कि मैं अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखूँ। सो हे भाई, अब मुझे लग रहा है कि इस शरीर का मैंने इस जीवन में तो क्या पिछले कई जीवनों में कितना ध्यान न रखा होगा। कितनी दवाई न की होगी। फिर भी यह शरीर अपने स्वभाव से विचलित नहीं हुआ। किसी के बहकावे या प्रलोभन में नहीं आया। जब उसे पैदा होना है, हुआ। जब उसे जवान या बूढ़ा होना है, हुआ। और जब उसे नष्ट होना है, सो हुआ। तो क्या मैं इस अज्ञान शरीर से इतनी भी शिक्षा न लूँ कि मुझे भी अब अपने 'स्व' में स्थित रहना है। कहीं इसका ही अर्थ तो स्वास्थ्य प्राप्त करना नहीं है? तब तो मैं तुम्हारी बात मान रहा हूँ और स्वास्थ्य-लाभ कर रहा हूँ; स्वयं में स्थित हो रहा हूँ।

शरीर के इस व्यामोह को काटना और उभकी चिन्ता न कर केवल आत्मा के विक्रम की ही चिन्ता करना अब मेरा ध्येय बन गया है। लगभग छह माह से

(शेष पृष्ठ ३९ पर)

तीर्थकर : जन. फर. ७९/३६

जीवन : हरा हर पल, भरा हर पल

जिम तरह हम अपने जीवन को वर्ष-वर्ष में व्यतीत करते हुए वर्षगांठ की खुशियाँ मनाते हैं, उसी तरह हँसकर, मुस्कराकर मृत्यु का स्वागत क्यों नहीं करते? नहीं करते, इसीलिए हम मृत्यु से भयभीत होकर महापुरुषों से अलग एक अतिमामान्य जिन्दगी का वरण करते हैं।

□ डा. कुन्तल गोयल

जिम तरह जीवन मृत्यु है, उसी तरह यह भी सत्य है कि मृत्यु अनिवार्य है। मृत्यु अवश्यम्भावी है। जिमका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु भी होगी। जन्म और मृत्यु ये जीवन के ऐसे दो छोर हैं, जिन्हें छूने के लिए व्यक्ति को बाध्य होना ही पड़ता है; और व्यक्ति एक छोर पकड़कर दूसरे को नकारना चाहता है। व्यक्ति केवल जीना चाहता है और उसके जीने की इच्छा कभी नहीं मरती। इस जीने की इच्छा के कारण ही वह नाना प्रकार की इच्छाओं को पालता है, मुनहले स्वप्न देखता है, और सुन्दर भविष्य की योजनाओं का निर्माण करता है। यह अपने जीवन को पूरी तरह उममें गहरे लिप्त होकर भोगना चाहता है और जीवन के इसी भोगने की उद्दाम लालसा में वह बिल्कुल भूल जाता है कि जिम तरह जीवन मृत्यु है, उसी तरह तो मृत्यु भी सत्य है। जीवन की चाह में जहाँ उसकी चाह शक्ति का पर्याय बन जाती है, वह मदान्ध हो उठता है और अविवेकी हो बैठता है। और यही सब अनर्थ का कारण बन जाता है। जीवन के क्षणों में आज हम जीवनदर्शन को एक दूसरे ही रूप में देख रहे हैं, जहाँ केवल छल है, छद्म है और केवल धोखा-ही-धोखा है। हम जो कुछ कह रहे हैं, जो कुछ कर रहे हैं, वह सारा-का-सारा धोखा है। अपने गलत विचारों, गलत व्यवहारों, और गलत कार्यों का ही परिणाम है कि हमने इसे ही जीवन का सत्य मान लिया है और अपनी जिजीविषा को बढ़ाये चले जा रहे हैं और अपने जीवन को यंत्रणापूर्ण राह पर घसीटते हुए लिये चले जा रहे हैं।

जिम तरह जीवन स्वागत-योग्य है और जिम तरह हम अपने जीवन को वर्ष-वर्ष में व्यतीत करते हुए वर्षगांठ की खुशियाँ मनाते हैं, उसी तरह हँस कर, मुस्कराकर मृत्यु का स्वागत क्यों नहीं करते? नहीं करने, इसीलिए हम मृत्यु से भयभीत होकर महापुरुषों से अलग एक अतिमामान्य जिन्दगी का वरण करते हैं : जितने भी महापुरुष हुए हैं, वीर-शहीद हुए हैं, उन्होंने जिन्दगी की तरह ही मृत्यु को भी प्यार और सम्मान की दृष्टि से देखा है। कविवर पन्त ने अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व यह कहा था—'मृत्यु का तो एक निमित्त निश्चित है। मृत्यु के उस निश्चित एक निमित्त के लिए, ऐसा-वैसा सोच-सोचकर जीवन के जीवन्त हज़ार-हज़ार पलों को हम मृतवत् क्यों बना लें?' और ऐसा कह कर उन्होंने मृत्यु के भयभङ्ग

तीर्थकर : जन. फर. ७९/३७

उसका स्वागत करने के लिए स्वयं को ऐसे ही प्रस्तुत कर दिया जैसे कोई अपने अतिथि का स्वागत करने के लिए द्वार पर खड़ा होता है। किसी ने मृत्यु ही कहा है—'जीवन एक अल्प दिवस है; किन्तु वह कार्य-दिवस है'। जीवन के थोड़े से सार्थक दिन अधिक बेशकीमती होते हैं। डेर-से निरर्थक दिनों की अपेक्षा। ज़िन्दगी और मौत के दस्तावेज़ के मुप्रसिद्ध लेखक विमल मित्र ने अपनी प्रस्तुति में एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम ईश्वर ने पृथ्वी को सृष्टि की ओर उन्होंने चार प्रकार के जीवों की रचना की जिनमें मनुष्य, गधा, कुत्ता और गिद्ध थे। चारों प्राणियों को उन्होंने जीवन के चालीस वर्ष दिये और चालीस वर्षों के पश्चात् यह भी बतलाया कि कोई भी जीवित नहीं रहेगा। सभी मृत्यु को प्राप्त होंगे। भगवान् का आदेश सबको मानना ही था; किन्तु मनुष्य था सबसे चालबाज़ उसके दिमाग में एक कुबुद्धि उपजी। उसने गधे से कहा—'भाई गधे तुम चालीस वर्षों की परमायु लेकर क्या करोगे? तुम्हें तो ज़िन्दगी-भर बोल ही ढोते रहना है। इससे तो अच्छा है कि अपनी ज़िन्दगी के बीस वर्ष तुम मुझे दे दो।' गधे ने कुछ सोचा और तैयार हो गया। इसके बाद मनुष्य ने कुत्ते और गिद्ध के सामने भी यही प्रस्ताव रखा। वे भी सहमत हो गये। अब मनुष्य की आयु लगभग सौ वर्ष हो गयी, किन्तु उसके जीवन की यह लिप्सा ही उसके पतन का कारण बनी। वस्तुतः वह अपने जीवन के केवल चालीस वर्षों तक ही मनुष्य बना रहता है। इसके बाद तो उसका जीवन गधे की तरह और फिर कुत्ते और गिद्ध की तरह ही बीतता है। उसके अन्तिम समय में विवशता, दुत्कार और लांछना ही शेष रह जाती हैं। उसकी कामनाओं का यह कैसा दारुण अन्त है! किन्तु नहीं, विमल मित्र का कहना है कि मैंने यदि कभी भी प्रीति की अपेक्षा प्रयोजन को ही अधिक प्रधानता दी हो, यदि कभी भी चिरकाल के वजाय क्षण-काल को अधिक प्रश्रय दिया हो, यदि शारीरिक क्लान्ति के कारण कभी भी मैं कर्तव्य-भ्रष्ट हुआ होऊँ, परमार्थ को अस्वीकार कर यदि कभी भी मैंने अर्थ को गुरुत्व देकर साहित्य को व्यवसाय बनाया हो, दूसरे की अख्याति से यदि कभी भी मन के किसी कोने में विन्दु-मात्र तृप्ति का अनुभव किया हो, तो है प्रभो! तुम मुझे क्षमा मत करो, मेरा विचार करो। यही मृत्यु का वह सत्य है जो जीवन का सत्य बन जाता है। जहाँ मृत्यु हार बैठती है और जीवन जीत जाता है।

इसीलिए तो कहा गया है—'जीवन का हर क्षण जीवन्त होना चाहिये'। महापुरुषों ने ऐसा ही जीवन जिया है। संतों, भक्तों और मनीषियों ने अपने जीवन के क्षण-क्षण को अपने कार्यों में साकार किया है, तभी तो वे मृत्यु को जीत सके। जीवन से हारा हुआ व्यक्ति ही तो मृत है; मृत अर्थात् जिसमें जीवन की धड़कनें न हों, ऐसा थका, निराश, हताश और अकर्मण्य व्यक्ति ही तो मृत्यु की यातना झेलता है और हर क्षण टूटता-बिखरता हुआ मृत्यु का दारुण अहसास भोगता है। ज़िन्दगी है तो विषमताएँ होंगी ही। कठिनाइयाँ जीवन-पथ पर आकर रहेंगी।

तीकर्थर : जन. फर. ७९/३८

उलझने पथ का रोड़ा बनेंगी और यदि इनमे डरे, थके, और रुके, तो रुक ही गये। इसी रुकने का नाम ही तो पराजय है। पराजय बाह्य नहीं आन्तरिक क्षमताओं की, जीवन को गतिशील बनाने वाले तत्त्वों की पराजय है। यही विनाश है। यही मृत्यु है। तन की मृत्यु की परवाह फिर क्यों होनी चाहिये? तन तो जलकर राख हो जाता है, पर मन की मृत्यु तो व्यक्ति को तिल-तिल जलाती है और उसके उठते घुएँ से व्यक्ति न तो जी पाता है, न मर पाता है। पूर्णाहुति अथवा पूर्ण अन्त अच्छा है पर अधर में लटके हुए त्रिशंकु की-सी स्थिति तो बेहद त्रासदायक होती है। जीवन का अहसास साथ है, अपार लालसाएँ और कामनाएँ उठ-उठ कर जीवन को आन्दोलित कर रही हैं, पर हम हैं कि भारी मन लिये अपने कंधों पर संज्ञा-शून्य से अपनी ही लाश ढोये चले जा रहे हैं।

जीवन का हर क्षण इतना बहुमूल्य होना चाहिये कि हमें स्मरण ही न होने पाये कि अगला क्षण हमारी जिन्दगी का कैसा होगा? हम बाद के लिए, अपने वर्तमान की आहुति क्यों दें? इसीलिए तो मृत्यु-पथ के दावेदार पथिक श्री रांगेय राघव अपने अन्तिम दिनों में मृत्यु के उस अहसास को अपने इस अहसास में समेट सके—

मैं पूछता हूँ सबसे गर्दिश कहां थमेगी
जब भीत ग्राज की है दो पल है जिन्दगी के
घोखे का डर करूँ क्या? रुकना न कहीं है

और फिर वे यह कह कर मृत्यु का स्वागत करते हैं—

यह जान लो तुम
दाह केवल संस्थाना है
सत्य केवल यातना है

इसलिए यातना से, अर्थात् मृत्यु से डर कैसा?

(हैंसते-हैंसते मृत्यु-वरण : पृष्ठ ३६ का शेष)

मैं चिन्तन के इस दौर से गुजर रहा हूँ। बहुत आनन्दित हूँ। अब मैं मृत्यु की आहुति की प्रतीक्षा में हूँ। भारंडपक्षी की तरह मेरी आत्मा निरन्तर जाग रही है कि कहीं मृत्यु बिना देखे ही न निकल जाए। इसे तुम आत्महत्या न कह देना। यह आत्म-हत्या शब्द ही शलत है। आत्मा की क्या हत्या? मैं आत्म-जागरण कर रहा हूँ। और उसमें यदि यह शरीर मेरा साथ न दे, तो यह इस भौतिक पदार्थ की निस्सारता है। आत्मा का अमरत्व.....

पुनश्च

प्रिय मित्र

तुम्हें अपने गुरु-भ्राता आशीष की तो याद होगी। वही मैं अब तुम्हें निवेदन कर रहा हूँ कि तुम्हारे लिए पुण्य पिताजी उपर्युक्त पत्र भी लिख पाये थे और उनकी आत्मा अमरत्व को प्राप्त हो गयी। तुम्हारे जिज्ञासा-भरे पत्र के लिए हम सब आभारी हैं।

तुम्हारा—आशीष

तीर्थकर : जन. फर. ७९/३९

रुढ़ि के ताले ऐसे खुलते हैं

पूना के एक भाई बड़े मसखरे थे। लंबे प्रवास के बाद घर आये तो देखते हैं कि घर का ताला नहीं खुलता। क्या किया जाए? नाराज होने से ताला थोड़े ही समझने वाला था। पर वे नाटकीय स्वर में बोले—‘अरे कम्बहत ताले, मैंने तुझे पूरे दाम देकर खरीदा था। मैं तेरा मालिक हूँ। तू मेरा क्रीत दाम है। मैं दो महीने बाहर क्या गया, तू मुझे भूला ही बैठा! ठहर, अब मैं तुझ पर स्नेह-प्रयोग करता हूँ। खोल तो जरा अपना मुँह!’ और उन्होंने तेल की दो-तीन बूंदें ताले में डालकर फिर चाबी घुमायी। ताला तुरन्त खुल गया। घर के सब लोग, जो बाहर प्रतीक्षा में खड़े-खड़े तंग आ गये थे, प्रसन्न हो गये। और उसी शुभ प्रसन्नता के साथ उन्होंने गृह-प्रवेश किया। हमारे सामाजिक जीवन में रुढ़ि के ताले ऐसे ही खुल सकते हैं।

□ □

‘परिगणित जाति-आयोग’ के काम से हम मुमाफिरी कर रहे थे। रास्ते में एक साथी की पेट्टी गायब हो गयी। वे बहुत बिगड़े, सब पर नाराज हुए। आखिरकार मेरे पाम आये। ऊँची आवाज में उन्होंने माग किस्मा कह सुनाया। मैंने शान्ति से कहा—‘बड़े अफसोस की बात है कि आपने अपनी पेट्टी खोयी; लेकिन मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि अपनी पेट्टी के साथ आप अपना मिजाज भी क्यों खो बैठे हैं? यह सुनकर वे हँस पड़े। उन्हें खोया हुआ मिजाज तुरन्त मिल गया। और काफी कोशिश के बाद उनकी पेट्टी भी मिल गयी।

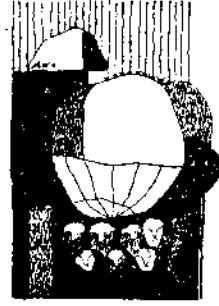
□ □

कभी किसी ने गाँधीजी से पूछा—‘आपकी राय में विनोद का जीवन में कितना स्थान हो सकता है?’ गाँधीजी ने कहा—‘आज तो मैं महात्मा बन बैठा हूँ; लेकिन जिन्दगी में हमेशा कठिनाइयों से लड़ना पड़ा है। कदम-कदम पर निराशा होना पड़ा है। उस वक्त अगर मुझमें विनोद न होता, तो मैंने कब की आत्म-हत्या कर ली होती। मेरी विनोद-शक्ति ने ही मुझे निराशा से बचाया है।’ इस जवाब में गाँधीजी ने जिस विनोद शक्ति का विचार किया है, वह केवल शाब्दिक चमत्कार द्वारा लोगों को हँसाने की बात नहीं है; बल्कि साख-साख निराशाओं में अमर आशा को जिन्दा रखने वाली आस्तिकता की बात है। छोटे बच्चे जब गलतियाँ करते हैं, शरारतें करते हैं, तब हम उन पर गुस्सा नहीं करते। मन में सोच लेते हैं कि बच्चे ऐसे ही होते हैं, इसमें मिजाज खोने की बात क्या है। जब ये होश संभालेंगे, अपनी गलतियाँ अपने आप ही समझ लेंगे। मुधारक के हृदय में यह अटूट विश्वास होना चाहिये कि दुनिया धीरे-धीरे जरूर मुधर जाएगी वह भी बच्चा ही तो है।

काका-कालेलकर

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४०

जो हँसने से रोकेँ,



तोड़ें ऐसी परम्पराएँ

कल्याण कुमार 'शशि'

हर्ष-नीर से सीचें तो, जीवन-प्रभून खिलता है,
दुँदें तो फुटपाथों पर भी, नवजीवन मिलता है,
प्रश्नों में सिमटा जीवन, अपने को उलझाता है,
यह मन की खेती पर, टिड्डी दल-सा छा जाता है,
इतिहासों में भरी पड़ी, ऐसी असंख्य आख्याएँ ।
हँसते-हँसते जीने की, सीखें कमनीय कलाएँ ॥

पेड़-तले जा बैठा, हिम्मत-हारा हुआ बटोही,
मानतुंग पर जा पहुँचा, श्रम-संकल्पी-आरोही,
बिना थके चलने वाला, पाता मनवाञ्छित पद है,
केवल भाग्य-भरोसे जीना, घोर विवादास्पद है,
चरम लक्ष्य तक पहुँचायेंगी, अपनी ही क्षमताएँ ।
हँसते-हँसते जीने की, सीखें कमनीय कलाएँ ॥

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४१

‘असन्तोष’ से व्याजू ऋण पर ‘हर्ष’ लिया जाता है,
हँसने की बाधाओं से, संघर्ष किया जाता है,
पूजा के सरसिज, काँटों के पहरों में खिलते हैं,
मंजिल वहीं छिपी मिलती है, पाँव जहाँ छिलते हैं,
दुख ही सुख देकर जाता है, दुःख से क्यों घबरायें ।
हँसते-हँसते जीने की सीखें कमनीय कलाएँ ॥

नयी समस्याओं को, हमसे मिलता जो पोषण है,
कितनों ने पहिचाना, उसमें अपना ही शोषण है,
कभी-कभी तो एक ‘ढील’, जीवन-भर पछताती है,
नन्हीं ‘सिलवट’ पड़ने से, तस्वीर ‘दरक’ जाती है,
हमें न हँसने देती है अपनी ही अस्थिरताएँ ।
हँसते-हँसते जीने की सीखें कमनीय कलाएँ ॥

त्याग-वृत्ति को संग्रह की, ‘कुटनी’ ने बहकाया है,
वही अधिक रोता है, जिम्मे बहुत अधिक पाया है,
धन का बाह्य रूप, फूलों पर चमकीली शबनम है,
इसके अन्दर झाँको तो, पत्थर भारी-भरकम है,
इसमें गंभित हरणवाद छीना-झपटी, छलनाएँ ।
हँसने और हँसाने की सीखें कमनीय कलाएँ ॥

अस्थिरता के रंग-मंच पर, क्या टिकने वाला है,
अगर विचारें तो यह, पार्थिव देह धर्मशाला है,
तर्कों के पिजरे से, मन-पंछी आजाद करायें,
हर्षोल्लास जहाँ बिखरा हो, अपने घर ले आयें,
जो हँसने से रोकें, तोड़ें ऐसी परम्पराएँ ।
हँसने और हँसाने की, सीखें कमनीय कलाएँ ॥

□ □

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४२

जिन्दगी
जिन्दादिली का नाम है
रोते हुए रिसना
रिसते हुए रोना—
यह सदा से
कायरों का काम है

आदमी हो
आदमी की तरह जीना
जरा जानो

रात-दिन आँसू बहाकर
शक्ति क्यों तुम हो गँवाते ?
कसाई के शिकंजे में कसी उस
गाय-से
क्यों नित रँभाते ?
अकल के तुम पूत हो
शक्ति-साहस-धैर्य के
भण्डार-धाम
अकूत हो
जरा-सा झटका लगा
बस रो दिये
ईश्वरी वरदान सारे
खो दिये

मिनभिनाना
बकरियों को भला लगता
चिरैयों को ठीक दिखता
तुम मनुज हो
तुम्हें शोभा नहीं देता
जन्तुओं की भाँति
रोना-चीखना ।
खिलखिलाना,
यह तुम्हारी शान है
हँसना-हँसाना
मनुज की पहचान है ।

जानवर हँसते हुए
क्या कभी देखे गये हैं ?
मीन रह चोटें सहे

□ नरेन्द्र प्रकाश जैन

नहीं 'उफ्' मुंह से कहें
ऐसा कहाँ लेखा गया है ?
इंसान ही बस
एक ऐसा जीव है
जो दुखों में
आपत्तियों में
संकटों में भी कभी
वाजी नहीं है हारता
रहता सदा सप्राण है
यह प्रकृति का पुतला
कहो, कितना विलक्षण!

हँसो प्यारे
मुस्कराओ तो जरा
छँट जाए कुहरा
भागो जहाँ से
अब उदासी का अँधेरा
हो सुघड़-प्यारा सवेरा।

इधर देखो
यह अकेला

(शेष पृष्ठ ४६ पर)

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४३

१. स्वर्ग और नरक एक सत्य है

नास्तिकवाद की बात छोड़ दीजिये। वह तो आत्मा को भी नहीं मानता। इससे क्या आत्मा और परमात्मा नाम का पदार्थ विनीत हो जाएगा? दार्शनिक चर्चा की भी ज़रूरत नहीं; सिर्फ अनुभवज्ञान की कसौटी पर ही परखा जाए तो 'आत्म-तत्त्व' ध्रुव सत्य ठहरता है। यह शाश्वत और अविनश्वर है। देश और काल की सीमा से अतीत सभी अनुभवज्ञानी सन्त, महात्मा एवं महापुरुषों ने इसके अस्तित्व को न केवल स्वीकार ही किया है, अपितु इसकी महती विशिष्टताओं—'परमात्म दशा' आदि—का साक्षात् अनृत-पान भी किया है।

'आत्मा' ज्ञान गुणमय है। इसका ज्ञान असीम एवं अनन्त भी हो सकता है। उस सीमातीत आलोक में विश्व की अगण्य विचित्रताएँ स्वभावतया झलकती हैं। स्वर्ग, नरक, आकाश, पाताल, जल, थल, जीव, अजीव, मनुष्य, तिर्यच, देव, नारक, जन्म, मरण, सुख, दुःख, उत्थान, पतन आदि असंख्य विस्मयों की रंगभूमि यह 'विश्व' दीखे बिना नहीं रहता।

जब 'आत्मा' या 'अहं' यानी हम एक साक्षात् अनुभूत सत्य हैं, हम कहीं से आये हैं और यहाँ से मरने के बाद किसी निश्चित स्थान पर अपनी करनी के मुताबिक जन्म लेने को बद्ध हैं (यह एक अनुभूत सत्य है, जिसको किसी भी हालत में नकारा नहीं जा सकता) तब यह न्यायसंगत ही है कि हम अपनी भूत-काल की लम्बी भुसाफिरी में—नरक, निगोद, त्रस, स्थावर, पशु, पक्षी, मनुष्य और देवों की भूमियों में न जाने कितनी-कितनी बार जन्म-मरण की फेरी लगा कर आये हैं!

यह नियम है कि जीव, या आत्मा जैसा करता है वैसा भरता है; अर्थात् यह वस्तु-स्वभाव या प्राकृतिक नियम है। जिस प्राणी ने हिसाद घोर पापों का सेवन खूब पेट भर के यहाँ किया है; उसने अपने अति कलुष परिणामों द्वारा अति कलुष कर्म-रज या सूक्ष्म परमाणु अपनी आत्मा पर उसी क्षण चिपकाये हैं। जो स्थिति पकने पर वैसी ही कलुषतम रज जिस स्थान पर है उसी स्थान पर उस आत्मा को जन्म के रूप में बलात् खींच कर खड़ा कर देगी। वह भी क्षण-मात्र में, भले दूरी चाहे कितनी ही लम्बी क्यों न हो? महर्षियों की वाणी है—

‘वृक्षांश्छित्वा पशू हत्वा, कृत्वा रुधिर कर्दमम् ।

यद्येवं गम्यते स्वर्गं, नरके केन गम्यते ॥’

कर्मण अणुओं की, जो अद्यतन विज्ञान द्वारा शोधित अणुओं से भी अनन्त गुने अधिक सूक्ष्म एवं कार्यकारी होते हैं, अनन्त विचित्रताएँ हैं। यही परमाणु या तत्त्व जीव को स्वर्ग-नरकादि ताता स्थितियों में पूर्वसंचित कर्म-रज या अणुओं के

अनुसार अच्छी-बुरी तदनुरूप परिस्थिति में घसीट कर उपस्थित कर देता है। इसमें मूल हेतु आत्मा द्वारा स्व-अध्यवसायानुसार गृहीत ये परमाणु या कर्मरज हैं, न कि अन्य कुछ। यहाँ परमाणुओं की संगति एवं समरूपता, तद्रूपता विचारणीय है। 'लाइक एट्रेक्ट्स लाइक' (सदृश सदृश को आकर्षित करता है)।

इसी प्रकार जो आदमी सत्य, अहिंसा, क्षमा, करुणा, विनय, विवेक, सरलता, संयमादि गुणों को जीवन में धारण करता है, फलतः वह तदनुरूप सौम्य अणुओं को अपनी आत्मा में संलग्न करता है, जिसकी संगति स्वर्ग या परमोदार, वैभवशाली मानव-जन्म में होती है; अर्थात् वह उन शुभ अणुओं द्वारा उच्च, उच्चतर देव-मनुष्योचित सुखदायी स्थिति में स्वभावतया उपस्थित कर दिया जाता है। यह 'कॉस्मिक लॉ' या 'विश्व-विधान' है। इसमें मनगढ़न्त या कल्पना की उड़ान जैसी कोई बात या चीज नहीं है; न ही इसमें कोई मनुष्यकृत हथकंडे या ईर्ष्यालु कार्रवाई है।

दूसरी दृष्टि से भी देखा जाए तो स्वर्ग-नरकादि का होना न्यायसंगत है। हम देखते हैं कि एक मनुष्य तो हर तरह से सुखी और संपन्न है—सुस्वास्थ्य, तीव्र बुद्धि, सद्बिबेक, यथेष्ट अर्थ, पदाधिकार आदि से युक्त हरा-भरा जीवन जी रहा है; किन्तु दूसरा व्यक्ति (उसका ही सगा भाई या पड़ोसी) सर्व अभावों से पीड़ित है और दर-दर की ठोकें खाता है। जहाँ जाता है वहीं हताशा, वही असफलता। यहीं जब मानव-मानव के बीच इतनी बड़ी खाई हमारे सामने है; तब सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इससे भी कहीं अधिक सुख-दुःख की कोई भोगभूमि जरूर होनी चाहिये। अपार विश्व जो अगणित, अकल्प्य लीलाओं की नाट्य-शाला है, उसमें स्वर्ग, नरक, निगोदादि का होना, ऐसी स्थिति में, कोई आश्चर्य नहीं? अर्थात् स्वर्ग, नरक, निगोद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, तिर्यंच-पशु, पक्षी, मछली आदि योनियाँ सत्याधारित हैं; जीव की करनी के फल हैं। इसके सिवा अन्य कल्पना-जल्पना मात्र आत्म-प्रवंचन है, अपने-आपको धोखा देना है।

धर्म तो वस्तु-स्वभाव है—'वत्थु सहावो धम्मो'। 'आत्मा' ज्ञान, ध्यान, शम, दम, आदि असंख्य गुणों की खान है। महापुरुषों द्वारा प्रदर्शित साधना-मार्ग का सचाई और वफादारी से अनुसरण करने से 'आत्मा' में निहित 'सच्चिदानन्द' स्वरूप का पूर्ण विकास होता है और अन्ततः परमानन्दमय 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है; दूसरी ओर धर्म-साधना के अभाव में नरक, निगोद एवं एकेन्द्रियादि योनियों—जो अपने सामने नृत्य कर रही हैं—की हाज़िरी अनिवार्यतया उनकी बाट जोह रही है।

ऐसे मंगलमय धर्म का कोई व्यक्ति-विशेष यदि असदुपयोग करता है और उसकी ओट में कपट-जाल द्वारा जनता को मार्गभ्रष्ट करता है तो दोष यहाँ उस मायावी का है, न कि मंगलमय धर्म का। जैसे कोई चिकित्सक यदि रोगी

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४५

को सही दवा देने के बवले, पैसा ऐंठने के मतलब से गलत दवा देता है और रोग को लम्बान में डालता है तो इसमें दोष उस चिकित्सक-विशेष का है, न कि चिकित्सा-पद्धति या औषधि का। असल में धर्म की सर्वजन एवं प्राणिमात्र हितार्थता को समझने की जरूरत है।

—हरखचन्द बोथरा कलकत्ता

२. जैन पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

मई १९७८ के अंक में वर्षी सहजानन्दजी के जीवन के परिचय में, उसके लेखक प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन ने उनके साथ जैन पारिभाषिक शब्दों की अंग्रेजी में समानार्थक शब्दावली तैयार करने का उल्लेख किया है। यह प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक होने से स्तुत्य है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अंग्रेजी भाषा का महत्त्व एवं विस्तार बढ़ रहा है। प्रतिवर्ष जैनधर्म पर १५-२० पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित होती हैं। ऐसी स्थिति में, जैन पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी मानक शब्दों में एकरूपता रहनी चाहिये।

सन् १९३०-४० जैनधर्म पर प्रकाशित अंग्रेजी की पुस्तकों में 'सम्यक् दर्शन' के अंग्रेजी अनुवाद में 'राइट बिलीफ' और 'राइट फेद' दोनों का प्रचलन था। कहना न होगा, कि इनमें से 'राइट फेद' ही 'सम्यक् दर्शन' का अर्थसूचक होने से उपादेय है।

इसके लिए एक प्रामाणिक शब्दकोश के निर्माण की आवश्यकता है। इसकी पूर्ण तैयारी में ऐसी शब्दावली का प्रकाशन मार्गदर्शक तथा उपयोगी होगा। यदि 'तीर्थंकर' में प्रतिमास २-३ पृष्ठों में इस शब्दावली का प्रकाशन किया जाए, तो वह अंग्रेजी के ऐसे लेखकों तथा पाठकों के लिए बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

—केशरीमल जैन, शाजापुर

(पृष्ठ ४३ का शेष)

घिरा काँटों से चतुर्दिक्
हँस रहा फिर भी
नहीं चेहरे पर
कोई शिकन
नहीं इसको पता
कहते किसे मातम
नहीं शिकवा,
शिकायत भी नहीं कोई
भले ही शूल

इसको
दे रहे दिन-रात
तीखी-सी चुभन
इस फूल से कुछ सीखना
तुम धर्म अपना आज मानो
आदमी हो
आदमी की तरह
जीना जरा जानो ।

□

जैन विद्या : विकास-क्रम/कल, आज (६)

□ डॉ. राजाराम जैन

गुरुणां गुरु पूज्य पं. गणेशप्रसादजी वर्णी समस्त जैन समाज के हृदय-सम्राट माने जाते हैं। घर-घर में जैनधर्म का अलख जगाने के लिए उन्होंने जैन विद्यालय खोलने का नारा लगाया और देखते-देखते ग्रामों, नगरों एवं शहरों में सहस्रों की संख्या में पाठशालाएँ, विद्यालय एवं महाविद्यालय स्थापित हो गये। आज जो भी विद्वन्मंडली समाज में वर्तमान है, वह पं. गोपालदास बरैया एवं पं. गणेशप्रसाद वर्णी की दूरदृष्टि के कारण है। वर्णीजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। अन्य सेवाओं के साथ-साथ जिनवाणी-सेवा का कार्य प्रमुख मान कर उन्होंने कुन्दकुन्दकृत समयसार का गहन स्वाध्याय किया तथा यह निष्कर्ष निकाला कि समयसार ज्ञान-विज्ञान का अद्भूत विश्वकोश है। प्रत्येक मुमुक्षु को उसका स्वाध्याय करना चाहिये। उन्होंने स्वयं उसके चिन्तन-मनन के बाद भाष्य लिखा, जो अत्यन्त लोकोपयोगी सिद्ध हुआ। उनके अन्य सरस, मार्मिक एवं प्रेरणा प्रदान करने वाले ग्रन्थों में मेरी जीवन गाथा है। उनके प्रवचनों एवं आध्यात्मिक पत्रों के संकलन वर्णी-वाणी एवं वर्णी-पत्रावली के नाम से सुप्रसिद्ध हैं।

प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला (गोरा, उ.प्र. १९१७ ई.) जैन समाज की उन विभूतियों में से हैं, जिन्होंने मानव-कल्याण के लिए खोने में ही अधिक विश्वास किया है, पाने में नहीं। भारत-माता की परतन्त्रता की बेड़ी काटने के लिए गोरावाला ने परम्परा-प्राप्त समृद्धि खोयी, परिवार का विश्वास खोया, राष्ट्रीय संस्था (काशी विद्यापीठ) की सेवा के लिए सवैतनिक नौकरी छोड़ कर अवैतनिक सेवा स्वीकार की, और यदि हितैषीगण हस्तक्षेप न करते तो वे शायद बाल ब्रह्मचारी रह कर मानव-सेवा हेतु भ्रूत रमा कर बिहार करते रहते। शिवप्रसाद गुप्त, श्री श्री-प्रकाश, पं. गोविन्द वल्लभ पन्त, रफी अहमद किदवई, सम्पूर्णानन्द प्रभृति देश के बड़े-बड़े नेताओं के साथ घनिष्ठ सम्पर्क होने पर भी उन्होंने उनसे कभी कुछ चाहना नहीं की।

संस्कृत-प्राकृत भाषाओं एवं जैनधर्म-दर्शन में पण्डितजी की अबाध गति रही है। जैन संस्कृत साहित्य के भी वे भर्मी विद्वान् हैं। बरांगचरित काव्य एवं द्विसन्धान-काव्य का सर्वप्रथम सम्पादन-अनुवाद, खारखेल शिलालेख का हिन्दी अनुवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन उनके पाण्डित्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/४७

स्व. पं. परमेष्ठीदासजी (महरोनी, उ. प्र. १९०७-१९७८ ई.) जैन-समाज के सुधारवादी निर्भीक विद्वानों में अग्रगण्य रहे हैं। महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेकर उन्होंने अनेक बार जेल यात्राएँ कीं; किन्तु भारत के स्वतन्त्र होते ही वे जैन समाज के सुधारवादी आन्दोलनों में व्यस्त हो गये। उन्होंने जैन सिद्धान्तों एवं पुराणों का गहन अध्ययन कर यह सिद्ध किया कि मृतक-भोज, पर्दा-प्रथा, शूद्र-जलत्याग, दस्सापूजा-विरोध जैसी परम्पराएँ जैन शास्त्र विरोधी हैं। विजातीय एवं अन्तर्जातीय विवाहों को भी उन्होंने शास्त्र-विरोधी नहीं माना। एतद्विषयक अपने विचारों के समर्थन में उन्होंने जैन-साहित्य से संकलित प्रमाणों के आधार पर — (१) विजातीय विवाह-मीमांसा (२) मरण-भोज, (३) दस्साओं का पूजाधिकार जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया।

सन् १९४० ई. के पूर्व किसी रियासत ने अपने राज्य में दि. जैन मुनियों के विहार पर रोक लगा दी थी तब पं. परमेष्ठीदास ने महात्मा गांधी को सहमत कर मुनियों के दिगम्बरत्व पर उनका प्रशासनात्मक वक्तव्य प्रसारित कराया और ऐसा आन्दोलन किया कि रियासत को अपना कलंकपूर्ण आदेश वापिस लेना पड़ा था।

पाण्डितजी की उक्त सेवानिष्ठ प्रवृत्तियों का यह अर्थ नहीं कि उन्होंने जैन सिद्धान्त पर कोई कार्य ही नहीं किये। इस क्षेत्र में भी उनके अवदान विस्मृत नहीं किये जा सकते। एतद्विषयक उनके ग्रन्थों में चर्चासागर समीक्षा, ज्ञान विचार समीक्षा, पद्मनन्दी श्रावकाचार, परमेष्ठी पद्यावली, चारुदत्तचरित्र, सुधर्म श्रावकाचार नामक समीक्षात्मक मौलिक तथा अनूदित ग्रन्थों में समग्रसार, प्रवचनसार एवं मोक्षशास्त्र प्रसिद्ध हैं।

डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन (नरयावली, सागर, १९२१ ई.) नवीन पीढ़ी के ऐसे वरिष्ठ साहित्यकार एवं विचारक विद्वान् हैं जिनका जैनधर्म, दर्शन, साहित्य एवं व्याकरण जैसे-विषयों पर समानाधिकार है। वे अच्छे वक्ता एवं लेखक भी हैं। अपनी विद्वत्ता के कारण उन्हें इस वर्ष (१९७८ ई.) ऑल इंडिया ओरियण्टल कॉन्फेस के प्राकृत तथा जैनविद्या विभाग की अध्यक्षता करने का सम्मान मिला है। डॉ. जैन की अनेक कृतियों में अंग साहित्य के आधार पर मानव-व्यक्तित्व का विकास, श्रमण संस्कृति, संस्कृत गद्यकालिका नामक कृतियाँ सुप्रसिद्ध हैं।

जिनवाणी-सेवियों में मुनियों, आर्थिकाओं एवं ब्रतीजनों के पाण्डित्य का स्मरण भी अत्यावश्यक है। ऐसे महामति विद्वान् साधुओं में प्रातःस्मरणीय चरित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी (भोजगाँव, दक्षिण वि. सं. १९२९-२०१२) का नाम सर्वप्रमुख है। उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाचन से अनेक व्यक्ति विद्वान् बन गये तथा उनकी प्रेरणा से उन्होंने विविध जैन ग्रन्थों पर कार्य किये ऐसे अनेक विद्वानों में आचार्य चन्द्रसागरजी तथा कुन्धुसागरजी प्रमुख हैं। शौरसेनी जैनागमों के उद्धार एवं प्रकाशन में आपका आशीर्वाद ही प्रमुख कारण बना।

आचार्य कुन्धुसागरजी ने एक ओर साधु आचार के पालन में अपने समय एवं शक्ति का सदुपयोग किया, दूसरी ओर आपने लगभग ४० ग्रन्थों का सम्पादन

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/४८

लेखन एवं अनुवाद किया जिनमें से निम्न ग्रन्थ प्रमुख हैं:—(१) मोक्षमार्ग प्रदीप, (२) ज्ञानामृतसार (३) लघुबोधामृतसार, (५) निजात्मविशुद्धिभावना, (५) शान्तिसागर-चरित्र आदि ।

पूज्य उपाध्याय विद्यानन्दजी (शेडवाल, १९२५ ई.) वसुधैवकुटुम्बकम् के विश्वासी सन्त हैं। यही कारण है कि उनके प्रवचनों में कुछ ऐसी गूँज रहती है कि हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, हरिजन, दलित, पतित, दुःखी, सुखी, गरीब, अमीर, देशी, विदेशी सभी अपने-अपने मन की सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं। चाहे जैन मन्दिर हो, चाहे हिन्दू मन्दिर हो और चाहे मस्जिद, गुरुद्वारा, या गिरजाघर, मुनिश्री को सर्वत्र अपरिमित श्रद्धासिक्त सम्मान मिलता है। अपनी मधुर एवं कल्याणकारी प्रवचन-शैली के कारण हम उन्हें वर्तमानकालीन समन्तभद्र कहें या अकलंक; विद्यानन्द अथवा कलिकाल चक्रवर्ती हेमचन्द्र ? वे साधु-आचार में प्रमाद-विहीन, सरस्वती की उपासना में अखण्डरत विद्वानों के प्रति महद्दय, समाज के परम हितैषी तथा पथ-प्रदर्शक, कलम के धनी, दूरदृष्टा, एवं वाणी के जादूगर हैं। उनके व्यक्तित्व के चित्रण के लिए एक गहरी साधना तीक्ष्ण प्रतिभा एवं विराट व्यक्तित्व की आवश्यकता है। वीर निर्वाण भारती, ऋषभदेव संगीत-भारती, कुन्दकुन्द भारती शोध-संस्थान, वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति जैसी संस्थाएँ उनकी जिनवाणी के उद्धार सम्बन्धी भावनाओं की प्रतीक संस्थाएँ हैं। उनके द्वारा लिखित लगभग ३० ग्रन्थों में से विश्वधर्म की रूपरेखा, पिच्छा और कमण्डलु, कल्याणमुनि और सिकन्दर, समयसार, ईश्वर क्या और कहाँ है ? देव और पुरुषार्थ; आदि प्रमुख हैं।

अन्य विद्वान् मुनियों ने नेमिसागरजी (पठा, टीकमगढ़) कृत श्रावक धर्म दर्पण, हरिविलास, प्रतिष्ठासार-संग्रह तथा मुनि ज्ञानसागर (रातोली, जयपुर) ने लगभग २२ ग्रन्थों की रचना की जिनमें से निम्न प्रमुख हैं:—(१) दयोदय (धीवर कथा), भद्रोदय (सत्यधोषकथा), सुदर्शनोदय, जयोदय, वीरोदय, प्रवचनसार (हिन्दी-पद्यानुवाद), समयसार (हिन्दी-पद्यानुवाद), ऋषभभावतार, गुणसुन्दर वृत्तान्त, तत्त्वार्थसूत्र टीका, सच्चित्त-विवेचन, नियमसार, देवागम स्तोत्र, स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन धर्म ।

पण्डिताचार्य पूज्य चारुकीर्ति जी महाराज (मूडविद्री) से इन पंक्तियों के लेखक का परोक्ष परिचय सन् १९७५ से तथा साक्षात् परिचय सन् १९७६ से है। इस बीच में उनसे पर्याप्त पत्र-व्यवहार एवं साक्षात् विचार-विमर्श हुआ है। उन प्रसंगों में हमने अनुभव किया है कि जैन-समाज के उत्थान एवं जैनविद्या के प्रचार-प्रसार के लिए उनका समस्त जीवन समर्पित है। सत्त्वेषु भ्रष्टी गुणिषु प्रमोद...के वे साक्षात् प्रतिरूप हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों के उद्धार एवं प्रकाशन के लिए वे निरन्तर चिन्तित रहते हैं। इस महान् कार्य के लिए उन्होंने अपने अथक प्रयासों से श्रीमती

तीर्थकर : जन. फर. ७९/४९

रमारानी जैन शोध संस्थान, साहू शान्तिप्रसाद जैन भवन आदि संस्थाओं का निर्माण किया है। इन कार्यों की सफलता के लिए उन्होंने अपने गौरवशाली ऐतिहासिक जैनमठ (मूडबिद्री) की सारी शक्ति लगा देने का निश्चय किया है। मुझे विश्वास है कि पूज्य भट्टारकजी शोध-संगठन, संस्था-संचालन तथा विद्वानों को प्रेरित-आकर्षित करने सम्बन्धी अपनी अचिन्त्य क्षमता-शक्ति से जैनविद्या को योग्य दिशा प्रदान कर उसके आलोक से विश्व-विद्या-जगत् को प्रकाशित करेंगे। आपकी अनेक शोध-कृतियों एवं शोध-निबन्ध प्रकाशित हैं तथा विश्वास है कि आगे भी वे द्विगुणित शक्ति से शोधकार्यरत रहेंगे।

महिलाओं के क्षेत्र में

जैन विदुषी महिलाओं में ब्रह्म. चन्दाबाईजी, आरा; म. मगनबाई जी, बम्बई; प. सुमतिबाई शहा, शोलापुर; ब्रजबालाजी; पं. विद्युल्लता शाह आदि के नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। जैन महिला-समाज में जागृति लाने के लिए उन्होंने क्या-क्या त्याग नहीं किया? श्री जैन वाला-विश्राम, आरा; जैन महिलाश्रम, बम्बई; एवं श्राविकाश्रम, शोलापुर जैन समाज की ऐसी महिला विद्यापीठें हैं, जिनमें एक ओर जैन विदुषियाँ लगातार तैयार होती रहीं, जिन्होंने देश के कोने-कोने में जैन महिलाओं में शिक्षा का प्रचार किया, और दूसरी ओर जैन महिला दसं एवं सन्मति जैसी पत्रिकाएँ निकाल कर तथा जैन महिला-परिषद् की स्थापना कर नारी-जागरण के लिए अखण्ड शंखनाद किया। जैन इतिहास में इन महिलाओं के नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगे।

शंका-समाधान के क्षेत्र में

जैन समाज में अनेक ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने स्वाध्याय-प्रेमियों द्वारा उठायी गयी शंकाओं के समाधान तथा शास्त्र-सभाओं के माध्यम से जैनधर्म-दर्शन का ठोस प्रचार किया है। ऐसे महाविद्वानों में श्रद्धेय पं. बंसीधरजी, पं. खूबचन्द्रजी, पं. रतनचन्द्रजी मुञ्जार, पं. रतनलाल कटारिया, पं. भाणिकचन्द्रजी, पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं. अजितकुमारजी शास्त्री, पं. दयाचन्द्रजी शास्त्री ने शंका-समाधानों के माध्यम से आगमोल्लिखित अनेक तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया है। यह शंका-समाधान, प्रचलित साप्ताहिक या मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ है। क्या ही अच्छा हो कि उनका विषयवार संग्रह करके उन्हें ग्रंथाकार प्रकाशित किया जाए।

शास्त्रार्थ के क्षेत्र में

एक समय था, जब वैदिक विद्वानों ने जैन-साहित्य में वर्णित सर्वज्ञतावाद, अनेकान्तवाद तथा अवतारवाद के विरोधी सिद्धान्तों का पुरजोर खण्डन कर जैन विद्वानों के पाण्डित्य को चुनौतियाँ दी थीं; किन्तु विद्वानों ने इस क्षेत्र में भी उनकी चुनौतियों को स्वीकार कर अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया। इस दिशा में पं. गोपालदासजी बरैया, पं. मखनलालजी शास्त्री, पं. अजितकुमारजी शास्त्री, (मुल्तान), पं. राजेन्द्रकुमारजी (कासगंज), पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा पं. लालबहादुरजी शास्त्री के नाम प्रमुख हैं। (क्रमशः)

र्थिकर : जन. फर. ७९/५०

साधु-वाद एक नया स्तम्भ है, जिसका उद्देश्य है जैन साधु-साधिवियों की उन हिन्दी-रचनाओं का प्रकाशन जो प्रयोगधर्मी हैं और जिनका लक्ष्य अध्यात्म को नयी भाषा-भंगिमा में प्रस्तुत करना है। यहाँ हम दिगम्बर जैनाचार्य मुनिश्री विद्या-सागरजी की कतिपय रचनाएँ दे रहे हैं, जिनकी वस्तु जैनाध्यात्म है, शैली समस्त-पदी है, किन्तु संभावनाएँ अनगिन हैं। हमें आशा है हमारे प्रिय-प्रबुद्ध पाठक इसे पसन्द करेंगे और अपनी कड़वी-भीठी प्रतिक्रिया अवश्य लिख भेजेंगे। —संपादक

पुरुष नहीं बोलेंगे मौन नहीं खोलेंगे

समता से मम ममता
जबसे तबसे क्षमता
अनन्त ज्वलन्त प्रकटी
प्रमाद-प्रमदा पलटी ॥
कुछ-कुछ रिपुता रखती
रहती मुझको लखती
अरुचिकर दृष्टि ऐसी
प्रेमी आप प्रेयसी ॥
मैं प्रेम-क्षेम अब तक
चला, किन्तु यह कब तक ?
मेरा साथ है नाथ
होगा विश्वासवात ॥
मुझ पर हुआ पविषात
कि आपाद माथ गात
विकल पीड़ित दिनरात
चेतन जड़ एक साथ ॥
प्रमाद के ये साने
व्यंग्य सुन समता ने
मौन मुझ जब लख कर
चिढ़ कर सुनकर मुड़कर ॥
उस ओर मौन तोड़ा
विवाद से मन जोड़ा
पुरुष नहीं बोलेंगे
मौन नहीं खोलेंगे ॥
अब चिरकाल अकेली
पुरुष के साथ केली

करूंगी, खुश करूंगी
उन्हें जीवित नित लखूंगी ॥
पिला-पिला अमृत-धार ।
मिला-मिला सस्मित प्यार ॥

संप्रति अवश्य गुंगा

जलद की कुछ पीतिमा
मिश्रित सघन नीलिमा
घोर तरुण अरुण भाति
बोध-रवि मिटा भ्रान्ति ॥
हुआ जब से वह उदित
खिली लहलहा प्रमुदित
संचेतना सरोजिनी
मोदिनी मनमोहिनी ॥
उद्योत इन्दु प्रभु सिन्धु
खद्योत में लघु बिन्दु
तुम जानते सकल को
मैं स्व-पर के शकल को ॥
मैं पराश्रित, निजाश्रित
तुम हो, पर तुम आश्रित
हो, यह रहस्य संधा
संप्रति अवश्य गुंगा ॥
ज्ञात तथ्य सत्य हुआ
जीवन कृत-कृत्य हुआ
हुआ आनन्द अपार
हुआ वसन्त संचार ॥
फलतः परितः प्लावित
पुलकित पुष्पित फुल्लित
मृदुमय चेतन लतिकार
गा रही गुण गीतिका ॥

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/५१

ये कुछ नये मन्दिर, नये उपासरे

पिछले दिनों मुझे अनेक-अनेक संदर्भों में कुछ सामाजिक यात्राएँ करनी पड़ीं, जिनमें ऐसा कुछ देखने को मिला जिसकी मुझे कई वर्षों से प्रतीक्षा थी। मुझे लगा कि जहाँ एक ओर परम्पराएँ संगमरमर या कंकरीट के आलीशान मंदिर और उपासरे खड़े करने में मशगूल हैं, वहीं दूसरी ओर उत्साही और तर्कसंगत युवा-शक्ति मानव-मेवा और लोकमंगल के नये मंदिर और उपासथय घड़ रही है—जहाँ वस्तुतः किसी इमारत या भवन का होना उतना प्रासंगिक नहीं है जितना जरूरी है सेवा, सांस्कृतिक जागरूकता, और निष्ठा।

इस दृष्टि से मेरी प्रथम यात्रा ७ मई १९७८ को शाजापुर जिले (मध्यप्रदेश) के एक बहुत छोटे गाँव हरकी की हुई। हरकी एक बलाई-बहुल गाँव है, बेरछा स्टेशन के काफी करीब। यहाँ बीकानेर (राजस्थान) स्थित अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैनसंघ ने एक उल्लेखनीय समाजसेवा का काम शुरू किया है। आचार्य श्री नानालालजी की स्वस्तिकर प्रेरणा से संघवर्ती शक्तियों ने बलाइयों के जीवन में रुचि ली है अर्थात् उन्हें एक नये सांस्कृतिक, सामाजिक एवं नैतिक अभ्युत्थान देने का मुदूढ़ संकल्प किया है। इस संकल्प की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसके पीछे न तो संघ का कोई स्वार्थ है, और न ही कोई शर्त। इसे धर्मपाल-प्रवृत्ति का नाम दिया गया है, जिसके माध्यम से छुआछूत को एक ओर धकेल कर “मानव को मानव मानने” के मंत्रोच्चार का सूत्रपात किया गया है। इस प्रवृत्ति को देखकर प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने पहली बार महसूस किया कि महावीर की क्रान्ति पुनः अंगड़ाई ले रही है, और जैनों ने उस काम को हाथ में लिया है जो अहिंसक क्रान्ति का मेरुदण्ड बन सकता है। एक महत्त्व की बात जो इस क्रान्ति-करवट में दिखायी दी है वह यह कि इसके किसी भी स्तर पर पैसा प्रथम नहीं है। फिलहाल उक्त प्रवृत्ति मध्यप्रदेश के शाजापुर, उज्जैन और रतलाम जिलों में सफलतापूर्वक चल रही है, किन्तु आशा है कि जल्दी ही इसका मुखद विस्तार होगा और इसकी निष्काम-निःस्वार्थ सेवाएँ सुदूरवर्ती गाँवों तक फैल जाएँगी। मानव मुनि, संत विनोबा ने उन्हें यही नाम दिया है, इस प्रेरणा की पृष्ठभूमि पर मोन-मूक सेवक की तरह निरन्तर कार्यरत हैं और इसे अधिक अन्तर्मुख तथा उपयोगी शकल देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दूसरी यात्रा जनवरी १९७९ की है। १४ जनवरी को मध्यप्रदेश के एक कस्बाई नगर दमोह में स्व. भागचन्द इटोरया सार्वजनिक न्यास के तत्वावधान में स्व. भागचन्द इटोरया की तृतीय पुण्यतिथि मनायी गयी, जिसमें अंधी-रूढ़ परम्पराओं को ताक में रखकर मानव-सेवा को प्रथम स्थान दिया गया। अपने इस उदार और

सौथंकर : जन. फर. ७९/५२

सफल आयोजन में न्यास ने स्व. ब्र. सीतलप्रसादजी, क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णा, तथा पं. परमेश्वरीदासजी जैसी क्रान्तिकारी विभूतियों को भी प्रणाम किया और उनके क्रान्तिसूत्रों को दोहराया। सारा बल आनेवाली सामाजिक क्रान्ति को परिभाषित करने पर ही दिया गया। इटोरया न्यास का स्वरूप यद्यपि पारिवारिक है तथापि उसकी गतिविधियाँ और सेवाएँ सार्वजनिक हैं और लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों पर केन्द्रित हैं। युवा प्रतिभाओं का अभिनन्दन, राष्ट्रीय और सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान करने वाले साहित्य का प्रकाशन तथा नवसामाजिक उत्थान में रुचि न्यास के कुछ निर्धारित लक्ष्य हैं। सुखद यह है कि न्यास के पास एक अच्छी प्रगतिशील टीम है, जो नित नयी सांस्कृतिक पगडंडियाँ तलाशती है और कंधे-से-कंधा लगाकर काम करती है। इस टीम के प्रमुख हैं—डा. भागचन्द्र 'भागेन्दु' तथा वीरेन्द्रकुमार इटोरया।

तीसरी यात्रा का सम्बन्ध जयपुर (राजस्थान) से है। यह २२ जनवरी को हुई। सिलसिला एक १४ वें वर्षीय वयोवृद्ध 'आचार्य संस्कृत महाविद्यालय' के अमृत-महोत्सव का था, किन्तु इस नाते जयपुर की अन्यान्य रचनात्मक प्रवृत्तियों को देखने का अवसर भी प्राप्त हुआ। पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ के पुण्यस्मरण में आयोजित एक संगोष्ठी, जिसमें एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी भी उपस्थित थे, और जिसमें जैन समाज के अनेक वयोवृद्ध पण्डित भी पधारे थे, में समाज की उन शिक्षण-संस्थाओं का उल्लेख भी हुआ जिनकी घड़कनें बन्द होने को हैं, और जो अब लगभग अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रही हैं। शिक्षण-संस्थाओं की इस गिरती हुई स्थिति के प्रति प्रायः सभी चिन्तित थे, किन्तु निरुपाय, हताश, उदासीन; पता नहीं परिणाम क्या होगा; किन्तु पं. चैनसुखदासजी की स्मृति में संपन्न इन गोष्ठी-सत्रों में यदि इन संस्थाओं के पुनरुद्धार की कोई योजना नहीं बन सकी तो फिर नाव में बड़ा सुराख हो जाएगा और उसका डूबना काफी असंदिग्ध हो जाएगा। इन सत्रों में, विशेषतः जयपुर विश्वविद्यालय के जैन अनुशीलन केन्द्र के तत्त्वावधान में आयोजित सत्र में, दो चिन्ताएँ सामने आयीं—(१) भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-वर्ष के दौरान स्थापित जैनविद्या तथा प्राकृत अध्ययन-अनुसंधान पीठों को संभाला जाए और उन्हें इस तरह समर्थ बनाया जाए कि वे भारत की प्राचीन भाषाओं के अध्ययन, तथा जैनधर्म के अनुसंधान इत्यादि में पूरी रुचि ले सकें। इन पीठों के लिए छात्र भी उपलब्ध कराये जाएँ तथा शिक्षा के क्षेत्र में हुए नवोन्मेष के अनुरूप पाठ्य पुस्तकें भी तैयार करायी जाएँ; (२) पण्डितवर्ग यानी जैन विद्वद्गण अपना दायित्व समझे और बावजूद आर्थिक कठिनाइयों के समस्याओं से अपने स्तर पर जूझे और अत्यन्त स्वाभिमानपूर्वक नये शैक्षणिक परिवर्तनों की अगवानी करे। इस दृष्टि से यदि स्व. पंडित टोडरमलजी-जैसे महान् गणितज्ञ की इस नगरी की कोख से यदि कोई शैक्षिक क्रान्ति अंगड़ाई लेकर सारे देश की जैन शिक्षण-संस्थाओं का द्वार खटखटाती है तो उक्त अनयोजन की इससे बड़ी सफलता

तीर्थकर : जन. फर. ७९/५३

अन्य कोई हो नहीं सकेगी, किन्तु प्रश्न पहल का है, और मैं इस संदर्भ में तीन स्थानों की ओर टकटकी लगाये हूँ—सागर, जयपुर, इन्दौर।

जयपुर की ३ और ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जिन पर समस्त जैन समाज गर्व कर सकता है और जिन्हें देश-प्रदेश का युवावर्ग अपना सकता है; ये हैं—श्री महावीर विकलांग सेवा केन्द्र, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, तथा पं. टोडरमल स्मारक।

विकलांग सेवा केन्द्र भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव की उपज है, और भले ही उक्त संदर्भ में जनमीं अन्य संस्थाएँ इतनी जल्दी गिर या डूब गयी हैं, किन्तु यह अभी सक्रिय है और अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है। उक्त संस्थान ने मानव-सेवा को एक नया आयाम दिया है और बिना किसी भेदभाव के अब तक सारे देश से आये २१०० विकलांगों की निःशुल्क-निष्काम सेवाएँ की हैं। बिना किसी प्रचार-प्रसार के मौन काम करने वाले इस संस्थान के पास भी युवा कार्यकर्त्ताओं का एक अच्छा दल है, जिसके प्रमुख हैं—डा. सेठी, डी.आर.मेहता और श्रीविनयकुमार।

दूसरी संख्या है राजस्थान प्राकृत भारती जिसने प्राकृत भाषा और साहित्य के उद्धार का महान् कार्य हाथ में लिया है, कुछ अभिनव संकल्प किये हैं, और जो समर्थ हाथों में सक्रिय हैं। संस्थान ने अब तक दो प्रकाशन किये हैं, छह मुद्रणाधीन हैं और लगभग इतने ही अनुबंधित हैं। उसका अपना एक विकासोन्मुख ग्रन्थालय है, और जो एक ऐसा विद्याकेन्द्र स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध है जो अनुसंधान तथा अध्ययन की एक ऐतिहासिक आसदी सिद्ध हो सकेगा। श्री विनयसागरजी इसकी रीढ़ हैं और डा. डी.आर.मेहता स्नायुतंत्र। मैं इसकी योजनाओं के प्रति काफी आशान्वित हूँ।

तीसरी संस्था स्व. टोडरमलजी के नाम से जुड़ी हुई है जिसे श्री कानजी स्वामी का शुभाशीष प्राप्त है और जो डा. ज्ञानचन्द्र भारिल्ल के मार्गदर्शन में अपने उज्ज्वल भविष्य को तलाश रही है। इसका अपना एक विद्यालय है, जो परम्पारित 'पैटर्न' पर नया काम करना चाहता है। एक अत्यन्त उदार धरातल पर इससे भी अनेक आशाएँ की जानी चाहिये। ऐसी संस्थाओं का खतरा एक ही रहता है कि वे समय के साथ रूढ़ और अंधी हो जाती हैं, किन्तु हमें विश्वास करना चाहिये कि उक्त संस्था रूढ़ नहीं होगी और अपने कार्यक्रमों तथा अपनी योजनाओं को जैनविद्या की प्रखरताओं से मूलबद्ध करेगी।

□ □

मैं उस भावी की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जिसमें नये मंदिर और उपासकों का स्थान उक्त प्रवृत्तियाँ ग्रहण कर लेंगी। क्या हम अपने मंदिरों और उपासकों को जैनविद्या की उज्ज्वलताओं और प्रखरताओं से जोड़ने में हिचकिचायेंगे? शायद नहीं, कम-से-कम युवावर्ग कदापि नहीं, और कभी नहीं।

—नेमीचन्द्र जैन

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/५४

कसौटी

इस स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षार्थ पुस्तक अथवा पत्र-पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजना आवश्यक है।

स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत अंक में हम कोई समीक्षा प्रकाशित नहीं कर रहे हैं, किन्तु नीचे जिन पुस्तकों के नाम दे रहे हैं, उनकी समीक्षाएँ हम मार्च तथा अप्रैल के अंकों में प्रकाशित करेंगे।

—संपादक

सद्युतस्वस्फोट (अंग्रेजी) : मूल-अमृतचन्द्र सूरि, संपादन-पद्मनाभ जैनी; लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद ३८०-००९ (एल. डी. इस्टोर्ट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी); मूल्य-पचास रुपये; पृष्ठ-४० + २५८; राँयल-१९७८।

रत्नचूड़ रास (गुजराती) : संपादन-डॉ. हरिवल्लभ भायाणी; वही; मूल्य-चार रुपये बीस पैसे; पृष्ठ-२० + ५५ राँयल-१९७७।

शृंगारभंजरी (गुजराती) : मूल-जयवंत सूरि, संपादन-कनुभाई ब्र. शेट; वही; मूल्य-तीस रुपये; पृष्ठ-६४ + २३२; राँयल-१९७८।

श्रमण ट्रेडीशन इट्स हिस्ट्री एण्ड कान्टिब्यूशन टु इंडियन कल्चर (अंग्रेजी) : डॉ. जी. सी. पाण्डे; वही; मूल्य-बीस रुपये; पृष्ठ-१० + ७६; राँयल १९७८।

न्यायमञ्जरी (गुजराती) : मूल-जयन्त भट्ट; संपादन-अनुवाद-नगीन जी. शाह; वही; मूल्य-बीस रुपये; पृष्ठ-१० + १९०; राँयल १९७८।

प्रद्युम्नकुमार चुपई (गुजराती) : मूल-वाचक कमल शेखर, संपादन-महेन्द्र बा. शाह; वही; मूल्य-आठ रुपये नब्बे पैसे; पृष्ठ ९० + ९४; राँयल १९७८।

ट्रेजर्स ऑफ जैना भण्डासं (अंग्रेजी) : संपा. उमाकान्त पी. शाह; ; वही; मूल्य-दो सौ पचास रुपये; पृष्ठ-६० + १००; डिमाई-१९७८।

प्राकृत स्टडीज प्रोसीडिंग्स ऑफ द सेमिनार १९७३ : संपा. के. आर. चन्द्र; वही; मूल्य-चालीस रुपये; पृष्ठ-३२ + १८४; राँयल-१९७८।

सूयगडंगमुत्तं (सूत्रकृताङ्गसूत्रम्) : संपा. मुनि जम्बू विजय; श्री महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई-४००-०३६; मूल्य-चालीस रुपये; पृष्ठ-८२ + ३७६; राँयल-१९७८।

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/५५

कुवलय मालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन : डा. प्रेमसुमन जैन; प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, नैशाली (बिहार); मूल्य-उल्लेख नहीं; पृष्ठ-२०+४९६; राईल-१९७५ ।

धर्म के दशलक्षण : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (भावनगर), गुजरात; मूल्य-पाँच रुपये; पृष्ठ-१८८; डिमाई-१९७८ ।

सम्मदसुतं : मूल-आचार्य सिद्धसेन, संपा.-डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री; ज्ञानोदय ग्रंथ प्रकाशन, नीमच (म. प्र.); मूल्य-बीस रुपये; पृष्ठ-३०+१९०; डिमाई-१९७८ ।

सन्मतिसूत्र : मूल-आचार्य सिद्धसेन, संपा.-देवेन्द्रकुमार शास्त्री; श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति; ४८ सीतलाभारता बाजार, इन्दौर-२ (म. प्र.); मूल्य-पन्द्रह रुपये; पृष्ठ-१०+१७०; डिमाई-१९७८ ।

कालजयः (खण्ड-काव्य) : भवानीप्रसाद मिश्र; भारतीय साहित्य प्रकाशन, २८६, चाणक्यपुरी, सदर मेरठ-१; मूल्य-बारह रुपये पचास पैसे; पृष्ठ-१०४; डिमाई-१९७८ ।

मल्हार (कविता) : राजकुमारी बेगानी; प्रमीला जैन, २१४ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता-७; मूल्य-उल्लेख नहीं; पृष्ठ-४०; डिमाई-१९७८ ।

जैन आयुर्वेद साहित्य की परम्परा : डॉ. तेजसिंह गौड़; अर्चना प्रकाशन, छोटा बाजार, उन्हेल (उज्जैन); मूल्य-दस रुपये; पृष्ठ-११२; क्राउन-१९७८ ।

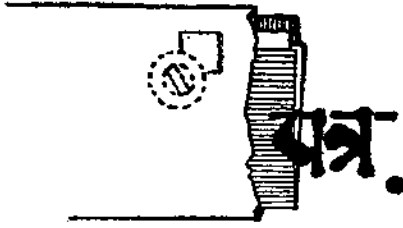
अपने स्वर-अपने गीत : महेन्द्र मुनि 'कमल'; श्री शीतल जैन साहित्य सदन, मांडलगढ़ (भीलवाड़ा); मूल्य-उल्लेख नहीं; पृष्ठ-१७२; क्राउन-१९७८ ।

परीलोक (बालोपयोगी कहानी-संग्रह) : मुनि सुमेरमल; गतिमान प्रकाशन, १२३७, रास्ता अजबधर, जयपुर-३०२००३; मूल्य-दो रुपये पचास पैसे; पृष्ठ-९२; क्राउन - १९७८ ।

बुद्धिलोक (बालोपयोगी कहानी-संग्रह) : मुनि सुमेरमल; वही; दो रुपये पचास पैसे; पृष्ठ-१०८; क्राउन-१९७८ ।

पदम-शतक (भजन-संग्रह) : पदमचन्द जैन 'भगतजी', पदम प्रकाश (एक्सपोर्ट्स एण्ड सेल्स) प्रा. लिमि., त्रिपी बिल्डिंग, आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००२; मूल्य-उल्लेख नहीं; पृष्ठ-१०४; क्राउन-१९७९ ।

श्रीमद्भगवद्गीता (मालवी-अनुवाद) : निरंजन जमींदार, गीता समिति प्रकाशन, बड़ा रावला, जूनी इन्दौर, इन्दौर ४५२००४; मूल्य-दो रुपये पचास पैसे; पृष्ठ-१२२; पॉकेट-१९७८ । □



‘श्री नैनागिरि तीर्थ एवं आचार्य विद्यासागर-
विशेषांक’ से संबंधित पत्रों के मुख्यांश

प्रसन्नता की अनुभूति

विशेषांक के संपादकीय लेख में आपने
साधु की जो परिभाषा दी है उससे खूब
आनन्द हुआ।

अप्रमत्त साधक आचार्यश्री विद्या-
सागरजी का परिचय पढ़कर ख़ास प्रसन्नता
अनुभव हुई।

—मुक्ति अमरेन्द्रविजय, होण्ड (गुजरात)

विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण

इस युग के आदर्श, दिगम्बर, ३३
वर्षीय तपस्वी महान् मन्त आचार्य विद्या-
सागरजी की विशुद्ध आध्यात्मिक साधना के
प्रति श्रद्धा प्रकट करने के उद्देश्य से प्रस्तुत
प्रकाशित किया गया है। अंक में सुरेश जैन
द्वारा लिखित नैनागिरि मिद्धक्षेत्र का ऐति-
हासिक परिचय एवं वर्तमान वैभव का
मनोरम वर्णन भी दिया गया है। डा. नेमी-
चन्द्र जैन का ‘भेंट, एक भेदविज्ञानी से’, पं.
कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य का ‘णमो
योग सच्च साहूण’, नीरज जैन का ‘एक
और विद्यानन्दि’, अजित जैन का ‘युवा पीढ़ी
का ध्रुवतारा’ आदि रचनायें आचार्यश्री
पर महत्त्वपूर्ण हैं। संपादक बन्धुओं की अपनी
प्रतिभा, परिश्रम और संपादन-शैली की
विशेषता के फलस्वरूप यह ऐसा विशेषांक
है, जिसे पढ़कर भौतिक चमत्कारों में लुब्ध
आज की युवा पीढ़ी आचार्यश्री के माध्यम
से महज ही आध्यात्मिकता की ओर आक-
र्षित हुए बिना नहीं रहेगी।

—सन्मति-बाणी, इन्दौर, जनवरी '७८

स्तुत्य एवं प्रेरक

विशेषांक विषयानुकूल उपयोगी एवं
सुन्दर है। तीर्थकर ने आचार्य विद्यासागरजी
के साहित्य एवं जीवन पर प्रकाश डालने
का स्तुत्य एवं प्रेरक कार्य किया है।

—अहिंसा-संदेश, रांची, दिस. ७८

पठनीय

विशेषांक बहुत सुन्दर है। पठनीय
सामग्री बहुत है। —सतीश जैन, दिल्ली

सुव्यवस्थित

इतने परिच्छन्न व सुव्यवस्थित रूप से
यह विशेषांक प्रकाशित हुआ है कि इसके
लिए जितना साधुवाद दिया जाय वह कम
ही है। संपादकीय तो अवश्य ही देखा।
वह आपके बौद्धिक विचारों का, आपके
मर्मस्व निष्ठावर का कविता-रूप है।

‘मोक्ष आज भी संभव है’ इसे मैं भी
स्वीकारता हूँ। जो निज को मुक्त मन में
कर सकता है, वह मुक्त है, केवल वाक्य
में नहीं अपने साविक अस्तित्व से।

—गणेश ललवानी, कलकत्ता

आशा के अनुरूप

यह विशेषांक एक ऐसे शुभ्र जलज के
चारों ओर मंडरा रहा है, जिसके मधुर
मकरन्द में मतःप्राण भीग-भीग उठे हैं।
मव कृष्ण पावन है, परम है, लुभावन है,
आशा के अनुरूप है। उन लेखों ने हृदय को
इतना अभिभूत कर डाला कि संपादकीय
तो बौद्धिक स्तर पर नैरता ही रह गया।

ब्राह्मक विद्याधर को देखकर लगा जैसे
उसके हृदय में अनायाम ही करुणा का कोई
ऐसा अबल स्रोत फूट पड़ा है, जिसे बूझने में
सारी दैहिक क्रियाएँ ही निस्पन्द हो गयी हैं,
भले ही उसमें कोई आचार्य पद्मासन लगाए
न बैठे हो, किन्तु एक महती विराट् शक्ति
आकृति लेने को व्याकुल है।

तीर्थकर : जन. फर. ७९/५७

इस विशेषांक ने उस महामुनि के दर्शनों की एक ऐसी प्रबल आकांक्षा प्रस्फुटित कर दी है कि जिसे शायद पुण्य ही झेल सकता है।

—राजकुमारी बेगानी, कलकत्ता
परियोजना प्रशंसनीय

विशेषांक में श्री नैनागिरि तीर्थ एवं आचार्य विद्यासागरजी के विषय में सार-गर्भित सामग्री दी है। आपकी विशेषांकों की परियोजना अत्यन्त ही प्रशंसनीय है। वैसे यह आपके परिश्रम का साफल्य उदाहरण है। —श्रेयांस प्रसाद जैन, बम्बई

स्तर के अनुरूप

पूर्व विशेषांकों की तरह यह भी पत्रिका के स्तर के अनुरूप ही है। संपादकीय, पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री के लेख साधु के आचार पर विचार करने को आमंत्रित करते हैं। डॉ. राजाराम जैन का जैनविद्या-विषयक शोधपूर्ण धारावाही लेख अत्यन्त सराहनीय है। पृ. ८९, पंक्ति २० में 'पावा-निर्णय' की जगह 'पावा-समीक्षा' होनी चाहिये।

—कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

सामग्री से भरपूर

व्यक्तियों के नाम विशेषांक का प्रकाशन आपकी एक विशेषता हो गयी है। विशेष व्यक्ति के परिचय देने में आपकी कुशलता तो प्रकट होती ही है और इसमें नित्यनूतन आप रहते हैं, यह स्पष्ट है। अंक आपकी प्रणाली के अनुसार बहुत अच्छा और पठन-सामग्री से भरपूर है।

—इलसुख मालवनिगा, अहमदाबाद

एक सुझाव

विशेषांक पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसा कि मैंने पहले भी सुझाव दिया था; पुनः आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूँ कि कृपया 'तीर्थकर' में आचार्यश्री विद्यासागरजी के समाचार अवश्य छापीं।

—श्रीमती हीरामणि छाबड़ा, कलकत्ता

बहुत सुन्दर

विशेषांक बहुत सुन्दर निकला है—हर लेख पढ़ गया। तुम्हारे दोनों लेख पढ़कर मन विभोर हो गया।—वीरेन्द्रकुमार जैन, बम्बई
उच्चकोटि का, नयनाभिराम

प्रस्तुत विशेषांक नयनाभिराम तो है ही, उसका मसाला भी उच्च कोटि का और पठनीय है। संपादकीय शैली तो कमाल की है जो कहीं भी अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। महावीरप्रसाद द्विवेदी और वियोगी हरि शैली की भाँति एक और शैली उदय में आयी है, जो डा. नेमीचन्द्र शैली के नाम से शोहरत पायेगी। 'सरल'जी का 'संप्रदाय' (व्यंग लेख) अद्भुत है। नरेन्द्र प्रकाशजी भी लाजवाब हैं। वे एक कवि भी हैं, मालूम न था। अनेक भावपूर्ण मुद्राओं में आचार्यश्री के चित्र विशेषांक में चार चांद लगा रहे हैं। उनकी बालावस्था का चित्र प्राप्त करके पत्रकारिता को सार्थक बना दिया गया है। डा. राजाराम जैन की 'जैन विद्या : विकास-क्रम / कल, आज' एक ऐसी सिरीज है, जो साहित्यशोधी के लिए अनमोल है। एक विशेषांक एकसपट के रूप में आपका अभिवादन करता हुआ आपको बधाई देता है। —प्रतापचन्द्र जैन, आगरा

लाजवाब

विशेषांक छोटा होते हुए भी नयनाभिराम, स्तरीय और उपयोगी है। सामग्री अथ से इति तक पढ़ने योग्य है।

मोक्ष-तत्त्व पर आचार्यश्री का प्रवचन हृदयग्राही है। उनके अन्य प्रवचनों का भी यदि केस्सेट से आलेखन-संपादन कराया जा सके तथा 'तीर्थकर' के आगामी अंकों में समय-समय पर उनका प्रकाशन होता रहे, तो जैन-जगत् में इसका भारी स्वागत होगा।

आपके इष्टरव्यु से दिव्यव्यक्ति के सम्बन्ध में एक नयी दृष्टि, नयी अनुभूति मिली है। अंक में और भी बहुत-कुछ नया है। अंक आचार्यश्री की तरह ही लाजवाब है। बधाई! —नरेन्द्र प्रकाश जैन, फीरोजाबाद

तीर्थकर : जन. फर. ७९/५८

मील का पत्थर

विशेषांक पढ़ने बैठा तो तब छोड़ा जब पढ़ने को कुछ भी शेष नहीं बचा जैन पत्र-कारिता के क्षेत्र में इस विशेषांक को मैं 'मील का पत्थर' मानता हूँ।

संपादकीय पढ़ा तो 'साधुओं को नमस्कार' के लेखक के प्रति सिर बन्दना के भाव से बार-बार अपने-आप झुक-झुक गया। 'साधु एक खुली किताब है', 'वह एक जीवन्त शास्त्र है।' 'चारित्र लिपि का उपयोग हुआ है।' सच्चे साधु का इससे-भरल, सीधा किन्तु सटीक वर्णन अन्य कहीं भी शब्दों में कदाचित् संभव न होता। लिपियाँ बहुत पढ़ी-सुनी हैं, पर साधुके मंदर्भ में 'चारित्र लिपि' का प्रयोग अत्यन्त भार्यक है। 'लिपि' निश्चित, सुस्थिर और प्रकट होती है। उसमें छद्म की गुंजाइश नहीं होती। 'खुली किताब' की 'चारित्र लिपि' तो आकाश की तरह सदैव सबके द्वारा पढ़ी जा सकती है। और जब भी कोई पढ़ेगा तभी उनके चरणों में 'सर्वोत्सर्ग' के सहज भाव से समर्पित हो जायेगा।

सन् १९४६ के आसपास की बात है। उन दिनों बम्बई में अंग्रेजी में प्रकाशित होनेवाले 'फ्री प्रेस जर्नल' का संपादन श्री सदानन्द करते थे। उनके संपादकीय लेख पढ़कर जैसी आनन्दानुभूति होती थी, वैसी ही, बल्कि हिन्दी में होने के कारण कुछ अधिक ही 'साधुओं को नमस्कार' पढ़कर हुई। ऐसे मौलिक और अर्थ-प्रणव संपादकीय के लिए मेरी अनेकानेक बधाइयाँ!

'भेंट, एक भेदविज्ञानी से' के रूप में पाठकों को ऐसी भेंट आपने भेंट दी है जिसे वे अपने अन्तरतम में सम्भाल कर रखेंगे। 'मोक्ष आज भी संभव' से बहुत बड़ी आशा बंधती है। पं. कैलाशचन्द्रजी का लेख 'णमो लोए सञ्जसाहण' आम आदमी की तरफ से खास आदमी द्वारा लिखा गया लेख है। और 'णमोकारमंत्र' के इस पद से जिन्हें विरक्ति हुई हो, उन्हें बहुत सीधा सच्चा नुस्खा उन्होंने तजवीज किया है।

विशेषांक की सभी सामग्री बहुत-बहुत मूल्यवान है। सच मानिए, विशेषांक के संबन्ध में मेरे जैसे अल्पज्ञ के लिए 'लिखने' को उतना नहीं है, जितना 'लखने' के लिए है। मैं उसे बारम्बार लखता रहूँगा। लाखों में एक है वह! —पूरनचन्द जैन, गुना

अनमोल खजाना

'तीर्थंकर' का 'विद्यासागर-विशेषांक' आपने क्या दिया है, एक अनमोल खजाना ही मेरे हाथ में दे दिया है। प्रसन्नता है कि 'तीर्थंकर' दिन-दिन अपने रूप में निखार ला रहा है। विशेषांक में प्रकाशित चित्र, आचार्यश्री विषयक लेख और मुलाकातों भावविभोर कर देती हैं। बड़ा प्रभावित हुआ हूँ, इस अंक से। रोज घंटों इस अंक को देखा करता हूँ, पढ़ा करता हूँ और भाव-विभोर हो जाता हूँ। मुनिश्री का प्रवचन मन को छुनेवाला है। आचार्य शान्ति-सागरजी के समान ही यह व्यक्तित्व-साधुत्व-है। मैं उस दिनभी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जो मुझे इस महापुरुष के दर्शन करा सके।

विशेषांक के लिए आपने इतना सुन्दर, श्लाघनीय और श्रद्धा भक्तिमय कार्य किया है। —बसन्तीलाल जैन, राणापुर

बहुत महत्त्वपूर्ण

विशेषांक पढ़कर बहुत खुशी हुई। 'तीर्थंकर' में जैन साधुओं का उनके जीवन का महत्त्व बताया है। साधुओं की आज की स्थिति पर ही बहुत अच्छा प्रकटन किया है। आचार्य विद्यासागरजी महाराज के जीवन के हर पहलू का दर्शन इस विशेषांक में होता है। इसलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

—पं. मुमतिबाई शहा, सोलापुर

अच्छी सामग्री

विशेषांक पूरा पढ़ गया हूँ। उसकी सभी सामग्री अच्छी है। पत्र का स्तर उन्नत बनाने में आप दोनों हृदय से बधाई-योग्य हैं।

—डॉ. दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

तीर्थंकर : जन. फर. ७९/५९

दिग्विजय

लगता है आप विशेषांकों की दिग्विजय में निकले हैं। अभिनन्दन !

—गुणवन्त अ. शाह, बम्बई

अनुपम

विशेषांक सभी दृष्टि से अनुपम है। मुखपृष्ठ हृदय को छूता-सा लगा। प्रस्तुतीकरण भेंट-वार्ता का तथा नैनागिर की यात्रा का अत्यन्त आकर्षक है। कुल मिलाकर विशेषांक विशिष्ट है।

—आशा मल्लोत्र, सागर

अभिनव परम्परा

अन्तर-बाहर एक-रूप आत्मिक प्रचुर शान्तिप्रदायक पुष्कल विचारोत्तेजक सामग्री से समवेत तथा नयनाभिराम साज-सज्जायुक्त इस महत्त्वपूर्ण विशेषांक के प्रकाशन के लिए कांतिशः बधाइयाँ और शुभकामनाएँ स्वीकार कीजिए।

वैसे भी 'तीर्थकर' का प्रत्येक अंक व्यवस्थित, पठनीय और संग्रहणीय होता है, विशेषांक को उनसे भी आगे—बहुत आगे—रोचक, ज्ञानवर्द्धक और नवीन शैली में वस्तुतत्त्व के उपस्थापक होते हैं। ऐसे विशेषांकों की अभिनव परम्परा अभिनन्दनीय है।

इस अंक में संपादकीय के साथ ही श्रद्धेय पं. कैलाशचन्द्रजी, पं. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, भेंट: एक भेदविज्ञानी से, मोक्ष आज भी संभव, जैन विद्या: विकास-क्रम आदि के आलेख या विचार—सभी कुछ तो अनूठे हैं। आपने अलभ्य चित्रों की संयोजना करके इस अंक को और भी अधिक मुखरित कर दिया है। —डॉ. भागवन्त जैन, दमोह

विचारोत्तेजक

विशेषांक में संपादकीय लेख ने प्रबुद्ध वर्ग को एक बार फिर से झकझोरा है। चिन्तन की गहराई से जो मीठी निकले हैं उनकी माला ने 'तीर्थकर' को अप्रतिम गौरव प्रदान किया है।—रत्ना जैन, छोटी कमरावद

बहुत भाया

इस सुन्दर अंक के लिए हार्दिक बधाई ! आपका 'साधुओं को नमस्कार' वाला शब्द-चिन्तन बहुत भाया। आचार्य विद्यासागरजी के दर्शनों का तथा चर्चा का सौभाग्य मुझे भी मिला है। 'समणसुत्त' का पद्यानुवाद उन्होंने मेरी ही प्रार्थना पर किया था। हमारे दिगम्बर समाज में साधुओं की उपेक्षा बहुत होती है और इसके कुछ कारण भी हैं। मूर्ति-पूजकों ने भगवान को मूर्त को पकड़ लिया और जीवन्त तपोमूर्तियों को जंगल में छोड़ दिया। आचार्य विद्यासागरजी के चतुर्दिक विश्व-विद्यापीठ जैसा वातावरण बनना चाहिये और इसके लिए समाज को प्रभूत द्रव्य खर्च करना चाहिये।

—जमनालाल जैन, वाराणसी

स्वस्थ परम्परा का संवाहक

समय-समय पर निकले हुए 'तीर्थकर' के विशेषांकों की अपनी एक स्वस्थ परम्परा है। प्रस्तुत विशेषांक भी उसी परम्परा का संवाहक है, किन्तु कलेवर की दृष्टि से 'तीर्थकर' के विशेषांकों में यह विशेषांक बीना विशेषांक के रूप में जाना जायेगा। वैसे बुद्धिजीवियों के लिए खुराक पर्याप्त है।

—कमलेशकुमार जैन, लाडनूँ

सम्यक् दिग्दर्शन

'तीर्थकर' के विशेषांक विचार-क्रान्ति की दृष्टि से अपने आप में महत्त्व रखते हैं; संपादकीय (साधुओं को नमस्कार) में निष्पक्ष और निर्भय बन करके आपने जो लिखा, वह वास्तविक है। आपने सम्यक् दिग्दर्शन करवाया है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी के जीवन के संबन्ध में—आध्यात्मिक साधना में रत कर्मयोगी-ध्यानयोगी को पढ़ा, तब से मन में भावना जागृत हो गयी। तीव्र उत्कण्ठा बढी कि महान् विभूति के दर्शन लाभ लेना चाहिये। —मानवमणि, इन्दौर

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

तीर्थकर : जन. फर. ७९/६०

समाचार : शीर्षक-रहित, किन्तु महत्त्वपूर्ण

--अहिंसा विश्वधर्म है। जैनाचार्यों ने अनादि काल से अहिंसा के प्रचार-प्रसार पर बल दिया है। जहाँ अहिंसा है, वही शान्ति है, वही सत्य है। स्थायी शान्ति के लिए हमें अहिंसा और क्षमा को ही अपनाता होगा।' ये वे प्रारंभिक उद्गार हैं जो एला-चार्य श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में विश्वधर्म शान्ति सम्मेलन की जयपुर-शाखा के उद्घाटन के अवसर पर उन्होंने अपने उद्बोधन में व्यक्त किये।

ज्ञातव्य है, एलाचार्यजी के १४ वर्षों के पश्चात् २४ दिसम्बर, ७८ को जयपुर-शुभागमन पर अभूतपूर्व हार्दिक स्वागत किया गया। उनकी धर्मसभाओं से बड़ी संख्या में लोग लाभान्वित हो रहे हैं। उनके प्रति आदरांजलि अर्पित करने हेतु एक विशेषांक भी प्रकाशित किया जा रहा है।

--एलाचार्य श्री विद्यानन्दजी का आगामी चातुर्मास इन्दौर में होने की संभावना को ध्यान में रखकर संबन्धित कार्यक्रम को मूर्तरूप देने हेतु दि. जैन समाज की आमसभा श्री मिश्रीलाल गंगवाल की अध्यक्षता में आयोजित की गयी, जिसमें सर्वानुमति से उनकी स्वीकृति प्राप्त करने का संकल्प किया गया और इस कार्य के निमित्त एलाचार्य विद्यानन्द मुनिसंघ स्वागत समिति गठित की गयी, जिसके अध्यक्ष श्री राजकुमारसिंह कासलीवाल, उपाध्यक्ष सर्वश्री मिश्रीलाल गंगवाल, पं. नाथूलाल शास्त्री, हीरालाल कासलीवाल, डी. सी. जैन एवं श्रीमती चन्द्रावती बाई जैन, मंत्री श्री बाबूलाल पाटोदी और कोषाध्यक्ष श्री माणकचन्द पांड्या का निर्वाचन किया गया।

एक प्रतिनिधि-मंडल एलाचार्यजी से चातुर्मास इन्दौर में ही करने का निवेदन करने जयपुर गया।

--भारत जैन महामंडल, बम्बई के तत्त्वावधान में श्रीडुंगरगढ़ (राजस्थान) में द्वि-दिवसीय (६-७ जनवरी, ७९) जैन संस्कृति सम्मेलन आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में श्री प्रतापसिंह वेद की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। वर्धमान महोत्सव के कारण लगभग तीन सौ साधु-साध्वी और पाँच हजार श्रावक भी उपस्थित थे। सम्मेलन में कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सर्वानुमति से पारित किये गये। भविष्य में अन्य आचार्यों के सान्निध्य में भी दूसरे राज्यों में इस प्रकार के सम्मेलन आयोजित करने का निर्णय लिया गया।

--भारत जैन महामंडल का ४३ वाँ अधिवेशन दिल्ली में अप्रैल '७९ के दूसरे या तीसरे सप्ताह में श्री धर्मचन्द्र सरावगी (सदस्य, राज्यसभा) की अध्यक्षता में होने की संभावना है।

--श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई के तत्त्वावधान में द्वितीय जैन साहित्य-समारोह (गुजराती) ३-४ फरवरी, '७९ को महुवा (भावनगर) में आयोजित किया गया है।

--महावीर ट्रस्ट की शोधवृत्ति-योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश के विश्वविद्यालयों में जैन दर्शन और साहित्य पर पी-एच.डी. करनेवाले शोधवृत्ति के इच्छुक छात्र ट्रस्ट के कार्यालय (शीशमहल, सर हुकमचन्द मार्ग, इन्दौर-२) को अपेक्षित जानकारी २८ फरवरी, '७९ तक भेज सकते हैं।

--जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान) की पत्राचार पाठमाला द्वारा जैन-धर्म-विषयक प्रशिक्षण-योजना का शुभारम्भ इस वर्ष से किया गया है। प्रवेशार्थी की न्यूनतम योग्यता हायर सेकेण्डरी या समकक्ष रखी गयी है।

तीर्थकर : जन. फर. ७९/६१

—जैन विश्वभारती, लाडनू के तत्त्व-
वधान में सातवाँ प्रेक्षा ध्यान शिविर ५ से
१४ दिसम्बर तक आयोजित किया गया।

—श्रीमज्जिनेन्द्र पंच कल्याणक प्रतिष्ठा
महोत्सव (१५ से २० फरवरी),
मडावरा (उ.प्र.) के अवसर पर १७
फरवरी को दि. जैन अतिशय क्षेत्र मदनपुर
का और १८ को श्री बुन्देलखंड स्याद्वाद
परिषद् का अधिवेशन हो रहा है। 'स्याद्वाद-
संदेश' (द्विमासिक) का विमोचन भी
किया जा रहा है।

—श्री दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान,
हस्तिनापुर (उ.प्र.) की आर्यिकारत्न श्री
ज्ञानमतीजी के सान्निध्य में ३१ दिसम्बर
को संपन्न बैठक में जम्बूद्वीप रचना के
अन्तर्गत ८१ फुट ऊँचे नवनिर्मित सुदर्शन
मेरु (सुमेरु पर्वत) के १६ जिन बिम्बों की
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा मई में करने का
निश्चय किया गया। एक प्रतिष्ठा-समिति
भी गठित की गयी।

—श्री दि. जैन सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट
(खंडवा) का वार्षिक मेला ११ से १३
मार्च को विविध कार्यक्रमों के साथ
आयोजित किया जा रहा है।

—श्री उदयचन्द्र जैन, प्राध्यापक, हुकम-
चन्द्र दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर
को इन्दौर विश्वविद्यालय द्वारा जैन दर्शना-
चार्य के आधार पर 'आदिपुराण की तत्त्व-
सीमांसा' विषयक शोध-प्रबन्ध पर
पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गयी है।

—कु. रश्मि जैन, सुपुत्री डॉ. राजाराम
जैन, आरा (बिहार) ने बिहार स्कूल
सेकेण्डरी एक्जामिनेशन बोर्ड, पटना से
इस वर्ष विज्ञान विषय लेकर भोजपुर
जिले में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर बिहार
सरकार की विशेष अनुशंसा प्राप्त की है।

—श्री जैन शिक्षण संघ और जवाहर
विद्यापीठ, कानोड़ (उदयपुर) के संस्थापक-
संचालक स्व. पं. उदय जैन प्रतिमा
अनावरण-समारोह २६ जनवरी को
आयोजित किया गया है।

—तपस्वीराज मुनिद्वय (स्व. श्री
वेणीचन्द्रजी और स्व. श्री कजोड़ीमलजी)
जन्म-शताब्दी समारोह का प्रारम्भ १०
फरवरी, ७९ से हो रहा है, जिसका विविध
आयोजनों के साथ समापन २९ मार्च,
८० को होगा। एक विशेषांक भी प्रकाशित
किया जायेगा। समारोह-समिति के अध्यक्ष
श्री फकीरचन्द्र मेहता हैं।

—श्री गणपतराज बोहरा के पौत्र के
विवाह के अवसर पर श्री प्रेमश्रुप इंडस्ट्रीज
की ओर से श्री सचेती चेरिटो ट्रस्ट को
मानव-सेवा के लिए १ लाख रुपये और
वर-वधू पक्ष की ओर से ४० हजार रुपये
दान-स्वरूप दिये गये।

—श्री चम्पापुरक्षेत्र, नाथनगर (बिहार)
में संपन्न जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-
महोत्सव (२८ जनवरी से २ फरवरी)
में भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी
का साधारण अधिवेशन ३० जनवरी को
आयोजित किया गया है।

—श्री वृहद् अहमदाबाद स्थानकवासी
जैन शालाओं के विद्यार्थियों का विशाल
सम्मेलन गत ७ जनवरी को गुजरात के
मुख्यमंत्री श्री बाबुभाई पटेल के मुख्य
आतिथ्य में संपन्न हुआ।

नये आजीवन सदस्य रु. १०१

३६४. श्री प्रदीपकुमार नवीनकुमार जैन
३०, चावडी बाजार
पो. दिल्ली 110-006
३६५. श्री संघ जैन लायब्रेरी
३४८, मिण्ट स्ट्रीट
पो. मद्रास 600-001
३६६. श्री संचालिका,
श्राविका संस्था नगर
१९७, बुधवार पेठ
पो. सौलापुर 413-002
३६७. श्री अरविंदकुमार बजाज
द्वारा : श्री खेमचन्द्र बजाज
पो. बलेह (सागर) म. प्र.

तीर्थकर : जन. फर. ७९/६२



आचार्य श्री पद्मसागरसुरिजी के रजत दीक्षा-महोत्सव के उपलक्ष्य में १४ दिसम्बर को राजभवन, बम्बई में आयोजित समारोह में आचार्यश्री राष्ट्रपति श्री रेड्डी को जैनधर्म एवं संस्कृति-विषयक ग्रन्थों को भेंट करते हुए ।

(पृष्ठ ६० का शेष)

सर्वांगीण

अपनी अलग पहिचान लिये संपादकीय गद्यगीत में साधु को विविध आयामों/परिप्रेक्ष्यों में निहारकर सामयिक परिस्थितियों में भी साधु कितनी ऊँची चारित्र्य की शिला पर बैठकर अपने एक समय में (आत्मा/वर्तमान क्षणों की जीवन्तता) जी सकता है, का मौलिक चिन्तन, जो मैंने स्वर्ण आचार्यश्री के जीवन से उद्भूत होते देखा है, पढ़ने को मिला ।

आचार्य विद्यासागरजी के कारण पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के दिग्गम्वर जैन साधु के मत में परिवर्तन हुआ है, यह उनकी खोजी दृष्टि का द्योतक है ।

विशेषांक का नवनीत स्वर्ण आचार्यश्री के प्रवचन (टेप) से संकलित उनकी अमृत वाणी है, जिन्होंने बड़ी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से तीन की गिनती में मोक्षमार्ग गिन डाला ।

आचार्यश्री का बाल चित्र एक दुर्लभ चित्र है, जो 'तीर्थकर' ने पहली बार दिया है। सर्वांग रूप में विशेषांक अपनी पूर्व परम्परा के निर्वाहन में सफल रहा और 'तीर्थकर' की छबि, एक श्रेष्ठ मासिक के रूप में सम्प्रदाय के दायरों से विमुक्त होकर उभरी है। प्रबुद्ध पाठकों के चिन्तन हेतु यह कुछ नया दे जाता है, जो इसके हरेक अंक के लिए पाठक प्रतीक्षित रहता है ।

—निहालचन्द्र जैन, नौगांव (छतरपुर)

सर्वश्रेष्ठ

विशेषांक बहुत सुन्दर प्रकाशित हुआ है । इसमें आपने बहुत परिश्रम किया है । वैसे भारतवर्ष में जितनी जैन पत्र-पत्रिकायें निकलती हैं, उनमें 'तीर्थकर' सबसे उच्च स्तर का सर्वश्रेष्ठ पत्र है । इसका यथानाम तथागुण भी है ।

—डॉ. ताराचन्द्र जैन बख्शो, जयपुर

तीर्थकर : जन. फर. ७९/६३

मध्यप्रदेश में

ग्रामीण विकास के बढ़ते चरण

- लगभग १५,००० ग्राम पंचायतों में शांतिपूर्ण चुनाव सम्पन्न हुए। आदिवासी जिले बस्तर में प्रथम बार ग्राम पंचायतों का गठन हुआ।
- जनपद पंचायतों की चुनावी प्रक्रिया शांतिपूर्ण ढंग से सम्पन्न। प्रत्येक विकास खण्ड में प्रथम बार एक स्वतन्त्र जनपद पंचायत बनी। विकास खण्ड का प्रशासन जनपद पंचायत के अधीन हुआ।
- ग्रामीण सचिवालयों के माध्यम से पंचायत, जनता और प्रशासन को करीब लाने के संपूर्ण भारत में प्रथम प्रयोग की शुरुआत हुई।
- 'फूड फार वर्क' कार्यक्रम की सहायता से ग्रामीण क्षेत्रों में १५ करोड़ रुपयों की लागत के कार्य प्रारम्भ हुए।
- ग्रामीण रोजगार आश्वासन योजना के माध्यम से १२५ विकास खण्डों में निर्माण कार्य प्रारम्भ हुए।

सत्ता के विकेन्द्रीकरण से शीघ्र विकास

सू.प्र.सं./३५७/७९

संपादकीय, एक पाठ

विशेषांक का संपादकीय : 'साधुओं को नमस्कार' शब्दों के भेष में एक वयस्क कविता है, जिसमें एक प्रश्न सौ प्रश्नों को प्रसूत करता है और फिर सौ समाधानों की संरचना। संपादकीय मात्र संपादकीय नहीं है। एक पाठ है।

—सुरेश 'सरल', जबलपुर

मननीय

विशेषांक में पठित सामग्री का संकलन—संपादन आपकी वृद्धि का ही कौशल है। प्रत्येक लेख पठनीय व मननीय है।

—सुन्दरलाल कोठारी, इन्दौर

तबीयत खुश

विशेषांक मिला। तबीयत खुश हो गयी। गतांकों में स्व. ब्र. सीतलप्रसादजी और स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमी के बारे में बहुत ही सूक्ष्म-सी सामग्री दी गयी है। जबकि अपने जमाने में इनका योगदान कम नहीं है। इन विभूतियों पर भी विशेषांक निकाले जा सकते हैं। —भानुकुमार जैन, भोपाल

सब एक से एक बढ़कर

विशेषांक की साज-सज्जा तो सुन्दर है ही, उसमें प्रकाशित कविता एवं लेख तथा आचार्यश्री से भेंट का वर्णन जो दिये गये हैं, वे सब एक से एक बढ़कर हैं।

—दिग. जैन, १५ जन. '७९, आगरा

तीर्थकर : जन फर ७९/६४

साधना-भ्रष्ट

कोई संकल्प पूरा नहीं होता ।

कितनी निष्ठा से
करता हूँ प्रारम्भ अनुष्ठान का,
शब्द-फूल; प्रेम-दीप, भाव-गन्ध
करता हूँ प्रबन्ध
पूजा के सामान का ।
पर जाने कहाँ हो जाता है प्रमाद
सिद्धि का चक्र पूरा नहीं होता
कोई संकल्प.....

जिस लक्ष्य की दिशा में
चलता हूँ कदम-कदम;
वही मुझ से दूर-दूर
और दूर जाता है ।
जितनी भी अभ्यर्थना करता हूँ ज्योति की
अन्धकार नयनों से
धूर-धूर जाता है ।
जाने कैसे
छूट जाती है लय गीत की-
सप्तक 'संवाद' का
पूरा नहीं होता ।
कोई संकल्प
पूरा नहीं होता-

□ दिनकर सोनवलकर



वह मनुष्य है

बोलना दस प्रकार का है ।

जो संताप को जनमता है, कर्कश है ।

जो हृदय को खण्ड-खण्ड करता है और वज्र की तरह कठोर है, पक्ष है ।

जो उद्वेगजनक है, कट्व है ।

जो धमकियों से भरा है, निष्ठुर है ।

जो अपशब्दात्मक और कोपजनक है, परकोपी है ।

जो शील, वीर्य और गुणों का विनाश करता है, छेदकर है ।

जो अपनी कठोरता के कारण हड्डियों के मध्य तक को कुश भरता है, वह मध्यकृश है ।

जो अपने महत्त्व को स्थापित कर अन्यो की अवमानना करता है, वह अतिमानो है ।

शीलों को खण्डित करने वाला और मैत्री के अनुबंधों को छिन्न-भिन्न करने वाला है, वह अनयंकर है ।

जो प्राणियों के प्राण हरण करने वाला है वह भूतहिंसाकर है ।

जो इन्हें छोड़ हित, मित और असंदिग्ध बोलता है, वह मनुष्य है ।

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

(संजयान) द्वारा प्रसारित]

दीर्घक



६५

संपादक : डा. तेजीचन्द जैन

वर्ष ८, अंक ११; फाल्गुन २०३५; मार्च १९७९

मरा है कोई और

नगर के चौराहे पर अचानक भीड़ एकत्र हो गयी। मोटर गाड़ी से एक युवक कुचलकर मर गया था। इसे जो सुनता दौड़कर पहुँचता और युवक को वहाँ पड़ा देखकर दुखी होता। एक व्यक्ति भी उत्सुकतावश वहाँ आया, युवक को देखकर वह अन्य सभी की भाँति रुका नहीं, उल्टे पैर तेजी से वापस हो गया।

चौराहे से दूर एक विशाल भवन के मुख्य द्वार पर वह रुका। सीढ़ियों पर वह चढ़ा और दरवाजे पर दस्तक दी। थोड़ी-सी देर में दरवाजा खुला। मकान-मालिक को देखकर वह दंग रह गया। बिना कुछ कहे वह वापस हो लिया। इस पर मकान-मालिक ने बिना कुछ-कहे सुने वापस होते उस युवक से पूछा : 'मित्र, सुनिये, यों ही कैसे लौट लिये ? कुछ तो कहिये क्या मामला है ?' आगन्तुक ने ठहरते हुए कहा : 'चौराहे पर मोटर-एक्सीडेंट हुआ है और उससे एक व्यक्ति का काम तमाम हो गया है। उसे देख कर मुझे भ्रम हुआ था। मुझे लगा कि जो मरा है वह तुम हो, अस्तु घर पर खबर करने दौड़ा चला आया था। तुम्हें यहाँ जीवित देख मुझे अपने पर भारी हैरानी हुई है।' आगे आगन्तुक की बात सुनकर मकान-मालिक अवाक् रह गया। उसने कहा : 'ठहरो, यह और बताते जाओ कि जो मरा है वह पहिने क्या है ?' उत्तर मिला : 'जो मरा है वह कुरता पहिने है।' 'और क्या पहिने है ?' मकान-मालिक ने आगे पूछा। उत्तर देते हुए आगन्तुक ने कहा : 'धोती पहिने है।' कुरता और धोती तो मकान-मालिक भी पहिने हुए था। यह सुनकर वह अधीर हो उठा। दोनों हाथ सिर पर रखकर वह दीवार के सहारे बैठ गया। कुछ देर बाद जब वह अपने में हुआ तो उसने फिर पूछा : 'क्या यह और बताओ कि उसके कुरते का रंग कैसा है ?' आगन्तुक ने कहा : 'जो मरा है उसके कुरते का रंग नीला है।' यह सुनकर मकान-मालिक उठा और मुसकुराते हुए बोला : 'तो निश्चय ही कोई दूसरा व्यक्ति मरा है, क्योंकि मेरे कुरते का रंग पीला है'।

□

इस घटना से स्पष्ट है कि जिनका जीवन बाहरी बोध पर निर्भर करता है और जिन्हें आत्मबोध नहीं है; उनका जीवित होना भी वस्तुतः एक उपहास है।

—डा. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया

तीर्थकिण्ट

विचार-मासिक

(सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन)

वर्ष ८, अंक ११; मार्च १९७९

फाल्गुन, वि. सं. २०३५; वी. नि. सं. २५०५

संपादक : डा. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
सज्जा : संतोष जड़िया

वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया
विदेशों में : तीस रुपये
आजीवन : एक सौ एक रुपये



हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कालोनी,
कनाड़िया रोड,
इन्दौर-४५२००१
दूरभाष : ५८०४

नई दुनिया प्रेस
केसरबाग रोड,
इन्दौर-२ से मुद्रित

क्या / कहाँ

मरा है कोई और (बोधकथा)

—डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया; आवरण २

हारे किताब, जीते मैदान

—संपादकीय ३

जिन्दगी / का / एक / दिन

—डॉ. कुन्तल गोयल ५

स्वाध्याय

—सुरेश 'सरल' ७

सुकुमारिका (पुराण-कथा)

—गणेश ललवानी १०

चर्चा : एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से

—डॉ. नेमीचन्द जैन १४

जैनविद्या : विकास-क्रम/कल, आज (७)

—डॉ. राजाराम जैन १९

भगवान् महावीर : सेवा, आज के संदर्भ में (टिप्पणी)

—श्रीमती राजकुमारी बेगानी २३

कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) २५

समाचार-परिशिष्ट २८

पत्रांश ३०

महान् ज्योति/महान् तीर्थ (बोधकथा)

—डॉ. निजामउद्दीन, आवरण-३

मेघ/पुरुष; आवरण-४

हारें किताब, जीतें मैदान

विगत कुछ शताब्दियों का इतिहास इस तथ्य का स्पष्ट साक्षी है कि हम कुछ किताबें जीतते आये हैं और मैदान प्रायः हमारे हाथों से निकल गया है; किन्तु अब वे दिन लद चुके हैं, जब किताबें बहस का मुद्दा बना करती थीं, और जिन्दगी महज एक गौण और और दबा हुआ भाग होती थी। आज बदलाव इतना तीखा है (हम महसूस भले ही उसे न करें) कि किताब स्वतः गौण होना चाहती है; लेकिन बदकिस्मती यह है कि हम उससे चिपटे हुए हैं और इस सच्चाई को नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं, कि जो भी स्थिति या वस्तु जीवन से जुड़ी हुई नहीं होगी, व्यर्थ और मृत होगी। इधर के कुछ वर्षों में किताब जिन्दगी के बीच काफी लम्बी और गहरी खाई बन गयी है। हम अनुभव करने लगे हैं कि हम किताब में हैं और हमें मैदान में आना चाहिये। हम यह भी लगातार महसूस कर रहे हैं कि हममें वह साहस अनुपस्थित हो गया है जो किताब को नकारना चाहता है और मैदान की चुनौतियों से जूझना चाहता है। विवेक की गैरहाजिरी और आवश्यक साहस के अभाव में हम पतझड़ के उस पीले पात की तरह बहे जा रहे हैं, जो आँधी में गिर गया है और अपनी अपरिहार्य नियति की प्रतीक्षा कर रहा है।

स्थितियाँ बदल गयी हैं। युग एकदम निर्ग्रन्थों का आ गया है। अब ऐसे लोगों का जमाना हमारे सामने है, जो किसी खास किताब के गुलाम नहीं हैं, वरन् जो मानवीय हैं और अपनी तर्कशक्ति तथा विवेक का खुला उपयोग करना चाहते हैं। प्रायः सभी अस्तित्व और स्थितियाँ जीवन से जुड़ने के लिए अंगड़ाई भर रही हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, प्रार्थनागृह प्रायः सभी इस मुद्दा में हैं कि जीवन से किसी-न-किसी तल पर आ जुड़ें। हम पूजा, या इबादत कर रहे हैं और लगातार महसूस कर रहे हैं, कि इस प्रार्थना या इबादत को जिन्दगी से जुड़ा हुआ होना चाहिये। हमारी मानसिकता बदलाव के एक गहन रचनात्मक चक्र में आ उपस्थित हुई है, यानी बदलाव अपरिहार्य हो उठा है। जीवन का दबाव चारों ओर से इतना अधिक और सघन है कि वे सारी वस्तुएँ जो जीवन को अस्वीकार कर रही हैं, या करना चाहती हैं, अचानक ही लुप्त हो जाएँगी। उक्त चुनौती हवा में पुरजोर है, हाँ, यह बात अलग है कि हवा जिनसे लिपटी है वे उसे महसूस न करते हों।

धर्म को लेकर इन दिनों कई रेखांकन हुए हैं। उसकी व्यापक जाँच-पड़ताल उन लोगों ने की है, जो उसके बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं। यह काम ठीक उसी तरह हुआ है जैसे कोई इंजीनियरी जानता नहीं है और किसी पुल की मजबूती पर अपना फंसला सुना रहा है। दूसरी ओर एक कोशिश इस तरह की भी हुई है कि लोग धर्म को ठीक इस तरह जानना चाहते हैं जैसे धूप, धुआँ, पानी, आग इत्यादि को जाना जाता है। वस्तुतः धर्म कोई रहस्यपूर्ण अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त यथार्थवादी है और उसकी तस्वीर

तीर्थंकर : मार्च ७९/३

बिलकुल साफ है और यदि वह कहीं धुंधली भी है तो उसका कारण या तो कोई व्यक्तिगत स्वार्थ है, या अज्ञान है; इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है।

असल में धर्म एक विज्ञान है। व्यक्ति और जगत् को पहचानने का एक सीधा-सहज-सम्यक् शास्त्र है। वह संबन्ध-शोष का शास्त्र है। आत्मा क्या है? शरीर क्या है? आत्मा और शरीर का क्या सम्बन्ध है? जगत् क्या है? जागतिक सम्बन्ध क्या हैं? आत्मा और इन जागतिक सम्बन्धों की परस्पर क्या स्थिति है? क्या ये एक-दूसरे की टकराहट में हैं, या इनमें कोई सहअस्तित्व है? इस तरह धर्म समीक्षक है हमारे उन सम्बन्धों का जो सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा आर्थिक नहीं हैं वरन् आध्यात्मिक हैं, मानसिक हैं, चित्तगत हैं, चेतना से जुड़े हुए हैं। मजहब, अन्धा हो सकता है, धर्म के अन्धे होने का प्रश्न ही नहीं है, उसका पर्याय शब्द "आँख या दृष्टि" ही हो सकता है।

इस तरह धर्म का अर्थ है "मैदान"। जो लोग मैदान छोड़ते हैं, वे धर्म को जान ही नहीं सकते। एक मुनि या ऋषि का मैदान उसका तप और उसकी साधना है; हमारे मैदान हम खुद हैं, या फिर समाज ही हमारा मैदान है; यहीं से यानी इसके प्रति हमारे व्यवहार से ही यह जाना जाएगा कि हम किसी ग्रन्थ की दासता में जी रहे हैं, या जीवन के जीवन्त, हरे-भरे खेत में खड़े हैं।

गड़बड़, जो इन दिनों हुई है वह यह है कि हमने जीवन को किताब बना लिया है, और जीवन्तता से विमुख हो गये हैं। किताब जड़ है। शास्त्र या ग्रन्थ ज्ञान कभी हो नहीं सकता। ज्ञान ग्रन्थ के बाहर से उसके भीतर होता है, और जब तक उसमें पहुँचा ग्रन्थकार का भीतरी जीवन पाठक के भीतरी जीवन से नहीं जुड़ता किताब तब तक निरी निष्प्राण होती है। इस तरह शास्त्र को मैदान से जोड़ने की जरूरत प्रतिपल है। शास्त्र बहस की वस्तु नहीं है, वह मूलतः जीने की वस्तु है; क्योंकि उसकी सत्ता किसी साधक के जीवन में से ही आविर्भूत है; इसलिए वही किताब प्रभावित कर पायेगी जो मैदान से, यानी जीवन से जुड़ी हुई होगी। निष्कर्षतः जो किताब, शास्त्र, या ग्रन्थ जीवन से अटूट, अनवरत, अविरल जुड़ा नहीं होगा, वह हमें कुछ दे नहीं पायेगा।

महावीर का अंश-अंश जीवन से जुड़ा हुआ था। उनका कोई ग्रन्थ नहीं था, वे आमूल-चूल निर्ग्रन्थ थे। उनकी साधना ही उनकी सृष्टि थी; साधना में से जो प्रकट होता जाता था, स्वयमेव शास्त्र बनता जाता था। हमारे युग में गलती यँ हुई है कि हम साधक हुए बिना ग्रन्थ को ले बैठे हैं; और उसे या तो घोख रहे हैं, या बाँच रहे हैं, या उसमें से किसी उद्धरण को किसी व्याख्यान में उदाहरण बना रहे हैं; जीवन से कहीं भी उसे जुड़ा हुआ रख नहीं पा रहे हैं। ऐसा करने से हमारी उर्वरता तो चुक ही गयी है, ग्रन्थ भी ऊसर हो गये हैं; वस्तुतः असल मैदान चरित्र है, शास्त्र की शक्ति को उसमें से ही प्रकट होना चाहिये; यह तब संभव होगा जब हम उसे जिन्दगी से जोड़ेंगे।

(शेष पृष्ठ २९ पर)

तीर्थंकर : मार्च ७९/४

जिन्दगी / का / एक / दिन

- हम अपने आप को नष्ट कर कल में जीने की कोशिश न करें, क्योंकि कल जिन्दगी में कभी नहीं आता।
- मन की एक-एक गाँठ हम उसी तरह अलग करते चलें, जिस तरह ईख की गाँठों को अलग कर हम उसके सुस्वादु रस का मधुर पान करते हैं।

□ डा. कुन्तल गोयल

एक मनोवैज्ञानिक ने आधुनिक जीवन का चित्र केवल तीन शब्दों में व्यक्त किया है—जल्दबाजी, परेशानी और श्मशान-यात्रा। औसत दर्जे का कारबारी तेजी से ग्रास-नर-ग्रास निगलता जाता है, राहगीरों और सवारियों के बीच से बचता हुआ भागता जाता है। शाम को घर की ओर दौड़ता है। एस्पिन की टिकिया खाता है और इसे ही अपना आज का दिन कहता है। हमारा दिमाग बराबर थका बना रहता है और यही थकान हमें अस्पतालों, पागलखानों और श्मशान की ओर ले जाती है। हम इस थकान को मुरा के साथ नहीं पी सकते, ताश के खेल में इसे नहीं निकाल सकते, नाटक में इसे हँसकर खत्म नहीं कर सकते और न ही नींद लाने वाली गोलियों से सोकर इसे बिता सकते हैं। इससे मुक्ति पाने का केवल एक ही तरीका हमारे सामने है—वह यह कि ज्ञानवान प्राणी होने के नाते अपने पर नियन्त्रण करना सीखें, अपनी सत्ता के नियमों को, जो प्रकृति के नियम हैं, समझें और उनका पालन करें। शारीरिक और मानसिक पतन के प्रबल प्रवाह से, जो सदगुणों को अपने साथ बहा ले जा सकता है, बचने का प्रयास करें। मानवता ही हमारे जीवन का सर्वोपरि धर्म होना चाहिये। इस धर्म के पालन से ही मनुष्य आधुनिक जीवन के अभिशाप से पृथक् रह सकता है।

हमारा आज का दिन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस एक दिन को सुचारु रूप से ही सहज और सम्भव बनाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन के लिए अपना भार-बहन करने, अपना काम करने में चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो, समर्थ होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को बस एक दिन ईश्वर का स्मरण करने, कष्ट में पड़े लोगों को याद करने, या असहायों के लिए सहायता का हाथ आगे बढ़ाने योग्य होना चाहिये। बस, इतना ही करना है। न तो हमें एक दिन से अधिक का जीवन मिलता है और न ही आगामी कल मिलता है। यदि हम आज के सभी कार्यों को पूरी सच्चाई के साथ करके हुए अपने प्रत्येक दिन को भरते जाएँ तो हमारे सामने शुभ परिणामों और वरदानों का ढेर लग जाएगा।

आज मनुष्य सुख पाने के लिए न जाने कहीं-कहीं भटक रहा है। न जाने उसे कितने कष्ट उठाने पड़ रहे हैं? पर सुख कहीं हाथ नहीं लगता। सुख पाने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता और न ही उसे पाने के लिए कोई परिश्रम ही करना

तीर्थकर : मार्च ७९/५

पड़ता है। वह तो केवल हमारे मन की बात है—नितान्त हमारी अपनी। हम भूल जाते हैं कि उदासी सुख का शत्रु है। हम हँसते हैं तो उस समय हमारा मन भी प्रफुल्लित हो उठता है। सुख गुलाब की सुगन्ध की तरह सहज और स्वाभाविक होता है, जिस पर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जो अपने सुख की कोई कीमत लगाते हैं और बदले में उससे कुछ पाने की आशा करते हैं, सुख उनको छलावा देकर उनके सामने से निकल जाता है। हम प्रायः अधिक से अधिक सुख पाने की इच्छा से सुखों को भौतिक उपलब्धियों में बदल देते हैं और अपने चारों ओर ऐश्वर्य और सुविधाओं का ढेर लगाते चलते हैं। पर मन है कि सन्तुष्ट नहीं होता। कभी किसी बात में उलझ जाता है तो कभी किसी चीज को पाने की होड़ में कष्ट उठाता है।

भौतिक उपलब्धियों का यह सुख सच्चा नहीं है। मन की सन्तुष्टि और शान्ति ही मनुष्य को सच्चा सुख प्रदान करती है। महलों में रहने वाले बादशाह की अपेक्षा एक झोपड़ी में रहने वाला निर्धन व्यक्ति अधिक सुखी होता है; क्योंकि उस सुखमें उसके परिश्रम के रत्न भरे होते हैं। वह केवल आज में जीता है और आज का मिला सुख उसके लिए बेशकीमती होता है। जब तक आत्मसुखाय अपने कर्म में अपने आन्तरिक सौन्दर्य को हम भरना नहीं सीखेंगे, या अपने दायरे से बाहर निकल कर परसुख और हित की बात नहीं सोचेंगे, हम कहीं भी सुखी और सफल नहीं हो सकते। बाह्य सफलता सुख का आधार नहीं है। बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीतने वाला व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं से बिका हुआ आदमी होता है। यह सफलता मन को भ्रमित करने वाली होती है। सुखात्मक विचार, सुखात्मक कार्य ही हमारे जीवन में सुख का सवेरा लाते हैं। सहज-शान्त मन, प्रसन्नता से उद्भासित मुख-मण्डल और प्रखर चिन्तन-मनन से दीपित नेत्र हमारे आन्तरिक विचारों को ही प्रकट करते हैं और उसका प्रभाव दूसरों पर और भी अधिक सुन्दर हो जाता है। सुना नहीं है—सुख में सब साथ देते हैं किन्तु दुःख में नहीं। फिर क्यों न हम अपने दुःखों को सुखों में बदलते चलें। मन की एक-एक गाँठ हम उसी तरह अलग करते चलें जिस तरह ईख की गाँठों को अलग कर हम उसके सुस्वादु रस का मधुर पान करते हैं। जिस तरह सूर्य सधन अन्धकार को चीरकर हमारी ज़िन्दगी को ऊर्जा पहुँचाता है उसी तरह हम भी क्यों न अपने मन में कल्याण की नयी रोशनी फैला दें। हम अपने आज को नष्ट कर कल में जीने की कोशिश न करें क्योंकि कल ज़िन्दगी में कभी नहीं आता।

आज मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक अशान्त अधिक अरक्षित और अधिक कष्ट का अनुभव कर रहा है; क्योंकि वह एक दिखावे की ज़िन्दगी जी रहा है। अपनी ज़िन्दगी को भूल कर दूसरे की ज़िन्दगी जी रहा है। अति आधुनिकता के फेर में वह भय, भ्रम, सन्देह और आशंकाओं से घिर गया है। जब तक इन्हें तिलाञ्जलि दे कर वह विश्वास, प्रेम और सद्भावना को अपने भीतर स्थान नहीं देगा, उसे सुख से वंचित ही रहना पड़ेगा। मनुष्य अपने सुख की दिशा वर्तमान से ही प्रारम्भ करे—वर्तमान अर्थात् आज। और आज का यह एक दिन ही मनुष्य के लिए सुख के सवेरे ला सकता है; फिर क्यों न हम आज के दिन को स्वर्णिम बना लें ?

स्वाध्याय

एक पुराण की चार पंक्तियाँ प्रतिदिन पढ़कर जीवन बिताते रहना स्वाध्याय नहीं है, वरन् इन चार पंक्तियों में जीवन की सार्थकता समझना-देखना स्वाध्याय है। स्वाध्याय स्वगत है।

□ सुरेश 'सरल'

जो मरते-मरते तक 'दिया' जाता है, वह भाषण है और जो जीवन भर 'अदेय' रहे, यानी दिया न जा सके, वह स्वाध्याय कहलाता है। यह परिभाषा नहीं तर्क-वितर्क है, अध्याहार। स्वाध्याय वह 'पाठ' है, जिसे व्यक्ति किसी अंतरंग प्रेरणा से स्वतः के लिए करता है। यह वह क्षण है जब व्यक्ति कुछ पढ़ रहा होता है, षोख रहा होता है, विमर्श कर रहा होता है, चिन्तन कर रहा होता है, सुन रहा होता है, औरों को सुनाकर सुन रहा होता है, और फिर इन सभी क्रियाओं से प्राप्त 'प्राप्य' को आत्मसात कर निर्मल-निर्भय-निष्कलंक आचरण करने की भूमिका तैयार कर रहा होता है।

स्वाध्याय मनोगत ऐसा आत्मिक अधिकरण है जिसके सहयोग से आदमी आदमियत के 'अनुरूप' धर्म समझने, जानने और धर्मप्रणीत आचरण करने को 'तैयार' होता है। यह अनुरूप 'अनरूप' भी बन जाता है कभी-कभी, जब समय 'स्वाध्याय' में और चित्त 'पराध्याय' में खप रहा होता है। 'स्व' के लिए प्रारम्भ किया गया परिच्छेद; सर्ग; पाठ जाने क्यों 'पर' की चर्चा से रंग जाता है। 'स्व' के नाम पर 'पर' का उद्बोधन, चिन्तन, वार्ता ही स्वाध्याय की अनुरूपता है, वैकृत्य है, भद्दापन है। स्वाध्याय को जाने क्यों पराध्याय से पुता हुआ पाया है, हमने। हम जब-जब भीतर डूबकी लगाने की योजना बनाते हैं तो डूबकी से पहले हमारा ध्यान भीतर की गहराई की अपेक्षा किनारों पर जाता है। ये वे किनारे हैं जो सभी को बहा देते हैं पर खुद जहाँ के तहाँ अड़े रहते हैं। किनारों से बहकर मध्य और मध्य में डूबकर गहराई तक गोता लगाने वाले 'हम' किसी अदृश्य जंजीर से अवश्य बंधे रहना चाहते हैं जिसका दूसरा छोर किनारे के मोटे दरख्त से बँधा हुआ होता है। 'किनारे' हमारी तरह ही स्वार्थी होते हैं, जो स्वस्थ वृक्ष को किसी लहर के साथ बहते देख मुस्कराते खड़े रहते हैं, रोकते नहीं। बचाते नहीं। न रोकने-बचाने की कोशिश करते हैं। ये उन नेताओं की तरह हैं जो जुलूस को थाने तक ले जाकर पत्थर फिकवाते हैं पर 'लाठी-चार्ज' के समय अन्तर्ध्यान हो जाते हैं, भीड़ पिटती रहती है।

डूबने-ध्यानसात् होने-के लिए हमें जंजीर या मोटे पेड़ या किनारों को भुलाना होगा। तभी 'स्वाध्याय' कर सकेंगे, स्वाध्यायी हो सकेंगे।

तीर्थकर : मार्च ७९/७

हम कितने 'हम' हैं यह हम नहीं जानते, अतः जानने के लिए स्वाध्याय करते हैं। पर दुर्भाग्य से हमारी सम्बन्ध-शृंखला मोटे वृक्ष-पत्नी, प्रेमिका या संतान से; कीर्ति, सम्मान या स्वगुणगान से; संलग्न रही आती है, उद्योगों-उद्यमों से जुड़ी रहती है, सो रोज-रोज स्वाध्यायी होना चाहते हुए भी, स्वाध्यायी तो हो नहीं पाते, बस, अध्यवसायी बनते जाते हैं स्व-कार्यक्षेत्र के। और विचार क्षेत्र में दो क्रम चल ही नहीं पाते, जीवन-भर विचार करते हुए भी। एक ही समय में हमारा तन अध्यवसायी (उद्यमी) और मन स्वाध्यायी बना रहता है।

जो स्वाध्याय कर रहे हैं नित्य-नित्य उन्हें प्रणाम। पर जो स्वाध्याय करने का 'नखरा' कर रहे हैं उन्हें...उन्हें क्या कहा जाए! मंदिर से लगे कक्ष में या सभाभवन में बैठकर आज जो स्वाध्याय का ढोंग रचा जा रहा है, वह घातक है। ढोंग से न स्वाध्याय सध सकता, न अध्यवसाय, न व्यवसाय और न वह ढोंग जो किया जा रहा है। ये व्यक्ति ढोंगी नहीं हो सकते जो स्वाध्याय को व्यक्तिगत से ऊपर आत्मगत क्रिया मानते हैं पर वे निरे नखरेबाज और ढोंगी हैं जो स्वाध्याय को सार्वजनिकता का रूप दे रहे हैं, जो स-समूह स्वाध्याय करने पर तुले हैं। ध्यान देना होगा—स्वाध्याय मंदिर के प्रांगण में, उपकक्ष में, सभाभवन में, घर में, किया जाए, समय और स्थान की सुविधा से ही किया जाए; परन्तु 'अपने-अपने लिए' किया जाए। सब जन स्वाध्याय करते हैं इसलिए मैं भी करता चलूँ' का अभिनय या होड़ हटानी होगी।

'हॉल' में चौदह आदमी हैं, एक आदमी प्रवचन कर रहा है, तेरह सुन-गुन रहे हैं। फिर भी उनका स्वाध्याय सही दिशा में नहीं हो पा रहा है, ध्यान माइक पर है। माइक जो प्रवचनकर्ता के प्रवचनों के साथ अपना प्रवचन भी सुना रहा होता है। मैं कहता हूँ—आपके प्रवचन अच्छे हैं, माइक खराब है, उसे बन्द कर दें, फिर प्रवचन करें, मात्र तेरह लोग तो हैं ही, क्या आवश्यकता है माइक की? प्रवचनकार मेरे कथन को 'मिथ्या' मानता है। उसे प्रवचन से अधिक उपयोगी माइक प्रतीत होता है। वह कहना चाहता है कि अमुक शास्त्र में लिखा है कि माइक के बगैर प्रवचन करने से 'मशीन-हिंसा' होती है पर उसे ऐसा कोई श्लोक 'गुड़गुड़ाने' नहीं मिलता। मैंने 'गुड़गुड़ाने' शब्द का उपयोग इसलिए किया कि अपनी चौधराहट बतलाने-बधारने के लिए विद्वान् लोग आजकल श्लोक का उपयोग हुक्के की तरह कर रहे हैं। गुड़गुड़ा रहे हैं। वह अनुत्तरित रहा आता है और गूँजते-गुरीते माइक को पुचकार-पुचकार कर 'भाषण' करता रहता है। यहाँ माइक पर बोलना-पढ़ना ही स्वाध्याय मान लिया गया। माइक बन्द, स्वाध्याय बन्द।

स्वाध्याय के नखरे और-और हैं, हर नगर में हैं, हर समाज में हैं। एक सज्जन सभाभवन में ज़िद कर बैठे, कहने लगे—'आज शास्त्र-पाठ मैं करूँगा। दस वर्ष से सबका पाठ सुन रहा हूँ, आज सब मुझे सुनें।' उसे कुछ समय दिया गया।

तीर्थकर : मा ७९/८

वह दौड़ कर निश्चय स्थान पर पहुँचा, पहले माइक पर 'हलो-हलो' कहा, फिर शास्त्र का एक पन्ना चिट्ठी की तरह पढ़ कर मुस्कराते हुए उठ गया। वाद में पता चला। शास्त्रपाठ नहीं करना था, उन्हें तो माइक पर बोलकर देखना था सो देख लिया।

स्वाध्याय यह भी है—मन्दिर के पास एक विशाल कक्ष के बीचों-बीच आसन पर वक्ता महोदय बैठे हैं, सामने की ओर ४-६ मोटे गद्दे बिछे हैं, जिन पर तकिये की तरह लुढ़के हुए कुछ 'श्वेतश्री' पधारें हैं। उनके पीछे बड़ी-बड़ी दरियों पर साधारण लोग मँल की तरह चिपके हैं। स्वाध्याय 'चल' रहा है। 'चल' इसलिए कहा गया कि ऐसे मौकों पर मैंने स्वाध्याय को फिल्म की तरह 'चलते' देखा है। तो स्वाध्याय चल रहा है, पीछे दरी पर बैठे साधारण आदमी आगे गद्दों पर बैठे विशेष आदमियों की 'बैठक' पर भीतर-ही-भीतर कुड़ रहे हैं। सभी दरी पर क्यों नहीं या सभी गद्दों पर क्यों नहीं—की कुड़न। आसन पर स्वाध्याय और दरी पर कुड़न एक गति से चलते हैं, उसी गति से गद्दे पर बैठे महानुभावों का अन्तरंग 'अहम्' भी चलता रहता है और देखने वाले समझते हैं कि स्वाध्याय 'चल' रहा है।

'बड़े लोगों' के नखरे कम विचित्र नहीं होते। स्वाध्याय करते हुए फोन करना और फिर स्वाध्याय करने में जुट जाना, आम हो गया है। स्वाध्याय करते-करते ड्रायवर को कहीं जाने का आदेश देना—स्वाध्याय में सम्मिलित कर लिया गया है? बहू का प्रवचन टेप कर भोजन के वक्त सुनने की तरह समाज के महापुरुषों के टेप पलंग पर लेटे-लेटे सुनना कौन-सा स्वाध्याय हुआ? समय काटने का स्वरथ जरिया मान सकता हूँ मैं इसे। दूसरों के स्वाध्याय के लिए अपना स्वाध्याय टेप कर भोजना भी स्वाध्याय नहीं, ढोंग है। बड़े घरों में किचिन, बाथरूम, ड्रॉइंग रूम की तरह स्वाध्याय-कक्ष बनाने की होड़ लग गयी है। धर्म और संस्कृति के उत्कृष्ट ग्रन्थ खरीद कर इस कक्ष में रखे जाते हैं, जिस तरह ड्रॉइंग रूम में आपकी शादी का 'अलबम'। बाहर से जो सज्जन आते हैं उन्हें स्वाध्याय-कक्ष और ग्रन्थ सिल-सिलेवार दिखाये जाते हैं। दिखाते-दिखाते वर्षों बीत जाते हैं, पर उस कक्ष में धंटे-भर बैठ कर कभी स्वाध्याय करने का वक्त ही नहीं निकाला जाता; फलतः कक्ष कक्ष न हो कर ग्रन्थों का 'कांजीहाउस' बन कर रह जाता है। यह वह कार्य है जिससे स्वाध्याय का 'अनुभाव' भले मध जाता हो पर 'अनुभव' नहीं हो पाता।

सेठ का व्यवसाय पूँजी को बढ़ाता है उसी तरह स्वाध्याय अध्यात्म को बढ़ाता है। वस, स्वाध्याय के अवसर-विशेष पर 'अध्येय क्या है' का विचार सुधरा और स्वस्थ हो। कुछ भी पढ़ कर या सोच कर स्वाध्याय की रस्म तो पूरी की जा सकती है; स्वाध्याय नहीं। अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन मनन और भक्ति की विभिन्न क्रियाएँ एक ही वक्त चालू रखी जाती हैं और आत्मा के किसी 'विशिष्ट' को समझने-जानने पर ध्यान दिया जाता है, तब होता है स्वाध्याय। एक पुराण की ४ पंक्तियाँ प्रतिदिन पढ़ कर जीवन बिताते रहना स्वाध्याय नहीं है। चार पंक्तियों में जीवन की सार्थकता समझना-देखना स्वाध्याय है। स्वाध्याय स्वगत है। ○

तीर्थकर : मार्च ७९/९

सुकुमारिका

कमलः निष्प्रभ होता गया अपराह्न का सूर्य। निकटतर होता गया सन्ध्या का अन्धकार। कंसी नीलाभ-सी होती गई द्रुमलताएँ!! सहसा उसे लगा जैसे कोई उससे प्रश्न कर रहा है - 'तुम्हें क्या चाहिये तदस्विनी?'

□ गणेश ललवानी

शुष्क, नीरस, आर्द्रताहीन मरुस्थली-सा था श्रेष्ठिकन्या सुकुमारिका का जीवन; अथवा निदाघ की प्रखर सूर्य-किरणों से तप्त मध्याह्न के प्रज्वलित दावानल-सा। कहीं भी जरा-सी शीतलता नहीं, स्निग्धता नहीं, छाया का लेशमात्र नहीं। जैसे एक भयंकर अभिशाप के नागपाश ने आवेष्टित कर रखा है, उसका समग्र जीव, उसका समग्र अस्तित्व।

... किन्तु, क्या है वह अभिशाप इसे सुकुमारिका नहीं जानती थी।

यौवन के आविर्भाव में विकसित हो उठी थी उसकी वह सुन्दर देहलता। स्रोतस्विनी-सी चंचल। सुस्मित अधरों पर जाग रही थी, उष्ण अनुराग-भरे युगल अधरों के दबाव से पीड़ित होने की तृष्णा। समुत्सुक हो उठी थी किन्हीं बलिष्ठ बाहु-बन्धनों में आबद्ध होने की अभीप्सा; किन्तु, क्या यह सम्भव है? किसी दिन भी सम्भव है?

प्रासाद-संलग्न उद्यान-वाटिका में पुत्राग (नागकेशर) वृक्ष-तले पुष्पदल-पुञ्जों के कोमल आसन पर आ बैठी थी सुकुमारिका। देख रही थी स्वच्छ सलिल सरोवर को, दूर-दूर तक विस्तृत नीलवर्ण निबिड़ कानन को। क्या उस नीलवर्ण कानन की स्निग्धता उसके हृदय को स्निग्ध कर सकेगी? क्या वह नवजलधर-सा कान्तिमय सरोवर-जल उसके अन्तर्दाह को शान्त कर सकेगा?

तभी धीरे-से पार्श्व में आ खड़ी हुई सखि सुचारिता। सान्त्वना की भाषा में वह कुछ कहना चाह रही थी; किन्तु शब्द फूट न सके। हठात् सुकुमारिका के युगल कपोलों को प्लावित कर डाला अविरल बहती अश्रुधारा ने। आवेग में वायु-कम्पित केतकी-पत्र की भाँति काँप रही थी उसकी देह-यष्टि।

'शान्त हो जाओ सुकुमारिके!'

... किन्तु-कैसे शान्त बने सुकुमारिका। नारी-जीवन की जो सार्थकता है वधू बनने में, जननी बनने में वह उसके जीवन में सत्य होने जाकर भी सत्य नहीं हो पायी।

स्मरण हो आया वैशाखी पूर्णिमा का वह दिन जिस दिन सुहृदिता ने ही उसे वधू-वेश में सुसज्जित किया था। स्मरण हो आया वर्षायित दुकूलों से, कुसुमों

तीर्थकर : मार्च ७९/१०

से, आभरणों से, अंगराग से सुसज्जित होकर उस दिन सप्तपदी के अन्त में श्रेष्ठि-पुत्र सगर के साथ मधुचन्द्रिका यापन करने के लिए उसका केलिगृह में प्रवेश। वैशाखी पूर्णिमा के द्वितीय प्रहर में पूर्वेन्दु-शोभित आकाश से कुन्द-धवल कौमुदी-धारा आ-आकर लौट रही थी उसकी शैथ्या पर। उसी शान्त ज्योत्स्ना-लोक में एक ममता-मथित सुस्मित दृष्टि किये उसके मुख की ओर देख रहा था उसका प्रेमास्पद। जबकि उल्लासलील आवेग में थर-थर काँप रही थी उसकी देह। मानो उसका समस्त जीव, यौवन एक परम सार्थकता में पर्यवसित हो रहा था। वह अनुभव कर रही थी दो वलिष्ठ बाहुओं के प्रतिक्षण बढ़ते दबाव को, उष्ण निःश्वासों की सुरभि को—लगता था इतनी मादकता तो किसी पुष्प-सुवास में भी नहीं होती। . . . किन्तु पर मुहूर्त में ही 'ज्वाला-ज्वाला' चिल्लाते हुए उसने उसे दूर धकेल दिया था। तो क्या वह विषकन्या है, जिसके स्पर्श ने उसके प्रेमास्पद की देह में ज्वाला उत्पन्न कर दी? सगर ने उसी रात्रि में उस वासरगृह का ही परित्याग नहीं किया, परित्याग कर चला गया था चम्पकनगरी को भी और आज तक यह पता ही न चल सका कि वह कहाँ है? उसके इस दुर्भाग्य को, दुर्भर यौवन-भार को वह कैसे वहन कर सकेगी?

पिता सागरदत्त की दुश्चिन्ता का भी अन्त नहीं था। उसकी एकमात्र कन्या थी सुकुमारिका। उसने तो धोम्य हाथों में ही समर्पित किया था सुकुमारिका को। . . . किन्तु गहन थी कर्मगति—नहीं तो इतनी सुन्दर, शोभना नारी के स्पर्श में क्या ज्वाला होती? क्या कर सकता था सागरदत्त?

नहीं, कुछ नहीं कर सकता था सागरदत्त। कारण, समाज के विधानों का उल्लंघन कर, उल्लंघन कर शिष्टाचार का, अर्थदान से वशीभूत करके एक अन्य युवक को सम्प्रदान कर दिया था सुकुमारिका को, ताकि उसका जीवन पुष्पित हो उठे। . . . किन्तु पुनरावृत्ति हुई उसी प्रथम वासर रात्रि की। वह भी श्रेष्ठिपुत्र सगर की भाँति 'ज्वाला-ज्वाला' चीत्कार करता हुआ जो वासरगृह से अदृश्य हुआ तो फिर कभी नहीं लौटा।

केकारव ध्वनित हो रहा था तमाल पत्रों के अन्तराल से; किन्तु क्या सुकुमारिका के जीवन में कोकोत्कण्ठा वर्षा-भयूरी के मन का आनन्द किसी दिन भी सत्य नहीं होगा?

दिन बीते, महीने बीते, वर्ष बीते। एक-एक दिन एक-एक वर्ष की प्रतीति लिये लौटा; किन्तु सुकुमारिका के जीवन की दुःसहता का अन्त नहीं हो पाया। कभी-कभी सोच उठती—तब क्या प्रयोजन है इस देह-भार को वहन करने का? इसका अन्त कर डालना ही तो सुखकर है। इस बार सरोवर-जल में स्नान के लिए उतरकर वह पुनः नहीं लौटेगी।

सुकुमारिका का यह मनोभाव पिता सागरदत्त से भी छिपा न रह सका। बोले—'बेटी! असमय में जीवन का अन्त करना उचित नहीं। उससे किंचित् भी

तीर्थकर : मार्च ७९/११

लाभ नहीं होगा; बल्कि नवीन जीवन में पुनः इसी दुर्बल वेदना को वहन करना पड़ेगा। तुम्हारी इस विडम्बना के पीछे है पूर्वजन्म कृत कोई अशुभ कर्म; अतः धैर्य धारण कर धर्म-जागरणा में उसे क्षय करने की कोशिश करो, जिससे तुम्हारा नवीन जीवन शुभ बने, श्रेय बने।'

पिता की बातों से कुछ आश्वासन मिला सुकुमारिका को। बोली—'पिताजी, तब मैं साध्वी-धर्म ग्रहण करूँगी।

दीर्घ निःश्वास निकल पड़ा सागरदत्त के वक्षस्थल से। बोले—'बेटी, जैसी तुम्हारी अभिरुचि'।

आर्यिका गोपालिका से साध्वी-धर्म ग्रहण कर लिया सुकुमारिका ने। वह स्वयं को भूल जाना चाहती थी धर्म-जागरणा में, उपवास की कृच्छता में, परिषह-भार वहन करने की तितिक्षा में; किन्तु भूल न सकी—ओष्ठाधरों के निपीड़न की प्रथम यौवन की उस अभीप्सा को घन सन्नद्ध आलिंगन के उस स्वप्न को। वह अनुभव कर रही थी उसके हृदय के मरु-अन्धकार की गंभीरता में निर्वासित प्राणों के पद्मकोरक उसी भाँति आज भी प्रस्फुटित हैं, विरुद्ध वायु के ताप से शुष्क होकर वे अभी झरे नहीं हैं।

उसने स्वयं को डुबो देना चाहा और-और अधिक धर्म-जागरणा में, अतः निष्ठुर हो उठी वह स्वयं के प्रति।

किन्तु, शत-शत कृच्छ साधनाओं के बावजूद भी वह उठ न सकी भोग-वासनाओं से ऊपर। उसके मन की भावनाएँ हेमन्ती कुहेलिका की भाँति जैसे और मायावी हो उठी थीं। वह मुक्ति का स्वप्न देख रही थी। वह मुक्ति लोकाकाश के ऊर्ध्व पर स्थित इष्ट प्राग्भार वाली मुक्ति नहीं, उस रक्ष शुष्क विशीर्ण वंचित जीवन से मुक्ति। वह था एक भोगमय जगत् जहाँ दिवस-यामिनी का हर पल नृत्य-गीत और रभस् में विह्वल बना रहता है। पुलकांचित वन-हिरणी की भाँति चकित हर्ष में सुकुमारिका के निविड नयनों की दृष्टि क्षण प्रगल्भता में जैसे तरलित हो उठतीं।

अपने जीवन को और कठोर कर लिया और कृच्छ बना लिया दिनचर्या को सुकुमारिका ने, अन्ततः आर्या गोपालिका के निकट जाकर बोली—'मुझे आज्ञा दीजिये सुभूमिभाग उद्यान में सूर्यातपना करने की।'

आदेश नहीं मिला। आर्या गोपालिका ने निषेध किया—'साध्वियों को उन्मुक्त स्थान में सूर्य-आतापना नहीं करनी चाहिये'।

'क्यों नहीं करनी चाहिये?'—प्रश्न जाग उठा सुकुमारिका के अन्तर में। इस निषेध से उसका हृदय विभ्र हो उठा। जब वह गृहस्थाश्रम में थी तब तो ये आर्याकाएँ उसकी इच्छाओं का इस प्रकार निरादर नहीं करती थीं। 'आज क्यों

तीर्थकर : मार्च ७९/१२

वे उसके प्रति इतनी अकृष्ण हो उठी हैं। एक गम्भीर वेदना ने क्लिष्ट कर डाला उसके अन्तर को। नहीं, वह अवश्य ही सूर्यातापना करेगी सुभूमिभाग उद्यान में। फिर ?

फिर क्या होगा - यह कहाँ जानती थी सुकुमारिका।

निषेधाज्ञा की उपेक्षा कर सुभूमिभाग उद्यान में आयी सुकुमारिका सूर्यातापना के लिए। सूर्याभिमुख होकर लीन हो गई आत्मानुचिन्तन में।

समय व्यतिक्रान्त हुआ—किन्तु सुस्थित नहीं हुआ सुकुमारिका का मन।

क्रमशः निष्प्रभ होता गया अपराह्न का सूर्य। निकटतर होता गया सन्ध्या का अन्धकार। कैसी नीलाभ-सी होती गई द्रुमलताएँ। सहसा उसे लगा जैसे कोई उससे प्रश्न कर रहा है—‘तुम्हें क्या चाहिये तपस्विनी?’

मुझे क्या चाहिये? मन-ही-मन चिन्तन किया सुकुमारिका ने। ठीक पर मुहूर्त में ही उसे दिखाई दीं दो सुन्दर आँखें जो कि ज्योत्स्ना-समुद्र-तरंग की भाँति विपुल प्रणयोच्छल आह्वान से आलोकित थीं। मुग्ध हो उठी सुकुमारिका।

‘तुम्हें क्या चाहिये तापसिका’— फिर वही-प्रश्न सुनायी पड़ा।

मुझे क्या चाहिये? ओष्ठाग्रों पर जो कुछ आना चाह रहा था उसे लौटा लिया था सुकुमारिका ने—नहीं, उसे नहीं चाहिये निर्वाण—नहीं चाहिये मुक्ति। उसे चाहिये स्वप्न-सिहर दिवस, मरुद्यानों की स्निग्धता, जीवन के क्षणिक आनन्द का अमृत।

‘तुम्हें क्या चाहिये श्रमणिका?’—तृतीय बार फिर वही प्रश्न।

‘कौन प्रश्न कर रहा है?’—सुकुमारिका सोचने लगी। उसे देखने के लिए आँखें खोलीं उसने; किन्तु कोई तो नहीं था उसके समीप। तभी देखा दूर सप्तपर्ण तरु की छाया में एक प्रेमिक की क्रोड़ को मुशोभित किये बैठी थी एक वारांगना। उसकी उर्मिल केशराशि को सहेज रहा था एक दूसरा प्रेमिक तीसरा वीजनपत्र आन्दोलित कर उस वारांगना के स्वेदांकुर-व्यथित कपोल पर समीर संचारित कर रहा था। चतुर्थ नवीन किसलय वृन्त को कुसुमरस में अनुलिप्त कर उसके वक्ष-पट पर पत्रलिखा अंकित कर रहा था। पंचम अनुराग के आवेग में उसके पदद्वय निज क्रोड़ में लेकर निपुण शिल्पी की भाँति उसे अलक्तराग से रजित कर रहा था।

सद्यः विकसित पुष्प की भाँति सुस्मित हो उठे माधवी सुकुमारिका के ओष्ठा-धर। वह किसी भी प्रकार उस दृश्य से नेत्र विलग न कर पायी। मन-ही-न बोल उठी—‘सूर्यातापना कर यदि मैं कोई पुण्य-संचय कर सकी हूँ तो मुझे भी परवर्ती जीवन में प्राप्त हों इसी प्रकार पंच प्रिय पति और मैं भी उनके द्वारा इसी प्रकार संवर्द्धित हों।’

(त्रिंशष्टि शलाका पुरुष चरित्रान्तर्गत द्रौपदी का पूर्व जीवन; बांग्ला से अनुबाद : श्रीमती राजकुमारी बेगानी)

तीर्थकर : मार्च ७९/१३

चर्चा / एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से

□ जैनधर्म : सरलतम शब्दों में □ भेदविज्ञान : अत्यन्त सरल, अत्यन्त गूढ़ □ भेदविज्ञान और ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त : एकरूपता □ अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष : शुभारंभ घर से हो □ शिशु और मुनि की उपमा : कहाँ तक संगत, कहाँ तक असंगत □ युग-संदर्भ में जैनों की भूमिका और विकास।

जैनधर्म : सरलतम शब्दों में

डॉ. नेमोचन्द जैन : आप हमारी वर्तमान पीढ़ी में हैं और इस समय अध्यात्म विद्या के बहुत बड़े केन्द्र हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि यदि किसी को जैनधर्म को कम-से-कम शब्दों में और सरल-से-सरल शब्दों में सामने रखना पड़े तो कैसे रखेंगे ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : जैनधर्म को यदि किसी के सामने सरल-से-सरल भाषा में रखना हो, आचार्यों ने इसे बहुत ही सुलभ और सरल रीति से बताया है। प्रारंभिक अवस्था में आत्मा को समस्त पदार्थों से पृथक् समझें। स्वतन्त्र सत्ता के रूप में कि आत्मा शाश्वत है और संसार के बाकी सब पदार्थ संयोग-मात्र हैं। उन संयोग-मात्र पदार्थों को इस जीव ने आसक्ति से, राग से अपना रखा है और यह उन पर पदार्थों में रमण कर रहा है, इसके कारण यह दुःखी है। राग दुःख का एक बहुत बड़ा कारण है। मैं मोटे तौर से यह दृष्टान्त दे दूँ, सोने के मृग को देखकर सीता को राग हुआ, राम को राग हुआ और सीता को देखकर रावण को राग हुआ, इसलिए सारे ही दुःख में फँस गये। राग एक आग के समान है। राग के पीछे जो वीतराग भाव रखता है वह किसी भी छोटे-से-छोटे पदार्थ में फँसकर अपने को दुःखी बना कर इस अणु संसार में भ्रमण नहीं करता है। इसलिए भेदविज्ञान के प्रारम्भ में यह समझ कर कि राग आग के समान है, यह दुःख के लिए कारण है, शनैः शनैः इस पर विजय पाने की कोशिश करना है। आत्मा का यह धर्म है और महावीर का यही उपदेश है।

भेदविज्ञान : अत्यन्त सरल, अत्यन्त गूढ़

डॉक्टर : आपने अभी भेदविज्ञान शब्द काम में लिया, यह तो जैनधर्म का

तीर्थंकर : मार्च ७९/१४

एक पारिभाषिक शब्द है। इस पर भी बहुत सरल शब्दों में प्रकाश डालने की कृपा कीजिये।

एलाचार्य : भेदविज्ञान की जैनशास्त्रों में विविध रूपों में चर्चा है। वह अत्यन्त सरल भी है और गूढ़ भी है। सरल में इसलिए कह रहा हूँ कि अल्पज्ञानी निर्मोही मोक्षमार्ग पर है। हमारे यहाँ मोहरहित ज्ञान को ही श्रेष्ठ माना है और वही मुक्ति का कारण माना गया है। भेदविज्ञान के लिए द्रव्यश्रुत बहुत छोटा-सा है। जैसे अग्नि की चिनगी छोटी होती है न, परन्तु वह तो विशाल वन को भस्म करती है। इसी तरह पं. टोडरमलजी ने लिखा है, कुन्दकुन्दाचार्य ने भी लिखा है : 'तुसमासंधोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो'। 'तुषमाष' - (दाल अलग और छिलका अलग) - इस छोटे-से द्रव्यश्रुत को लेकर और भावविशुद्धि के कारण अनन्त भावश्रुत से उसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। यही बात दोहराते हुए टोडरमलजी कहते हैं कि शिवभूति की स्थिति भी यही है। 'तुषमाष' शब्द सिद्धान्त नहीं है, परन्तु आपा-पर भेदविज्ञान से उक्त विज्ञानी (शिवभूति) हो गया। वह जीव, अजीव, द्रव्य, गुण, पर्याय इत्यादि कुछ भी नहीं जानता था; परन्तु आत्मा और शरीर अलग - इस भेदविज्ञान को रटते-रटते और भावश्रुत में परिवर्तित करके वह भेदविज्ञानी हो गया।

डॉक्टर : यानी भेदविज्ञान में कुछ चीजों को अलग-अलग करना होता है। वह आत्मा और पुद्गल को अलग करने का विज्ञान है।

एलाचार्य : जीव अन्य है, पुद्गल अन्य है। इसलिए कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' में साधना-रूप में बताया है मैं सूत्र बताकर उस पर अपने विचार प्रकट करूँगा। वे कहते हैं :

'केवलसत्ति सहावो सोहं इदि चित्तए णाणी' यानी ज्ञानी पुरुष कौन है— 'सोहं'। उस परमात्मा के समान ही मेरा आत्मा भी है - ऐसा जो चिन्तन करता है, अनुभव करता है, वही ज्ञानी है।

डॉक्टर : बहुत अच्छा।

एलाचार्य : 'जाणदि पस्सदि' - वह जानता है और देखता है। उपयोग में आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा-मात्र है। ऐसे जो कोई भी अनुभव-चिन्तन प्रत्यक्ष रूप से करने लगता है, वह ज्ञानी है। इसलिए कुन्दकुन्द ने एक बात कही : 'सोहं इदि चित्तिज्जो तत्थेदं य कुणदि थिरभावे' - उस परमात्मा के निराकार-निरंजन रूप चैतन्य आत्मा के समान मेरा आत्मा है। वह समस्त पृथ्वी-मण्डल के पदार्थों से स्वतन्त्र सत्ता लिये हुए है और द्रव्यगुण-पर्याय सहित मेरा आत्मा है; क्योंकि हमारे यहाँ आत्मा को कूटस्थ नहीं माना है और कोई पदार्थ को भी कूटस्थ नहीं माना है। इसलिए और शाश्वत, ध्रुव होते हुए भी मेरा आत्मा परिणमनशील है और उसके द्रव्य गुण सारे ही शुद्ध हैं। मैं द्रव्यदृष्टि से परमविशुद्ध हूँ। इस तरह से

तीर्थंकर : मार्च ७९/१५

जब आत्मा में वह चिन्तन करता है, समस्त पदार्थों से थोड़ी देर के लिए मुक्त हो जाता है, तो उसकी दृष्टि अनन्त विकल्पों से हट कर एक आत्मा पर स्थिर हो जाती है, तो वही भेदविज्ञान के लिए कारण बन जाती है। भेदविज्ञान को जानना जितना सरल है, उतना ही एकाग्रता से और अपने अन्दर अनुभव करते हुए उसे उसे प्राप्त करना सरल नहीं है।

भेदविज्ञान और ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त : एकरूपता

डॉक्टर : कठिन बात है। मैंने एक लेख लिखा था, उसमें गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त को भेदविज्ञान से जोड़ने का प्रयत्न किया था। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त में व्यक्ति की सम्पत्ति तो होती है, लेकिन वह 'डिसऑन' कर देता है, उस पर से अपना स्वामित्व हटा लेता है। भेदविज्ञान में भी हम आत्मा का स्वामित्व शरीर पर नहीं मानते हैं, उसे हम 'डिसऑन' करते हैं, अलग हटाते हैं। तो आप क्या सोचते हैं कि ट्रस्टीशिप जैसा सिद्धान्त भेदविज्ञान से कहीं मेल खाता है?

एलाचार्य : बात यह है, जब शरीर भी हमारा नहीं मानकर भेदविज्ञान से हटा दिया, तो अनन्त पदार्थों पर हम अपना स्वामित्व कैसे मन में रख सकते हैं? इसलिए वह अपने-आपमें ट्रस्टीशिप ही है। इतना ही नहीं, अन्य पदार्थों की तो बात ही छोड़ दीजिये। कुन्दकुन्द ने कहा, हे मुनि! हे तपस्वी!! इस शरीर से तुझे काम लेना है, इसलिए इसे थोड़ा-सा खर्च के रूप में या तनख्वाह के रूप में उसे भोजन देना है, अन्यथा इस शरीर से तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य पदार्थों से तो ट्रस्टीशिप है ही। कोई संशय नहीं व्यावहारिक रूप में और निश्चय रूप में तो अपने शरीर को भी परिग्रह माना है, तो अन्य पदार्थों की बात ही क्या है? इसलिए व्यावहारिक रूप में इस दुनिया में ट्रस्टीशिप शब्द बहुत सुन्दर है। इसके परिपालन के बाद दुनिया के जितने भी विवाद हैं वे अपने आप—स्वयमेव समाप्त हो सकते हैं।

डॉक्टर : जो भेदविज्ञानी होगा वह अपरिग्रही तो अपने आप ही हो गया। उसके लिए परिग्रह का प्रश्न ही नहीं है। जब शरीर ही उसके लिए परिग्रह है, तो शेष सारे पदार्थ परिग्रह हैं ही। इसलिए ट्रस्टीशिप सिद्धान्त और भेदविज्ञान में से जिस अपरिग्रह का जन्म होता है, वह बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

एलाचार्य : सही है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष : शुभारंभ घर से हो

डॉक्टर : मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि सारे हिन्दुस्तान में ही नहीं, अन्य देशों में अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष मनाया जा रहा है। जैनों को भी इसे किसी-न-किसी रूप में संपन्न करना चाहिये और बालकों में एक संस्कार उत्पन्न करना चाहिये। चूंकि वह हमारी ऐमी पीढ़ी है जो अगर बन नहीं पायेगी, तो बड़ी

तीर्थंकर : मार्च ७९/१६

कठिनाई होगी। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि जैनधर्म में ऐसी कौन-कौन-सी बातें हैं, जो बच्चों में हम आरंभ से बीज-रूप में डाल सकते हैं?

एलाचार्य : यद्यपि भारतीय साहित्य में और विशेषकर संस्कृत में 'सुपुत्रो कुलदीपकः' माना गया है यानी सुपुत्र जो है वह कुलदीपक है। इसलिए इस बाल वर्ष को जो इतने विशाल रूप से मनाया जा रहा है, वह एक-एक घर से शुरु होना चाहिये; क्योंकि माता-पिता यदि सुसंस्कार-संपन्न हों, सुशिक्षित हों और वे नागरिक के अच्छे गुणों को जानते हों या स्वयं परिपालन कर रहे हों, तो वे बच्चों को आदर्श बना सकते हैं, संस्कार दे सकते हैं और वह घर से ही शुरु हो जाना चाहिये तभी हम विशाल विश्व के अन्दर इसको सफलता के रूप में देख सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक घर की अपनी परिपाटी है, अपनी रुचियाँ हैं। व्यापक रूप से बच्चों का स्वास्थ्य अच्छा रहे, वे परस्पर प्यार करना सीखें; अपने आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान को लिये हुए इस विशाल विश्व में हम किसी पर पदार्थ पर इतना बड़ा स्वामित्व स्थापित न करें, जिससे हमारा जीवन ही खतरे में पड़ जाए या हम समाप्त हो जाएँ; इसलिए व्यापक रूप में ऐसा वातावरण तैयार किया जा सकता है जिसमें भावी पीढ़ी मुखी हो और उसे ऐसा मार्ग मिले जिम पर चलकर युगों तक मानव हिंसा से और परस्पर की आपत्तिजनक बातों से मुक्त हो और उनमें वैचारिक क्रान्ति आये, जिससे मानव-मात्र को आत्मशान्ति प्राप्त हो, यह एक दृष्टि हो सकती है, उसके उपाय और साधन अलग हो सकते हैं; परन्तु साधन और उपाय तो हर घर की परिपाटी के अनुसार होंगे, माथ में जो संस्कार होते हैं, उनको अलग करना बहुत मुश्किल है।

शिशु और मुनि की उपमा : कहाँ तक संगत, कहाँ तक असंगत

डॉक्टर : कुन्दकुन्दाचार्य ने तो अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष पहले ही मना लिया। चूँकि उन्होंने अपनी गाथा में कहीं कहा है, दिगम्बर मुनि एक 'सद्यःजात शिशु' की तरह होता है। क्या आपको ऐसा स्मरण आता है? क्या आप कृपया इसका विश्लेषण करेंगे कि एक दिगम्बर मुनि की बालक की भूमिका में कैसे परिकल्पना की जाती है? बालक और मुनि में वे कौन-से गुण हैं, जो दोनों को समान बना देते हैं?

एलाचार्य : जैनशास्त्रों में सद्यःजात शिशु-जैसा व्यावहारिक रूप में तो कहा गया, परन्तु उसको जब हम गहराई से सोचेंगे, तो विवेक और विवेक-संपन्नता प्रौढ़ता से ही आ सकती है और यह भेदविज्ञान से ही संभव है। जैसे दर्पण में अनेक चीजें झलकती हैं, किन्तु दर्पण से उसका कोई संबन्ध नहीं रहता है, इसी प्रकार विवेक और परमविवेक संपन्न बनना है, तो परिपक्व ज्ञान होना आवश्यक है। बहिरंग में दृष्टान्त के रूप में इस बालक को कुन्दकुन्द और अन्य आचार्यों ने दिगम्बर मुनि से उपमा दी है।

डॉक्टर : बालक की निश्छलता, इसकी निष्कपटता के कारण ।

एलाचार्य : परन्तु बालक में सर्वथा निष्कपटता होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है। छोटे-छोटे बच्चे भी बड़े चालाक होते हैं। इसलिए बालक का एक सामान्य दृष्टान्त रूप में ले लिया, परन्तु सिद्धान्ततः हम देखते हैं कि बालबुद्धि भी खतरनाक हो सकती है। बालक की सरलता-सहजता के जो अच्छे-अच्छे गुण हैं, वे भी होने चाहिये। जब बच्चा मिट्टी में खेलता है, तो उसके मन में राजा-रंक का कोई भेद नहीं होता।

डॉक्टर : राग-द्वेष बहुत कम होता है।

एलाचार्य : हाँ। बड़े लोगों के संस्कार से वह भेदभाव और राग-द्वेष करने लगता है कि जैसे यह अमुक जातिवाला है, वह अमुकवाला है; इसलिए यह सत्य है कि वीतरागता की प्राप्ति के लिए बालक में भी गुण हैं। 'पंचास्तिकाय' के शुरुआत में मंगलाचरण के बाद ब्र. मीतलप्रसादजी ने चार-पाँच गाथाएँ कहीं से उद्धृत की हैं, उनमें उन्होंने कहा है कि बालक भी भगवान् के समान होता है। कुमारी कन्या भी भगवान् के समान होती है। इसी तरह जो शासक होता है, प्रजापालन तथा परिपूर्ण धर्मपालन के कारण वह भी भगवान्-तुल्य होता है। इन सब बातों में यही है कि समताभाव इस विशाल विश्व में जब मनुष्यों में आ जाता है, तो फिर आप उसे बालक नाम दे दीजिये, यथाजात नाम दे दीजिये या वीतरागता नाम दे दीजिये। समताभाव के मूल में सारी चीजें अव्यभिचित हैं।

युग-संदर्भ में जैनों की भूमिका और विकास

डॉक्टर : आपने सारे देश में हिमालय से लेकर काफी दूर तक भ्रमण किया है और अब दक्षिण भारत की यात्रा करने जा रहे हैं। आपको यह अनुभव हुआ होगा कि जैन संख्या में तो बहुत कम हैं, लेकिन चारों तरफ फैले हैं, उन्होंने बहुत अच्छे-अच्छे काम भी किये हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि अभी और भी युग-सन्दर्भों को देखकर जैनों को अपने चरित्र का बहुत अधिक विकास करना चाहिये। ऐसी कौन-सी सामाजिक स्थितियाँ हैं, जिनके कारण वे अपने चरित्र में और सुधार कर सकते हैं, मदाचार इत्यादि में?

एलाचार्य : जब हम अपने अतीत के इतिहास को देखते हैं, तो वास्तव में हमारे पूर्वजों ने साहित्यिक क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, सच्चरित्रता के क्षेत्र में भी बहुत ऊँचा नाम कमाया। मैं 'जपुजी' (एक छोटी-सी गुटिका) पढ़ रहा था।

डॉक्टर : अच्छा; नानकजी की।

एलाचार्य : हाँ, उसमें एक स्थान पर लिखा है कि श्रावक बड़े आचरणशील होते हैं और सिद्धों की पूजा करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि हमारा अन्य
(शेष पृष्ठ ३१ पर)

तीर्थंकर : मार्च ७९/१८

जैन विद्या : विकास-क्रम / कल, आज (७)

□ परस्पर शास्त्रार्थ □ श्वेताम्बर समाज एवं साहित्य-सेवा □ जैन संस्कृत-साहित्य □ प्राकृत भाषा एवं जैन विद्या

— डॉ. राजाराम जैन

समय-समय पर किसी गंभीर विषय पर जैन विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ हुए हैं। जिनके प्रमुख विषय ध्वला का 'संजद' पद तथा 'निमित्त एवं उपादान' प्रधान रूप से माने जा सकते हैं। ऐसे शास्त्रार्थी विद्वानों में डॉ. हीरालाल जैन, पं. हीरालाल शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. फूलचन्द्रजी, पं. बंशीधरजी बीना, पं. रामप्रसादजी शास्त्री, बम्बई आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार के शास्त्रार्थ-ग्रन्थों के प्रकाशनों में 'खानिया-तत्त्वचर्चा' एवं 'संजद शब्द : विरोध परिहार' आदि प्रमुख हैं।

श्वेताम्बर समाज एवं साहित्य की सेवा

दिग. जैन समाज में कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो परिस्थिति-वश श्वेताम्बर जैन समाज के बीच में रहे तथा वहाँ यथोचित सम्मान-पुरस्कार मिलने के कारण वे उनमें बल-मिल गये। ऐसे विद्वानों में पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री (मालथौन) एवं पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल प्रमुख हैं। पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री के विषय में पिछले प्रकारण में चर्चा हो चुकी है। पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल (सागर) श्वेताम्बर साधु एवं साधिव्यों को ब्यावर के एक गुरुकुल में अर्धमागधी आगम साहित्य का अध्ययन करा रहे हैं साथ ही आगम-साहित्य-सेवा भी कर रहे हैं। उनकी कृतियों में सूत्र-कृतांग टीका, हजारामल स्मृति ग्रन्थ, मुनि भित्रीलालजी अभिनन्दन-ग्रन्थ आदि प्रमुख हैं।

जैन-संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में

दिगम्बर जैन परम्परा का संस्कृत साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया। इसकी प्राचीनतम परम्परा ७ वीं सदी से प्रारम्भ मानी जाती है, जो १५-१६ वीं सदी तक निर्वाध चलती रही। इसमें सभी विधाएँ उपलब्ध हैं यथा — रामकथा-सम्बन्धी साहित्य—पद्यचरित (रविषेण, ६७६ ई.) एवं रामचरित (सोमसेन भट्टारक, १६६७ वि. सं.)। महाभारत कथा-सम्बन्धी साहित्य — हरिवंशपुराण (जिनसेन, ७८३ ई. के पूर्व), हरिवंशपुराण (सकलकीर्ति, वि. सं. १४५०-१५१०) तथा पाण्डवपुराण (शुभचन्द्र, १५५१ ई.)। पौराणिक कथा-साहित्य-आदिपुराण (जिनसेन द्वितीय—८९८ ई.) उत्तरपुराण (गुणभद्र ९ वीं सदी ई.) एवं त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (आशाधर १३ वीं सदी), चरितकाव्य — वरांगचरित (जयसिंह नन्दि ८ वीं सदी), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि), धर्मशर्माशुद्ध काव्य (हरिचन्द्र), शान्तिनाथचरित (असग, १० वीं

तीर्थकर : मार्च ७९/१९

सदी), शान्तिनाथ चरित (सकलकीर्ति, १५ वीं सदी), नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट, १२ वीं सदी), पार्ष्वनाथचरित (वादिराज, १०२५ ई.), वर्धमान चरित (असग, १८८ ई.), दूतकाव्यों एवं रस-अलंकार साहित्य में—पार्ष्वाम्बुदय (जिनसेन, ९वीं सदी) एवं नेमिदूतकाव्य (विक्रम), अलंकार चिन्तामणि (अजितसेन, १५ वीं सदी ई.); व्याकरण-साहित्य—जनेन्द्र व्याकरण (देवनन्दि पूज्यपाद, ५-६ वीं सदी), शब्दानुशासन (शाकटायन, ८१४-८६८ ई.), कातन्त्र व्याकरण (सर्ववर्मा, समय अज्ञात), कोश-साहित्य—नाममाला एवं अनेकार्थ नाममाला (धनञ्जय, ७८०-८१६ के मध्य), उपन्यास-साहित्य — गद्यचिन्तामणि (वादीभस्मिहसूरि), कथा-साहित्य—कथाकोश (हरिवेण, ९३१ ई.), कथाकोश (प्रभाचन्द्र, १३ वीं सदी), आराधना कथाकोश (नेमिदत्त १६ वीं सदी), पुण्याश्रवकथाकोश (रामचन्द्र मुमुक्षु) एवं सम्पत्त्व कौमुदी (शुभचन्द्र, वि. सं. १६८०)। नाटक-साहित्य—विक्रान्त कौरव, सुभद्रा-परिणय, मथिली कल्याण एवं अंजना-पवनंजय (हस्तिमल १३वीं सदी)। सवत्क काव्य—सुभाषित रत्नसंदोह (अमितगति १०-११ वीं सदी), आत्मानुशासन (गुणभद्र, ९वीं सदी) एवं जानार्णव (शुभचन्द्र, ११वीं सदी); पंचस्तोत्र-संग्रह आदि।

वर्तमान युग के दि. जैन विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपनी चमत्कारी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। सन् १९१६ के आसपास पं. गजाधरलालजी शास्त्री ने हरिवंशपुराण एवं अन्य कुछ ग्रन्थों के सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद किये थे जो प्रवाहपूर्ण एवं प्रामाणिक थे किन्तु अनुवाद के साथ मूलभाग संयुक्त न रहने से शोधार्थियों को बड़ी कठिनाई होती थी। अन्य अनेक ग्रन्थों के भी हिन्दी एवं मराठी अनुवाद प्रकाशित हुए तथा उनके कारण समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी बढ़ी; किन्तु अधिकांश के अनुवाद प्रामाणिक न होने तथा उनके साथ भी मूलभाग न रहने से शोध की दृष्टि से वे ग्रन्थ विद्वज्जगत् में अनुपयोगी सिद्ध हुए।

शोध-जगत डॉ. पं. पन्नालालजी वसन्त (पारगुआँ, सागर, १९११ ई.) का सदा आभारी रहेगा, जिन्होंने दि. जैन पुराण एवं काव्य-साहित्य का अधुनातन दृष्टि से सम्पादन, अनुवाद किया एवं उनकी समीक्षात्मक प्रस्तावनाएँ लिखीं। उनके इस प्रकार के ग्रन्थों में (१) हरिवंशपुराण (जिनसेन), (२) पद्मपुराण, (रविवेण), भाग १-३, (३) महापुराण, भाग १-२ (जिनसेन) (४) उत्तरपुराण, (गुणभद्र), (५) धन्यकुमार चरित (सकलकीर्ति), (६) जीवन्धर चम्पू (हरिचन्द्र), (७) गद्य-चिन्तामणि (हरिचन्द्र), (८) धर्मशाम्भुदय (हरिचन्द्र), (९) पुरुदेव चम्पू (अर्हद्वाम), (१०) विक्रान्तकौरव (हस्तिमल, १३ वीं सदी) प्रमुख हैं। पं. पन्नालालजी की काव्य-प्रतिभा ने जैन विद्या एवं जैन समाज दोनों को ही (अपनी कृतियों के माध्यम से) गौरव के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया है। एक ओर वे कुशल सम्पादक एवं समीक्षक हैं, तो दूसरी ओर वे संस्कृत के कवि भी। संस्कृत के विविध छन्दों में वे धाराप्रवाह काव्य-रचना करते रहे हैं, जिनमें से गणेशाष्टकम् एवं पेटपूजा

प्रभृति संस्कृत कविताएँ सरस, भाविक एवं ज्ञेय होने के कारण बड़ी लोकप्रिय रही हैं। आपकी कार्य-क्षमता, जिनवाणी-सेवा एवं समाज-सेवा से प्रभावित होकर मध्य-प्रदेश शासन, भारत सरकार, विद्वत्परिषद् एवं अन्य अनेक स्थानीय संस्थाओं ने आपका सार्वजनिक सम्मान किया है। पिछले लगभग २३ वर्षों से आप अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के महामन्त्री के रूप में कार्य करते चले आ रहे हैं।

पं. अमृतलालजी शास्त्री (बमराना, उ. प्र. १९१९ ई.) उन विद्वानों में से हैं जिनके व्यक्तित्व को विपत्तियों ने वरदान बन कर सँवारा-सजाया। वे विघ्न-बाधाओं को सदा ही गुरु का दण्ड मानकर अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के प्रति जागरूक एवं सतत् अध्यवसायी बने रहे। पं. अमृतलालजी का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार है। वे संस्कृत के आशुकि हैं। उनके प्रियतम ग्रन्थ चन्द्रप्रभचरित, धर्म-शर्माभ्युदयकाव्य, पार्श्वार्थभ्युदयकाव्य एवं गद्यचिन्तामणि रहे हैं। यदि वे चाहें तो कुमारसम्भव एवं मेघदूत की कोटि की रचनाएँ स्वयं लिख सकते हैं; फिर भी वे अत्यन्त निरभिमानी, सरल, उदार, कष्टसहिष्णु एवं स्वाभिमानी विद्वान् हैं। जैन-समाज को चाहिये कि जैन साहित्य की उद्धार-सम्बन्धी कोई योजना बनाकर उनकी दैवी प्रतिभा का सदुपयोग करे।

पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री के विषय में पूर्व में चर्चा हो चुकी है। उन्होंने हरिभद्र-सूरिकृत षोडशकप्रकरण की १५००० श्लोक प्रमाण संस्कृत टीका तथा विजयहर्षसूरि प्रबन्ध पर ४५० श्लोक प्रमाण संस्कृत टीका लिखी है। इनके मौलिक संस्कृत काव्यों में लोकाशाह महाकाव्य, एवं वचनदूतम् प्रमुख हैं।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री का परिचय पूर्व में दिया जा चुका है। उन्होंने संस्कृत-भाषा में 'गीतिकाव्यानुचिन्तनम्' लिखकर संस्कृत के जैन गीतिकाव्यों का सर्वप्रथम मूल्यांकन किया है जिससे एतद्विषयक शोध के अनेक द्वार खुल गये हैं। अन्य रचनाओं में डॉ. शास्त्री का अलंकार-चिन्तामणि है, जिसके मूल लेखक अजितसेन हैं। यह ग्रन्थ अभी तक मूल रूप में ही प्रकाशित था। डॉ. शास्त्री ने उसका अनुवाद एवं विस्तृत समीक्षाकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

डॉ. राजकुमार जैन (गुंदरापुर झांसी, १९१७ ई.) ने जैन साहित्य की अमूल्य सेवाएँ की हैं। आपने सर्वप्रथम पार्श्वार्थभ्युदय काव्य का हिन्दी गद्य एवं पद्यानुवाद किया। इसी प्रकार बृहत्कथाकोश का भी हिन्दी-अनुवाद किया। अन्य सम्पादित ग्रन्थों में मदन-पराजय एवं प्रश्नमरति प्रकरण हैं।

प्राकृत-भाषा एवं जैन विद्या के क्षेत्र में

श्रमण संस्कृति की मूल भाषा प्राकृत मानी गयी है। इसका मूल कारण यह था कि वह प्राच्यकालीन सर्वमान्य लोकभाषा थी और तीर्थंकरों एवं उनके अनुयायी आचार्यों ने सर्वप्राणिहिताय सर्वप्राणिसुखाय सर्वत्र प्रचलित एवं सर्वसुगम लोकभाषा में ही अपने

उपदेशों का प्रचार-प्रसार किया; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जैनाचार्यों ने अन्य भाषाओं में साहित्य-सर्जना की ही नहीं। उन्होंने लोकदृष्टि को ध्यान में रखकर प्रदेशानुकूल एवं युगानुकूल भाषाओं में इतने ग्रन्थों का प्रणयन किया कि उपलब्ध विश्व-साहित्य में परिमाण की दृष्टि से उतना प्रचुर साहित्य बहुत कम देशों अथवा सम्प्रदायों का होगा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़, तमिल एवं मलयालम में विविध विषयक लक्ष-लक्ष ग्रन्थों का प्रणयन किया गया; किन्तु काल-दोष से साम्प्रदायिक एवं राजनैतिक आँधियों एवं तूफानों में हमारे सहस्रों ग्रन्थ-रत्न नष्ट-भ्रष्ट हो गये। जो कुछ बचे हैं, उनमें से अभी तक सम्भवतः ५ प्रतिशत ग्रन्थों का ही प्रकाशन हो सका है और बाकी के ग्रन्थ हस्तप्रतियों के रूप में अभी प्राच्य ग्रन्थागारों में ही छिपे पड़े हैं और अंधेरे में अपने दुर्भाग्य को कोस रहे हैं।

प्राकृत भाषा प्राचीनतम लोकभाषा अथवा राष्ट्रभाषा थी, इसे भाषा-वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है तथा उनके निष्कर्षों के अनुसार आधुनिक बोलियों का उसी से विकास हुआ है। इस कारण भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में उसे अनिवार्य रूप से स्थान मिलना चाहिये; किन्तु कुछ लोग प्राकृत को जैनियों की भाषा तथा जैनों के साहित्य को मात्र साम्प्रदायिक साहित्य मानकर चलते हैं। यदि प्राकृत भाषा जैनियों की है और प्राकृत साहित्य साम्प्रदायिक है तब बाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनु-स्मृति, अष्टादशपुराण, कालिदास एवं भवभूतिकृत संस्कृत-साहित्य एवं तुलसी, सूर मीरा एवं विद्यापतिकृत साहित्य क्या है? क्या उसे एक वर्ण-विशेष की भाषा या साहित्य मानकर तथा उसे साम्प्रदायिक साहित्य घोषित कर उसकी उपेक्षा कर दें? नहीं यह हमारी भूल होगी। वस्तुतः भाषा तो विचारों के व्यक्त करने का साधन है उस पर किसी जाति या धर्म-विशेष का अधिकार नहीं होता। इसी प्रकार साहित्य हमारी चिन्तन-प्रक्रिया सृजनशील वृत्ति एवं कल्पनाशक्ति का प्रतिफल है; अतः वह राष्ट्र के प्रति समर्पित एक विशेष अंग का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी स्थिति में उसकी उपेक्षा एक विशिष्ट राष्ट्रीय अंग की उपेक्षा होगी तथा पठन-पाठन से दूर रखना बड़ी भारी भूल होगी। जैन विद्वानों एवं जैन समाज को भी इस तथ्य पर गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है। उसे इस दिशा में ऐसा प्रयास करना चाहिये कि केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा चालित प्रतियोगिता-परीक्षाओं तथा विश्वविद्यालयों के इस विविध पाठ्यक्रमों में जैन संस्कृत एवं प्राकृत-साहित्य को भी उपयुक्त स्थान मिल सके।

पं. गणेशप्रसादजी वर्णी (वि. सं. १९३१-२०१८) ने पं. मोतीलाल नेहरू के सहयोग से सर्वप्रथम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संस्कृत महाविद्यालय के पाठ्यक्रम में जैन ग्रन्थों को स्वीकृत कराया। उसके बाद शान्तिनिकेतन, कलकत्ता; पूना, पटना, बड़ौदा के विश्वविद्यालयों में आंशिक रूप से तथा नागपुर वि. वि. में पूर्ण रूप से प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैन साहित्य के पठन-पाठन की व्यवस्थाएँ की गयीं। (क्रमशः)

तीर्थकर : मार्च ७९/२२

भगवान् महावीर : सेवा आज के संदर्भ में

वह ज्वलन्त प्रश्न जो कभी मेरे एक परम आत्मीय ने मुझसे किया था — 'क्या आपके भगवान् महावीर के धर्म में कोई ऐसा सेवा-भाव नहीं है, जैसा कि क्रिश्चियन धर्म में है?' मुनते ही लगा जैसे किसी ने मेरे समस्त सत्त्वं को एकबारगी ही झकझोर डाला हो। क्या महावीर मेरे ही हैं? मैंने उत्तर दिया—'क्यों नहीं है? भगवान् महावीर के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा और साम्यभाव सेवा की धुरी पर ही तो घूम रहे हैं। अहिंसा के संरक्षण के लिए वे चार भात्रनाएँ हैं, जिनमें तीसरी है कारुण्य भावना जो आर्त्त-पीड़ित जनों के लिए ही है।'

वे मुस्कराते हुए बोले — 'तो फिर बतलाइए कुछ ऐसे संस्थानों के नाम और काम?' मुझे लगा जैसे मेरे पैरों-तले धरती खिसक रही है। कोई उत्तर ही नहीं सूझ पाया। ईसाइयों की सेवा-भा महान् आदर्श न मुझे किन्हीं संस्थानों में दीख पाया न किन्हीं अनुष्ठानों में। मैं तुरन्त अतीत की ओर मुड़ी। अकाल-पीड़ितों के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने वाले सेठ जगडू शाह एवं आदर्श सेवाभावी खेमा देवराणी का उदाहरण उनके सम्मुख प्रस्तुत किया वे बोले उठे — 'यह नियम नहीं है, यह तो नियम का व्यतिक्रम है जो आपको हर समाज में मिल जाएगा'। चुप थी मैं। पर तभी स्मृति में उभर आया 'वैयावृत्य'; किन्तु बड़ी संकीर्ण लगी मुझे उसकी परिभाषा: 'बृद्ध ग्लान गुरु या अन्य साधुओं के लिए सोने-चूने का स्थान ठीक करना, उनके उपकरणों का शोधन करना, निर्दोष आहार और औषध आदि देकर उनका उपकार करना, अशक्त हो तो उनका मल-मूत्र उठाना, सहारा देना आदि-आदि।' (भगवती आराधना, ४०५-६) सोचने लगी। यदि ये सब उन्हें सुनाया तो वे मुझ पर बड़ी करारी चोट करेंगे। सेवा के सम्मुख साधु, क्या कुसाधु क्या? सेवा होती है प्राणिमात्र के लिए।

फिर भगवान् महावीर जो अहिंसा की साक्षात् प्रतिमा थे, जिनके लिए न मनुष्य-मनुष्य में अन्तर था न पशु-पक्षी और कीट-पतंगों के लिए। कभी नहीं हो सकता उनका वैयावृत्य वाला सिद्धान्त इतना संकीर्ण, इतना सीमित। तो फिर कहाँ से आ टपका यह सब? प्रश्नकर्ता ने स्वयं जैन होते हुए भी मुझसे कहा था 'आपके महावीर'। ठीक ही तो कहा था। मैंने 'हमने महावीर की 'इमेज' ही गलत बना ली है। भला उस इमेज के महावीर उनके कैसे हो सकते हैं, जिन्होंने उनका सत्य स्वरूप परखा है, बूझा है। कितना लज्जास्पद है यह कि आज का प्रबुद्ध जैन भी महावीर से दूर होता जा रहा है। क्यों न होगा? महावीर के नाम पर हम जो कुछ करते हैं उसका जरा भी तो सामंजस्य नहीं होता उससे जो कुछ हम महावीर के नाम पर कहते हैं। एक ओर हम महावीर के आदर्शों का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार चाहते हैं, दूसरी ओर व्यर्थ के क्रियाकाण्डों की दीवार अपने चारों ओर खड़ी कर कूपमण्डूक-सा जीवन-यापन करते हैं। बस, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक छलांग भरकर कहते हैं हमारा धर्म सब से बड़ा है।

तीर्थंकर : मार्च ७९/२३

लगता है हमारा वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त मात्र प्रवचनों में सुनने के लिए है, स्वधर्म का गौरव-मान करने के लिए है, आत्मा के उत्थान के लिए नहीं, सेवा के लिए नहीं।

सचमुच आज आवश्यकता है, ऐसे युग-प्रवर्तक आचार्यों की जो देश, काल और क्षेत्र की उचित गति को परख कर गतानुगतिकता के संकीर्ण घेरे में प्रवाहित अहिंसा की प्राणदायिनी सलिला को रुढ़ियों की जीर्ण-शीर्ण प्राचीरों से मुक्त कर विशाल रूपा गंगा का 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' वाला रूप दें। पर ऐसा बर्ही कर सकता है, जिसने सुदूर समुद्र के आह्वानों को सुना है, समझा है और पूर्णतः प्रस्तुत है उस तक पहुँचने के लिए अपना सर्वस्व होम कर।

□ राजकुमारी बेगानी, कलकत्ता

'तीर्थंकर' के सम्बन्ध में तथ्य-सम्बन्धी घोषणा

प्रकाशन-स्थान	६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२००१
प्रकाशन-अवधि	मासिक
मुद्रक-प्रकाशक	प्रेमचन्द जैन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२००१
संपादक	डॉ. नेमीचन्द जैन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२००१
स्वामित्व	हीरा भैया प्रकाशन ६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२००१

मैं, प्रेमचन्द जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

प्रेमचन्द जैन

प्रकाशक

१०-२-१९७९

तीर्थंकर : मार्च ७९/२४

ट्रेजर्स ऑफ जंना भण्डारस (अंग्रेजी) : संपादक—उमाकान्त पी. शाह; एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद-९; मूल्य—दो सौ पचास रुपये; पृष्ठ ६०+१००; डिमाई १/४, १९७८।

आलोच्य ग्रन्थ मात्र एक ग्रन्थ ही नहीं है अपितु भारतीय इतिहास की संरचना की एक मजबूत ईंट है। मध्ययुग की कला-गतिविधियों का इतना वैज्ञानिक विवरण अभी अनुपलब्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाण्डुलिपियों की (१ से १०० पृष्ठों तक) जो विस्तृत सूचियाँ दी गयी हैं और जिनके आकलन, वर्गीकरण, एवं व्यवस्थापन में जो परिश्रम, संपदा और शक्ति लगी है, वह उल्लेखनीय है। पाण्डुलिपियों के संग्रहों के लिए जैनों में 'चितकोष, भारती भाण्डागार, सरस्वती भाण्डागार, सरस्वती भण्डार' आदि परम्पारित अभिधान प्रचलित हैं। इन भाण्डारों में अकूत सामग्री सदियों से व्यापक-व्यवस्थित अध्ययन-अनुसन्धान की प्रतीक्षा कर रही है। प्रस्तुत ग्रन्थ उस दिशा में एक प्रशस्त पग है। ग्रन्थ में जो तालिकाएँ दी गयी हैं उनके सात वर्ग हैं—ताड़पत्रीय, लघुचित्रयुक्त, चित्रलिपित, ग्रन्थावरण, सचित्र, पट-मन्त्र-तन्त्र इत्यादि; कांस्य तथा अन्य कला-वस्तु। इन तालिकाओं के अलावा ग्रन्थ में १६ रंगीन प्लेटें तथा ८२ सादा प्लेटें भी दी गयी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलामर्मी एवं पुरा-तत्त्वविद् श्री उमाकान्त पी. शाह ने प्राप्त सामग्री का सुविध मन्थन-परिमन्थन किया है और पश्चिम भारतीय कला-क्षेत्र की कई अजानी विशिष्टताओं को उजागर किया है। प्राक्कथन स्वयं में एक मौलिक कृति है। गुजरात सरकार ने इसका संपूर्ण व्यय-भार वहन कर, एवं इन्स्टीट्यूट ने इसके प्रकाशन का दायित्व निभाकर जो ऐतिहासिक कार्य किया है वह न केवल गर्व-गौरव का विषय है वरन् एक ऐसा बीजांकुर है जो आगे चल कर एक विशाल वृक्षराजि का आकार ग्रहण करेगा। ग्रन्थ संकलनीय, मननीय, ज्ञानवद्धक, सौन्दर्याभिरुचि-संपन्न, मनोज, नयनाभिराम है तथा शोध के कई नूतन क्षितिज उद्घाटित करता है। इस साफ-सुथरे और कलात्मक प्रकाशन के लिए इन्स्टीट्यूट साधुवाद की पात्र है।

प्राकृत स्टडीज (१९७३, प्रोसीडिन्स ऑफ सेमिनार ऑन) : संपादक—डॉ. के. आर. चन्द्रा; वही; मूल्य—चालीस रुपये; पृष्ठ ३२+१८४; रॉयल १/४, १९७८।

समीक्ष्य शोधपत्र-संकलन गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद के प्राकृत विभाग के तत्त्वावधान में मार्च १९७३ में आयोजित 'प्राकृत अध्ययन संगोष्ठी' का कार्य-विवरण है, जो मात्र विवरण ही नहीं है वरन् एक ऐसा सन्दर्भ है जो आनेवाली अनुसन्धान-पीढ़ी के लिए बहुमूल्य मार्गदर्शन सिद्ध होगा। इसमें कुल २५ शोधपत्र

तीर्थकर : मार्च ७९/२५

हैं—५ हिन्दी में, २० अंग्रेजी में; सब-के-सब स्तरीन हैं और नये अध्ययन-टापुओं की टोह लेते हैं। इन्स्टीट्यूट ने विलम्ब से ही सही किन्तु इन्हें प्रकाश में लाकर उन संगोष्ठी-विवरणों को चुनौती दी है, जो अत्यन्त अशुद्ध, अव्यवस्थित और विशृंखलित होते हैं। वस्तुतः अब वे दिन सामने हैं जब पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश का विश्वविद्यालयीन स्तर पर व्यवस्थित अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये, तथा भारतीय भाषाओं और साहित्य के अध्यापक के लिए इन भाषाओं से संबंधित एक प्रमाणपत्र-परीक्षा अनिवार्य कर देना चाहिये, क्योंकि हमारी मान्यता है कि मध्यकालीन भाषाओं और उनके साहित्य की परिचयात्मक जानकारी के बिना भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य का सम्यक् एवं प्रामाणिक अध्यापन संभव नहीं है। विवरण के आरंभिक पृष्ठों (२९-३१) में, जो संक्षिप्त विवरण और अनुशासनाएँ हैं, वे किसी भी विश्वविद्यालय के लिए इस दिशा में आदर्श हो सकती हैं। इतनी उपयोगी सामग्री के प्रकाशनार्थ संस्थान को बधाई।

जैन आयुर्वेद साहित्य की परम्परा : डॉ. तेजसिंह गौड़; अर्चना प्रकाशन, छोटा बाजार, उन्हेल (उज्जैन); मूल्य—दस रुपये; पृष्ठ ११२; क्राउन १/८; १९७८।

'जैन ज्योतिष साहित्य परम्परा' के उपरान्त विद्वान् लेखक की यह दूसरी उल्लेखनीय कृति है, जिसमें ४० जैनाचार्यों के चिन्तन और रासायनिक विश्लेषणों तथा प्रयोगों का यथासंभव परिचय दिया गया है। यह इस बात की सुबूत है कि जैनाचार्य कोरमकोर दार्शनिक ही नहीं थे वरन् उनका ध्यान स्वस्थ साध्य के साथ ही स्वस्थ साधन की ओर भी था; इसीलिए इन मनीषियों ने तन को स्वस्थ-समर्थ रखने के उपाय पर भी विस्तार से तथा अनुसन्धानपूर्ण विचार किया। समीक्ष्य पुस्तक में डॉ. गौड़ ने उपलब्ध सामग्री का मात्र गहन आलोड़न ही नहीं किया है, अपितु विवरण-वर्णन के स्तर से किंचित् ऊँचे उठ कर तथ्यों की समीक्षा भी की है। उन्होंने बताया है कि जैनविद्या में आयुर्वेद रुचि-धारा लगभग पांचवीं सदी ईस्वी में दक्षिण से आयी। समीक्ष्य कृति में नये-पुराने स्रोतों से द्रोहित सामग्री के अलावा कुछ ऐसी संभावनाएँ भी विवृत हैं, जिन्हें आधार मानकर इस क्षेत्र में आगे बढ़ा जा सकता है। बावजूद प्रूफ की मामूली त्रुटियों के पुस्तक साफ-सुथरी अतः पठनीय है।

—नेमीचन्द्र जैन

जैन प्रार्थनाएँ : संकलन-संपादन : प्रो. कमलकुमार जैन; जैन सेन्टर, ग्रेटर बोस्टन, यू. एस. ए., मूल्य-उल्लेख नहीं; पृष्ठ ४०; डिमाई-१९७८।

कनाडा और अमेरिका में बसे जैन भाई-बहनों के निमित्त प्रकाशित पुस्तक ऐसी है, जो अन्य देशों में रहनेवाले जैनों के लिए भी प्रेरक, रोचक और उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

डॉ. नेमीचन्द्र जैन के अंग्रेजी में लिखे गये प्राक्कथन और श्री सन्तोष जड़िया द्वारा रेखांकित कलात्मक तीर्थंकर-चिह्नों ने पुस्तक को आधुनिक और अभिनव बना दिया है।

तीर्थंकर : मार्च ७९/२६

गेट अप, कागज छपाई आदि की दृष्टि से पुस्तक अनुपम है। जैन सेन्टर का यह प्रयास अभिनन्दनीय एवं अनुकरणीय है।

परीलोक, बुद्धिलोक (बालोपयोगी कहानी-संग्रह) : मुनि सुमेरमल; गतिमान प्रकाशन, १२३७, रास्ता अजबधर, जयपुर-३०२ ००३; प्रत्येक का मूल्य—दो रुपये पचास पैसे; क्रमशः पृष्ठ—९२, १०८; क्राउन—१९७८।

आचार्य श्री तुलसी के 'आशीर्वचन' से प्रारंभ होने वाली दोनों पुस्तकों में क्रमशः २१ और १९ सचित्र कहानियों का समावेश किया गया है। बाल-मनोविज्ञान की अद्यतन शैली में तो ये कहानियाँ नहीं हैं (रूढ़ शैली को अपनाया गया है) फिर भी बाल साहित्य के अभाव की पूर्ति का एक रचनात्मक प्रयास है। अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष में नैतिक शिक्षामूलक पुस्तकों के अन्तर्गत इनका उपयोग हो सकता है।

अपने स्वर-अपने गीत : मुनि महेन्द्रकुमार 'कमल'; श्री शीतल जैन साहित्य सदन, मांडलगढ़ (भीलवाड़ा); मूल्य—उल्लेख नहीं; पृष्ठ १७२; क्राउन—१९७८।

प्रस्तुत पुस्तक आराधना, संबोधना, स्तवना, जागरणा, रंगीली रचना और राजस्थानी सरगम नामक खण्डों के अन्तर्गत फिल्मी तर्ज पर १७९ गीतों का संकलन है। लोकोपयोगिता की दृष्टि से ये गीत प्रभावित करनेवाले हैं।

श्रीमद् भगवद्गीता (मालवी-अनुवाद) : निरंजन जमींदार, गीता समिति प्रकाशन, बड़ा रावला, जूनी इन्दौर, इन्दौर ४५० ००४; मूल्य—दो रुपये पचास पैसे; पृष्ठ—१२२; पकिट—१९७८।

अनुवादक के शब्दों में प्रस्तुत पुस्तिका मालवी बोली में और शायद राजस्थानी, बुन्देलखण्डी आदि बोलियों में भी गीता का पहला अनुवाद है। कविवर श्री भवानीप्रसाद मिश्र को इससे गीता का बुन्देलखण्डी में अनुवाद करने की प्रेरणा मिलने का उल्लेख अनुवादक ने किया है। अनुवादक ने अपने को गीता का अधिकारी नहीं मानकर इसे एक बाल प्रयत्न कहा है। गीता का बौद्धिक दृष्टि से अनुशीलन करने वालों में श्री निरंजन जमींदार का नाम उल्लेखनीय है। उनका यह प्रयास स्वागताह्व है।

आचार बनाम विचार (लेखों का संग्रह) : स्वराज्य का अर्थ (उद्बोधक विचार) : मो. क. गांधी; सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली ११० ००१; प्रत्येक का मूल्य—दो रुपये; क्रमशः पृष्ठ—३२, ६८; राँयल, क्राउन १९७८।

पहली पुस्तक में महात्मा गांधी के उन १७ लेखों को संकलित किया गया है, जो उन्होंने 'हिन्दी नवजीवन' और 'हरिजन सेवक' में संपादकीय टिप्पणियों के रूप में लिखे थे। इनमें व्यक्त विचार आज भी चरितार्थ करने के लिए उद्बोधक हैं।

दूसरी पुस्तक में गांधीजी के सपनों का भारत कैसा हो? — विषयक विचारों का सार-संक्षेप है। इसमें ऐसी समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, जो आज भी अनुत्तरित हैं।

'मण्डल' की रीति-नीति के अनुरूप दोनों ही पुस्तकें ऐसी हैं, जिनका व्यापक प्रसार-प्रचार तथा उपयोग अपेक्षित है।

—प्रेमचन्द जैन

○ ○

तीर्थंकर : मार्च ७९/२७

समाचार : शीर्षक-रहित, किन्तु महत्त्वपूर्ण

—आचार्यश्री तुलसी ने तेरापंथ धर्मसंघ के ११५ वें मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर लगभग पच्चीस हजार भाई-बहनों की उपस्थिति में अपने विद्वान् शिष्य मुनिश्री नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। मुनिश्री हिन्दी, संस्कृत एवं प्राकृत के मनीषी विद्वान् तथा लेखक हैं। हिन्दी में उनकी अब तक लगभग १०० पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ज्ञातव्य है, दिसम्बर, '७८ में आचार्यश्री तुलसी ने मुनिश्री को महाप्रज्ञ की उपाधि से विभूषित किया था।

—मुनिश्री रूपचन्द्रजी को अमेरिका की मिशिगन इन्स्टीट्यूट ऑफ रिलीजन एण्ड कल्चर संस्थान ने 'डिवाइन लाइट' (दिव्य ज्योति) पुरस्कार से सम्मानित किया है। संस्थान ने इससे पूर्व स्वामी विवेकानन्द को इस सम्मान से समादृत किया था, मुनिश्री दूसरे भारतीय हैं। स्मरणीय है, मुनिश्री का बी. बी. सी. से जो 'धर्म और यथार्थ' पर विश्व-प्रसारण हुआ था, उसकी लोकप्रियता-स्वरूप यह सम्मान प्रदान किया गया है।

—मुनिश्री सुशीलकुमारजी के लगभग तीन वर्ष के अमेरिका, कनाडा और यूरोप के कतिपय देशों के प्रवास के बाद ४ मार्च, ७९ को भारत आगमन पर नई दिल्ली में स्वागत-समारोह आयोजित किया गया है।

—श्री चम्पापुर दि. जैन सिद्धक्षेत्र की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर ३० जनवरी को आर्यिका श्री सुपाश्र्वमतिजी के सान्निध्य में अ. भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई का अधिवेशन संपन्न हुआ। तीर्थ-क्षेत्रों की रक्षार्थ संकल्पित एक करोड़ के ध्रुवकोष की पूर्ति हेतु दान की प्रेरणा आर्यिकाश्री ने दी, जिसका काफी प्रभाव पड़ा।

—श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर, लक्ष्मीनगर, नई दिल्ली के नवीन भवन की आधार-शिला-समारोह पर आयोजित दि. जैन महासमिति केन्द्रांचल सम्मेलन १८ फरवरी को आयोजित किया गया, जिसमें श्री दि. जैन समाज, लक्ष्मीनगर द्वारा श्री श्रेयांस प्रसाद जैन को अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया।

—त्रिदिवसीय जैन साहित्य-समारोह महुवा (भावनगर—गुजरात) स्थित बालाश्रम के प्रांगण में गत २ फरवरी, ७९ को जैन दर्शन और साहित्य के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में समर्पित समर्थ विद्वान् डॉ. दलसुखभाई मालवणिया की अध्यक्षता में आयोजित किया गया, जिसका उद्घाटन डॉ. हरिवल्लभ भायाणी ने किया।

—सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री (वाराणसी) के अभिनन्दन के लिए एक समिति गठित की गयी है। समारोह के अन्तर्गत अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रकाशन और जैन विद्या-संगोष्ठी का आयोजन किया जाएगा।

—श्री दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) में आचार्य श्री वीर-नागर शोध विद्यापीठ एवं आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती महाविद्यालय की स्थापना जुलाई, ७९ से की जा रही है। विस्तृत जानकारी के लिए उपर्युक्त पते पर संपर्क कर सकते हैं।

—आचार्य श्री विद्याचन्द्रसूरिजी की प्रेरणा से श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, राजगढ़ (धार) में नेत्र चिकित्सालय भवन के निर्माण का निश्चय किया गया है। आचार्य-श्री की प्रेरणा से यहाँ ग्रीष्मावकाश के पश्चात् जैन आगम, संस्कृत एवं प्राकृत का

अध्ययन और शोध (पी-एच. डी.) करने-वालों के लिए गुरुकुल प्रारम्भ करने का भी निश्चय किया गया है, जिसमें पचास विद्यार्थी रह सकेंगे ।

—श्री अ. भा. जैन विद्वत् परिषद् द्वारा दो निबन्ध प्रतियोगिताएँ आयोजित की जा रही हैं । पहली का विषय है : 'जैन कर्म सिद्धान्तः बन्ध और मुक्ति की प्रक्रिया' । निबन्ध ३ से ५ हजार शब्दों में हो सकता है । क्रमशः तीन पुरस्कार रु. ३००, २०० और १०० के हैं । निबन्ध भेजने की अन्तिम तिथि ३१ मार्च, ७९ है । दूसरी प्रतियोगिता १६ वर्ष तक के बालकों के लिए है, जिसका विषय है : 'आप कैसा साहित्य पढ़ना पसन्द करते हैं और क्यों ?' इसके क्रमशः तीन पुरस्कार रु. ५१, ३१, २१ के हैं । निबन्ध भेजने की अन्तिम तिथि २५ मार्च, ७९ है ।

निबन्ध-प्रषण और विस्तृत जानकारी के लिए डॉ. नरेन्द्र भानावत, महामंत्री, अ. भा. जैन विद्वत् परिषद्, सी-२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर-३०२-०४ में से संपर्क कर सकते हैं ।

—अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा आयोजित राजश्री निबन्ध प्रतियोगिता में २० से ३० वर्ष तक के जैन युवक-युवती सम्मिलित हो सकते हैं । क्रमशः तीन पुरस्कार रु. २५०, १५०, १०० के हैं । १९७९ की प्रतियोगिता का विषय है : 'वर्तमान में मानव-जीवन में धर्म का महत्त्व' । निबन्ध के पहुँचने की अन्तिम तारीख १७ अप्रैल, ७९ रखी गयी है । विस्तृत जानकारी के लिए संघ के प्रधान कार्यालय : समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर-३३४००१ से संपर्क कर सकते हैं ।

(संपादकीय : पृष्ठ ४ का शेष)

कहीं किसी सभा-कक्ष में कोई पढ़ रहा है, या बोल रहा है, अपना ज्ञान बघार रहा है, तो हम कहेंगे कि वह कोई ऐसा आदमी ही है, जो जबरन पकड़कर लाया गया है, और उससे कहा गया है कि तू नाच; भले ही तू नृत्य-कला को जानता हो या न जानता हो; फिर वह आदमी नृत्य शुरू करता है, ऐसा नृत्य जिसमें से वह अनुपस्थित है, और जिसमें उसे कोई रस नहीं है । हमारी आधी से ज्यादा जिन्दगी ऐसे ही व्यर्थ नृत्योंसवों से भरी हुई है । वस्तुतः बाल्यावस्था से ही हम विवश होना शुरू कर देते हैं, और अन्तिम साँस तक एक विवशता की जिन्दगी बिताते हैं । गलती वस्तुतः मूल से यह है कि हमारे शास्त्र जो कभी जीवन से जुड़े हुए थे आज जीवन से कट गये हैं; मैदान से उनका कोई सरोकार नहीं रहा है; किन्तु श्रीमद्राजचन्द्र या पं. टोडरमलजी के साथ वैसा नहीं था—उनके मैदान और शास्त्र एक ही थे; जो शास्त्र था, वही मैदान था; और जो मैदान था, वही उनका शास्त्र था । वे जो कहते थे, शास्त्र बनता था; और जो शास्त्र बनता था; वही उनके जीवन में से प्रकट होता था ।

इस तरह आज किताबें हमारी स्वामिनी हैं; उनसे हम हारे हुए हैं; वे हमें जी रही हैं, हम उन्हें जी नहीं रहे हैं । आज जरूरत है इन ग्रन्थों में जान डालने की, उनके युगानुरूप व्याख्यान की, उन्हें मैदान से जोड़ने की । इनकी एक-एक ऋचा को जीवन से जोड़ना आवश्यक है । इसलिए, कृपया, आप जो भी करें, संकल्प लें कि उसे जीवन से जुड़ा हुआ ही करेंगे; और मैदान जीतेंगे, किताब, हारेंगे; आशय, किताब को मैदान से जोड़ेंगे, और उसे एक जीवन्त अस्तित्व बनायेंगे । "समयसार" या "गीता" जो भी हो उसे हम पढ़ें नहीं, जियें; तभी कुछ घटित होगा, अन्यथा किताबें हमें जीतती जाएँगी, और हम मैदान हारते जाएँगे ।

□

तीर्थंकर : मार्च ७९/२९

पढ़ते पढ़ते हँसो

संपादकीय बड़ा सटीक लगा तथा पूरा अंक ऐसा लगा कि 'हँसते-हँसते पढ़ो और पढ़ते-पढ़ते हँसो'। 'साधु-वाद' का आरंभ करके आपने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति कर दी है। —आशा मल्लया, सागर मिश्रित चटनी का-सा स्वाद

प्राकृत छहों अथवा साहित्यिक नौ रसों की मिश्रित चटनी का-सा स्वाद आया। संपादकीय के गांभीर्य से होता 'प्रभाकर' के आनन्द के क्षणों की गुदगुदी एवं श्रीमती बेगानी की स्वस्थ सात्त्विक हँसी का आस्वादन कर कुमारी अर्चना की वैचारिक गहराई को विस्मित देख ही रहा था कि निजाम साहब की 'शबे तारीक' ने घाव के विस्मृत दर्द को झटका देकर ताजा कर दिया। अंक संचरना के लिए साधुवाद।

—कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

तुलनाहीन

लगा हँसते-हँसते जीने के लिए सब तुले हुए हैं। मरने के लिए बिरले ही। तुलनाहीन है आपके संपादकीय का नया प्रयोग।

—गणेश ललवानी, फलकत्ता

मनोनुकूल

संयुक्तांक भी सदैव की भाँति मनोनुकूल। पर इस बार लगा कि आपका नई विधा में लिखा संपादकीय ही अन्यान्य सभी लेखों पर गाढ़ी मलाई की भाँति तैर रहा है। —राजकुमारी बेगानी, कलकत्ता

हँसने की सीख

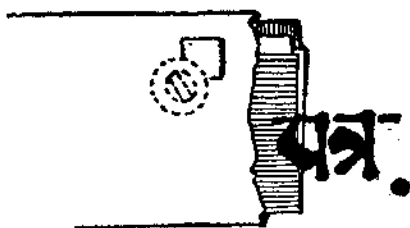
संपादकीय के माध्यम से आप हँसते नहीं रहे हैं, हँसना सिखा रहे हैं।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन, छोटी कसरारव

सारा अंक : एक नजर में

प्रस्तुत अंक का संपादकीय भी दमदार है, वैचारिक है और कुछ करने / साधने को विवश करता है।

डा. सुरेन्द्र वर्मा का लेख सहज संरचना



में भी विशिष्ट बात ज्ञापित करता है। 'प्रभाकर'जी सदा की तरह सदाबहारी ढंग से प्रस्तुत हुए हैं। फिर भी श्रीमती बेगानी, कु. अर्चना, डा. निजामउद्दीन अलग-अलग रंग प्रस्तुत करते हैं—हास्य के / जीवन के।

आपका 'उपासरे'... जैन समाज के उन लोगों के लिए विशेष 'रपट' है, जो अपने 'जैन धर्म' की चर्चा करते हैं, पर पहिचानते नहीं। विशिष्ट प्रस्तुतीकरण है। उत्कृष्ट।

डा. कुन्तल गोयल, डा. प्रेमसुमन, श्री जमनालाल, श्री ललवानी भी गहरे उतरे हैं अपने लेखों में, उनकी रचनाएँ 'अनायास' नहीं, सायास है।

विचित्र बात है इस अंक का काव्य, सर्व-श्री 'शशि', नरेन्द्रप्रकाश, उमेश अपने सहज-सरल 'टोन' में विषय के विशेष को कहने में सफल हैं, प्रवीण हैं। श्री सेठिया और श्री सोनवलकर भी सहजता के दाशे पर आये हैं अपनी रचनाओं से।

—सुरेश 'सरल' जबलपुर

उल्लेखनीय अध्याय

'हँसते-हँसते जियो : हसते-हँसते मरो' विशेषांक वस्तुतः मानव-साहित्य की शृंखला में उल्लेखनीय अध्याय है। आपने जो अपनी मौलिक डायरी लिखी है—'मन्दिर-उपासरे' वास्तव में यह युग की मांग है कि इस पर नया मोड़ सेवा के लिए मिलना चाहिये। —मानकचन्द्र नाहर, मद्रास

महत्त्वपूर्ण

प्रस्तुत अंक आद्योपान्त पढ़ डाला। सभी सामग्री महत्त्वपूर्ण है।

—कल्याणकुमार जैन 'शशि' रामपुर

तीर्थकर : मार्च ७९/३०

‘हंसते-हंसते मृत्युवरण’

इस अंक में ‘हंसते-हंसते मृत्युवरण’ शीर्षक लेख पढ़ा। लेखक महोदय मानो आत्ममहल में ही विराजमान हैं। आत्म-जागृति उनके जीवन का ताना-बाना बन गयी है। मृत्यु-मात्र एक अदना-सा ऑपरेशन है।

—हरखचन्द्र बोथरा, कलकता

हँसी-खुशी की गहरी तस्वीर

विगत अंक में हँसी और खुशी के अंकों की तस्वीरें खींची गयी हैं, उस गहराई में हँसी और रोना समान हो जाता है और

इतनी घुंध और इतना कुहा छाया होता है कि चारों ओर बेड़ियों और सीखचों के सिवा जाल-ही-जाल दृष्टिगत होता है। वहीं तपस्या का पर्वत होता है और स्रोतों के अमृत वहीं निक्षरित होते हैं।

—डा. लक्ष्मोचन्द्र जैन, जावरा

प्रेरक—अभिनन्दनीय

जीने की कला इस विशेषांक ने बता दी है। लेखकों का मौलिक एवं प्रेरक चिन्तन और संपादकजी की सूझबूझ अभिनन्दनीय है।

—मानव मुनि, इन्दौर

(चर्चा : पृष्ठ १८ का शेष)

शास्त्रों में जो स्मरण किया गया, वह पवित्र चारित्र्य के कारण ही है। हमारा सामान्य जनता पर, अपने पड़ोसियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था। वैसे तो हम अल्पसंख्यक होते हुए भी बहुत कुछ बातों में अभी भी निष्ठावान हैं। अच्छे सन्दर्भों को लेकर हमने इस देश में पड़ोसियों पर छाप छोड़ी है; फिर भी वर्तमान में जो वातावरण है, उस प्रवाह में तो आदमी कुछ बह ही जाता है। इससे जो कुछ दोष आ गये हैं, वे काल पर आधारित हैं, परिस्थिति पर आधारित हैं। वातावरण दूषित होने से आदमी पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है।

मैंने भारत भर में घूमते हुए देखा है कि सामान्य जनता में बहुत अच्छे विचार हैं, चारित्र्य है ग्रामीण जीवन में। शहरों में कुछ चीजों में कमी अवश्य आ गयी है। इतिहास में हम देखते हैं कि तब भी बड़े-बड़े शहरों में ये बातें थीं। मैं ऐसा नहीं समझता कि वातावरण बहुत ही दूषित बन गया है। सारे देश में सामान्य लोगों में अभी भी निष्ठा है और उनका चारित्र्य भी बहुत कुछ अच्छा है; परन्तु जैसे कि कुछ घटनाएँ घटती हैं, उनसे सब लोगों को गिनती नहीं करें। यों तो पाण्डवों के युग में, जिसे हम सतयुग कहते हैं, युधिष्ठिर ने अपनी पत्नी को दाँव पर लगा दिया था, उसमें ऐनी घटनाएँ घटती हैं। तो कोई बड़ी आश्चर्य की बात नहीं है।

फिर भी हमें ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिये, जिससे भावी पीढ़ी हमारा जो पिछला इतिहास है, पवित्र और स्वर्णयुग, उसको याद कर वह अपने जीवन को आदर्श बना सके और पुनरपि हम अपनी प्रतिष्ठा पूर्ण अतीत की स्थापित कर सकें।

डॉक्टर : यानी जैनों को बहुत अच्छी भूमिका इस समय निभानी चाहिये।

एलाचार्य : निभानी चाहिये और वे निभा सकते हैं। बहुतों की आकांक्षा है, क्योंकि जैनधर्म के कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जो राष्ट्रधर्म के रूप में प्रचलित हो सकते हैं। लोगों को लाभदायक हो सकते हैं। परन्तु जैनों को ही उसका शुभारम्भ करना होगा। महावीर ने शुभारम्भ किया था, इसीलिए महावीर का अहिंसा का सिद्धान्त इस विशाल विश्व में आज प्रत्येक व्यक्ति अपनाने के लिए उत्सुक है।

(जयपुर; २४-१-१९७९; केसेट से प्रेमचन्द्र जैन द्वारा आलेखित)

तीर्थकार : मार्च ७९/३१

नये आजीवन सदस्य रु. १०१

३६८. श्रीमती सुलोचनादेवी झांझरी
द्वारा : ज्ञान ट्रेडिंग कम्पनी
६३, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट
पो. कलकत्ता ७००-०७०
३६९. श्री शान्तिलाल सी. मेहता
४५, कुलपति मुंशी रोड
सागर विहार
(मर्चेन्स क्लब के सामने)
पो. बम्बई ४००-००७
३७०. श्री धीसूलाल महेन्द्रकुमार पाटनी
गोलगंज
पो. छिन्दवाड़ा ४८०-००१ (म.प्र.)
३७१. श्री बाबूलाल जैन
१११८, महावीर पार्क रोड
मनिहारों का रास्ता
पो. जयपुर ३०२-००३

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के बहुमूल्य प्रकाशन

भीली-हिन्दी-कोश; डॉ. नेमीचन्द जैन; परिवर्द्धित
मूल्य—दस रुपये ।

भील : भाषा, साहित्य और संस्कृति; डॉ. नेमीचन्द जैन;
परिवर्द्धित मूल्य—दस रुपये ।

भीली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन; भाषा खण्ड; इ. वि. वि;
डॉ. नेमीचन्द जैन; मूल्य—बीस रुपये ।

भीली चेतना-गीत; महीपाल भूरिया; सचित्र;
परिवर्द्धित संस्करण; मूल्य—पन्द्रह रुपये ।

सोना और धूल; नेमीचन्द पटोरिया; बोधकथा-संकलन;
मूल्य—एक रुपया पचास पैसे ।

इकतारे पर अनहद राग; बोध-कविताओं का एक अप्रतिम
संकलन; दिनकर सोनवलकर; मूल्य—तीन रुपये ।

शब्द से आगे - श्रीकान्त जोशी की कविताओं का संकलन;
मूल्य—पाँच रुपये ।

श्लथ होते संदर्भ; सूर्यकान्त नागर की यथार्थपरक कहानियों
का बहुचर्चित संग्रह; मूल्य—छह रुपये ।

द नेचर ऑफ द भील सांख्य; महीपाल भूरिया;
मूल्य—दो रुपये ।

६५, प्रन्नकार कालोनी, कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२ ००१

तीर्थकर : मार्च ७९/३२

महान् ज्योति / महान् तीर्थ

इसमें संदेह की ज़रा भी गुंजाइश नहीं कि कश्मीर जितना अपने नैसर्गिक सौंदर्य में महान् है, विश्व-विख्यात है, भू-स्वर्ग है, उतना ही अपने आध्यात्मिक गौरव में आभा-मण्डित है। योग-दर्शन, शैवमत, और सूफीमत की आध्यात्मिक त्रिवेणी यहाँ केसर की क्यारियों में, सेव की वाटिकाओं में, बादाम के शगूफों में, वितस्ता के शान्त प्रवाह में विद्यमान है, जो जन-मानस के कलुष का अर्हनिश प्रक्षालन करती रहती है। एक समय की बात है। लल्लेश्वरी (१४ वीं शताब्दी) अपने समकालीन सूफी कवि बाबा नसरुद्दीन और शेखनूरुद्दीन वली के साथ बैठें ज्ञान-ध्यान की चर्चा कर रही थीं, तो बाबा नसरुद्दीन कहते हैं—

सिर्यस ह्यून प्रकाश कुने
गंगि ह्यून तीरथ कुने
बा'इस ह्यून बाँदव कुने
रत्रि ह्यून सोख कुने

(सूर्य-जैसा प्रकाश कहीं नहीं, गंगा-जैसा महान् पावन तीर्थ कोई नहीं, भाइयों-जैसा रिश्ता कोई नहीं और पत्नी-जैसा कोई सुख नहीं।)

यह सुनकर शेख नुन्द ऋषि (शेखनूरुद्दीन) ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—

अंठिन ह्यून प्रकाश कुने,
कोष्टयन ह्यून तीरथ काँह
चन्दस ह्यून बाँदव कुने
ख्यनस ह्यून सोख काँह।

(आँखों-जैसी ज्योति कहीं नहीं, घुटनों-जैसा तीर्थ कोई नहीं, अपनी जेब (धन) के बराबर कोई रिश्ता नहीं और खाने-पीने के समान कोई सुख नहीं।)

इन दोनों की बातें ध्यानपूर्वक सुनने के बाद लल्लेश्वरी ने कहा—

मयस ह्यून प्रकाश कुने,
पयस ह्यून तीरथ काँह।
दयस ह्यून बाँदव कुने
मयस ह्यून सोख काँह।

(शिव की प्रेम-सुरा के समान कोई महान् ज्योति नहीं, शिव की तलाश के समान कोई महान् तीर्थ नहीं, शिव-जैसा कोई महान् रिश्तेदार नहीं, और शिव के समान संसार में कोई महान् सुख नहीं।)

□ डा. निजाम उद्दीन



मेघ / पुरुष

मेघ चार प्रकार के होते हैं-

एक / कुछ मेघ उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले होते हैं, ऊसर में बरसने वाले नहीं होते;

दो / कुछ मेघ ऊसर में बरसने वाले होते हैं, उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले नहीं होते;

तीन / कुछ मेघ उपजाऊ भूमि पर भी बरसने वाले होते हैं और ऊसर पर भी बरसने वाले होते हैं;

चार / कुछ मेघ न उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले होते हैं और न ऊसर पर ही बरसने वाले होते हैं ।

इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं-

एक / कुछ पुरुष उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले होते हैं, ऊसर पर बरसने वाले नहीं होते;

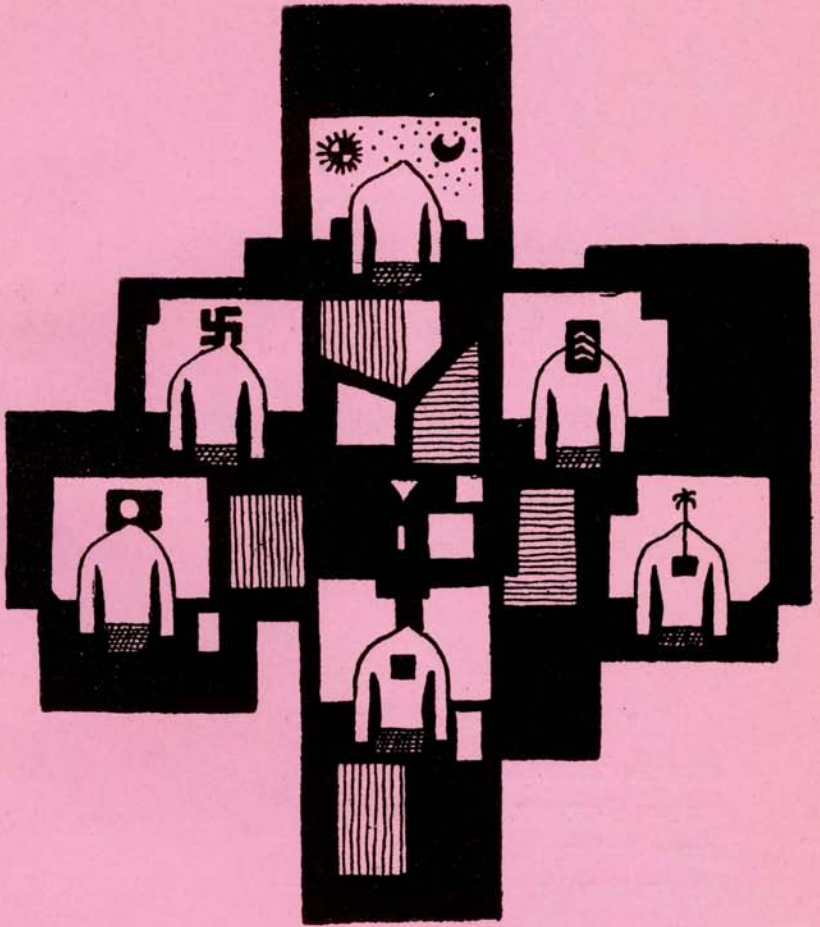
दो / कुछ पुरुष ऊसर में बरसने वाले होते हैं, उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले नहीं होते;

तीन / कुछ पुरुष उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले भी होते हैं, और ऊसर पर भी बरसने वाले होते हैं;

चार / कुछ पुरुष न उपजाऊ भूमि पर बरसने वाले होते हैं और न ऊसर पर ही बरसने वाले होते हैं ।

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

(राजस्थान) द्वारा प्रचारित]



नीर्धिका

वर्ष ८, अंक १२; चैत्र २०३६; अप्रैल १९७९

डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा सम्पादित

आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?

धरती ने करवट ली, सुनकर पद-चाप ।
आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?
चहक उठा पंछी-दल, महक उठा बाग ।
उड़ता है गली-गली, प्रेम का पराग ॥

निर्झर-सा आत्मसत्य, भरता आलाप ।
आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?

ग्रन्थों से बँधा नहीं, जो है निर्ग्रन्थ ।
जीवन से जोड़ रहा, समता का पन्थ ॥
भीषण कोलाहल में, खड़ा हुआ शान्त ।
उपवन में खिले हुए, पुष्प अनेकान्त ॥

शूलों में फूलों-सा, सहता सन्ताप ।
आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?

कर्मों की गाँठों को, सहज रहा खोल ।
बोल रहा भीतर से, प्रेम-सने बोल ॥
लुटा रहा कहणा का, अक्षय भण्डार ।
आत्मज्ञान-गंगा की, बहा रहा धार ॥

दया, क्षमा, संयम का; करता नित जाप ।
आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?

जीवन तप ज्वाला में, तपता दिन-रात ।
पूछता न पीकर जल, कभी जाति-पाँत ॥
मानव-मन-मन्दिर के, खोल रहा द्वार ।
टूटी उर-वीणा के, जोड़ रहा तार ॥

सत्य-सिन्धु-गहराई, रोज रहा नाप ।
आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?

व्यर्थ है चारित्र बिना, जीवन का मोल ।
पढ़ता है आत्म ग्रन्थ, भीतर पट खोल ॥
घूम रहा द्वार-द्वार, बनकर निर्नाम ।
करता है काम सभी, हँसकर निष्काम ॥

ओढ़ रहा अपने सिर, युग का अभिशाप ।
आज कौन तीर्थकर, आया चुपचाप ?

तीर्थंकर

विचार-मासिक

(सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन)

महावीर-जयन्ती विशेषांक

वर्ष ८, अंक १०; अप्रैल १९७९

चेन्नै, वि. सं. २०३६; बी. नि. सं. २५०१

संपादक : डा. नेमीचन्द्र जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द्र जैन
सज्जा : संतोष जड़िया

वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : दो रुपये
विदेशों में : तीस रुपये
आजीवन : एक सौ एक रुपये



हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कालोनी,
कनाडिया रोड,
इन्दौर-४५२००१
दूरभाष : ५८०४

नई दुनिया प्रेस
केसरबाग रोड,
इन्दौर-२ से मुद्रित

क्या / कहाँ

आज कौन तीर्थंकर, आया चुपचाप (कविता)

—ब्राबूलाल जैन 'जलज', आवरण २

इतना तो करें ही

—संवादकीथ ३

वैशाली का भविष्य, केवल महावीर ?

—वीरेन्द्रकुमार जैन ६

जैन विद्या : विकास-क्रम/काल, आज (८)

—डॉ. राजाराम जैन ३०

जंगली कहीं के (बोधकथा)

—कल्याणकुमार 'शशि' ४०

कसौटी (पुस्तक-ममीक्षा) ४१

समाचार-परिशिष्ट ४६

तीर्थंकर : आठवाँ वर्ष (मई १९७८ से अप्रैल १९७९) ४९

संस्कृति का अभिप्रेक (कविता)

—ब्राबूलाल जैन 'जलज', आवरण ३

मनुष्य + प्रमाद = अज्ञानी

मनुष्य - प्रमाद = ज्ञानी

—आवरण ४

छह द्रव्य (आवरण-चित्र)

—संतोष जड़िया

इतना तो करें ही

क्या आप अनुमान लगा सकते हैं कि इस जयन्ती ने, जो आज हमारा द्वार खटखटा रही है, पहले और कितनी बार हमारे द्वार खटखाये हैं? बीसियों बार ऐसा हुआ होगा, फिर यह बात बिलकुल जुदा है कि हम इससे प्रभावित हुए अथवा कोरमकोर रह गये। प्रायः अवसर द्वार तक आते हैं और हम चूक जाते हैं। इसीलिए महावीर बारबार गौतम से कहते हैं—गौतम, अप्रमत्त बनो, समय मत चूको। 'समय' पर जितना ध्यान महावीर और उनके समकालीनों का है, आज उतनी ही अवहेलना उसकी हमारे द्वारा हो रही है। आज न तो 'समय' का अर्थ ही हम ठीक से जानते हैं और न ही समय पर समय को शुभ्रतर करने का कोई प्रयत्न ही करते हैं; पद, प्रभुता, और पैसा आज हमारे चरित्र पर इतने हावी हैं कि महावीर का व्यक्तित्व उस व्यर्थ भार से लगभग पूरी तरह दब कर निस्तेज हो गया है।

समारोह हम करें, उनसे हमारी सामुदायिकता उपकृत होती है; निकट आते हैं हम एक-दूसरे के, समझ भी बनती है आपस में, किन्तु व्यक्ति वेचारा प्यासा और फुण्डित छूट जाता है। महावीर ने अपने युग में इस समझ पर सबसे अधिक ध्यान दिया था। उनकी देन ही मुख्य यह है कि उन्होंने अपने समकालीन समाज और व्यक्ति-चित्त को निभ्रन्ति बनाया था और मनुजता को स्व-स्थ किया था। उनका युद्ध अन्धकार से था और वे उसमें विजयी हुए थे।

इसलिए समारोह हों और बेहिसाब हों, किन्तु उनमें से सदाचार खड़ा हो; कहीं ऐसा न हो कि हर समारोह हमसे सदाचार की एक बड़ी किश्त छीन जाए और हम धर्म के कंकाल को ढोते रहें; क्योंकि धर्म सदाचार के बिना एक निष्फल वृक्ष है, और सदाचार बिना धर्म के एक ऐसा झाड़ू है जिसकी कोई जड़ नहीं है। इस दृष्टि से जब हम संपन्न समारोहों की समीक्षा करते हैं तब पाते हैं कि विगत में हर समारोह हमसे कुछ छीन ले गया है और हमें अधिक गरीब कर गया है; ऐसा आखिर क्यों हुआ है? महज इसलिए कि जो-जैसा बर्ताव हमें इन समारोहों के साथ करना चाहिये था हम उनके साथ वह-वैसा नहीं कर सके हैं।

वस्तुतः यह है यों कि आज हम धार्मिक पर्व-त्योहार को बड़ी केन्द्रित शैली में मना रहे हैं। किसी एक समारोह को एक ही जगह एक नगर में क्यों मनाया जाए? क्यों न उसे हम हर मोहल्ले में इस तरह मनायें कि वह व्यक्ति और समूह दोनों के पास समानान्तर पहुँचे और एक-जैसे बल से उन्हें प्रभावित करे? मनोविज्ञान यह है कि जब बहुत सारे लोग एकत्रित होते हैं तब सारा संयोजन

औसत आदमी के लिए होता है और इस तरह वे सारे लोग वंचित रह जाते हैं जो या तो औसत माप से ऊपर होते हैं या उससे नीचे। क्या इन दोनों की अपनी कोई हेसियत नहीं है? अतः जरूरी है कि सर्वजनहिताय हम समारोहों की शक्त बदलें और व्यक्ति को उसका काम्य दें।

उक्त विचार को स्पष्ट करने के लिए यदि आप समवसरण को लें तो देखेंगे कि वे ऐसे समारोह थे जिनमें हर व्यक्ति की अपनी सत्ता, महत्ता, स्वतन्त्रता बनी हुई थी और वह अपने वजूद में आनन्दित और उर्मंगित था; जो जहाँ था वहाँ वह अपनी भाषा में सब कुछ समझता था और ऊपर उठता था। यहाँ दो तथ्य सामने आते हैं। एक, यह कि महावीर ऐसी भाषा का इस्तेमाल करते थे जिसे उनके समकालीन छोटे-बड़े सब जानते थे; दो, या फिर व्यक्ति इतना जाग जाता था कि उसकी समझ में सारी कठिनाइयाँ स्वयमेव समाहित हो जाती थीं। एक स्थिति वह भी है जब किसी समूह अथवा व्यक्ति के लिए चरित्र ही सबमें बड़ी भाषा बन जाता है और उसे जड़ किताब की जगह जीवन्तता अधिक प्रभाव-शाली लगने लगती है। वस्तुतः भाषा वहाँ बिल्कुल फीकी-फस्स हो जाती है जहाँ वह जीवन की जीवन्तता से विरक्त हो उठती है। ऐसे में घटनाओं के निर्जीव विवरण महत्त्वहीन हो जाते हैं और घटनाएँ असरकारक बन जाती हैं। इस संदर्भ में हम स्पष्ट ही देख सकते हैं कि महावीर की भाषा अक्षरात्मक नहीं थी वह घटनात्मक या चरित्रात्मक थी। भाषा का यह रूप आज समाज में लुप्त हो गया है; यदि इसे हम लौटा सकें समारोहों के माध्यम से, तो यह हमारी एक उल्लेखनीय उपलब्धि होगी।

एक बात और, और वह यह कि हम ध्यान से देखें कि क्या द्वार खटखटा रही/गयी जयन्ती हमें एक बेहतर मनुज बना कर जा रही है, या हम पहले जहाँ थे वहाँ से ऋण हुए हैं, घटे हैं? समीक्षा करने पर लगता है कि इन दिनों हर समारोह हमें कुछ देने की जगह हमसे कुछ छीन रहा है। हम जो हो रहा है उससे बौने हो रहे हैं, हमारी उदारता और सहिष्णुता निरन्तर घट रही है। कुल में, हमारी दोस्ती “-” से बढ़ रही है “+” या गुणन “×” से घट रही है; यानी किसी भी समारोह की संपन्नता के साथ हम पीछे की ओर गये हैं, हमारा क्रदम आगे की ओर नहीं गया है। क्या हम इस सबकी समीक्षा के लिए तैयार हैं, या परम्परानुसार घबरा कर उसे नियति पर छोड़ देना चाहते हैं?

इस संदर्भ में जब हम यह सवाल करते हैं कि महावीर कौन थे? तो उत्तर आता है सुदूर अतीत से कि वे अब्बल एक मनुष्य थे, बाद कुछ और। उन्होंने अनुभव किया था कि राजसी वैभव में कोई मनुष्य नहीं बना रह सकता। इसके मद् में वह कुछ-का-कुछ हो जाता है, यहाँ तक कि वह एक अच्छा साथी भी नहीं बना रह सकता। उन्होंने एक शासक की परतन्त्रताओं और मानवीय सीमाओं को

तीर्थकर : अप्रैल ७९/४

महसूस किया था और इसीलिए उनका ध्यान एक आत्मनिर्भर मुक्त जीवन की ओर गया था। उनका तन-मन मनुज बनने के लिए छटपटाया था; उनकी यह छटपटाहट ही उनके 'तीर्थंकरत्व' की निशानी थी। जब कोई मनुष्य बनने के उपाय और प्रयत्न में होता है, तब वह असल तीर्थयात्रा की चित्तवृत्ति में होता है, अन्यथा आवश्यक नहीं है कि कोई मनुष्य की देह में मनुष्य ही हो।

कई ऐसे उदाहरण हमारे सामने हैं जब मनुष्य की देह में एक जंगली जानवर दिखायी दिया है; दूसरी ओर ऐसी मिसालें भी हमारे सामने आयी हैं जब एक पशु ने अत्यन्त मानवीय व्यवहार किया है। एक धार्मिक तथ्य है कि जब एक पशु भी मनुष्यता की ओर पग उठाता है तो वह तीर्थंकरत्व की तैयारी करता है। 'तीर्थंकर' की सरलतम परिभाषा है—'मनुष्य बनते जाना'; और इस तरह मनुष्य का जो चरम विकास है वही 'तीर्थंकरत्व' है। मनुजता के लिए दूसरा शब्द है स्वाभाविकता, निष्कर्षतः जब कोई अपनी स्वाभाविकता में लौटता है, आपे में आता है तब वह भगवान हो उठता है, और जब वही आपा खो बैठता है तब पशु, कहिये, उससे भी बदतर हो जाता है। वस्तुतः यह 'आपा' ही सब कुछ है, संसार के सारे धर्म इसे पाने का यत्न करते हैं। महावीर किसके पुत्र थे, कौन थी उनकी माता, कहाँ के थे वे, उनका विवाह हुआ था/नहीं हुआ था आदि व्यर्थ की तफसीलों में सर मारने की जगह यह जानना जरूरी है कि उन्होंने 'मनुष्य होना हर क्रम पर आवश्यक है' इसकी अनुभूति कैसे की, और वे उस समय जब कि चारों ओर बर्बरता और बनैली क्रूरता छायी हुई थी, किस तरह अधिक मनुष्य होते चले गये; कठिनाइयाँ हुईं, संघर्ष हुए किन्तु उनकी दुर्द्धर साधना रुकी नहीं और वे अन्ततः 'तीर्थंकर' यानी 'पूर्ण मानव' बने। इसलिए हम जरूर सोचें कि इस जयन्ती पर हम मनुष्यता की रेखा के ऊपर गये हैं, या उसके नीचे आये हैं; वस्तुतः इस तरह की तटस्थ समीक्षा ही हमारे जीवन में बहुत कुछ ऐसा सिरज सकती है जो हमारे लिए मंगलकारी तो होगा ही, आने वाली पीढ़ियों के लिए भी सुखदायी होगा।

□ □

“वे, जो सत्ता की मूर्द्धा पर बैठे हैं। वे ही यदि स्वच्छ न हों; तो शासन कैसे स्वच्छ रह सकता है, महाराज। और शासन स्वच्छ न हो, [तो प्रजा कैसे स्वच्छ रह सकती है? पहले शासक भ्रष्ट होता है, तब प्रजा भ्रष्ट होती है। भ्रष्टाचार का मूल मूर्द्धन्य सत्ताधीश में होता है। वह मूलतः शासन में नहीं, शासित में नहीं, सत्ताधारी में होता है। पहले वह अपना निरोक्षण करे, तो पायेगा कि उसके भीतर न्यस्त स्वार्थ के कैसे-कैसे गुप्त और सूक्ष्म अंधेरे सक्रिय हैं। वही पाप के विषम अंधेरे सारे राष्ट्र की नसों में व्याप्त होकर, उसे घुन की तरह खा जाते हैं। इस भ्रष्टाचार के मूलोच्छेद की पहल कौन करे, देवानुप्रिय चेटकराज ?”

वंशाली का भविष्य : केवल महावीर ? → → →

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/५



हजारों-हजारों मुण्डित श्रमणों से परिवरित श्री भगवान् वैशाली के राजमार्ग पर यों चल रहे हैं, जैसे सप्त सागरों से मण्डलित सुमेरु पर्वत चलायमान हो। हिमालय और विन्ध्याचल उनके चरणों में डग भर रहे हैं। कभी वे कोटि सूर्यों की तरह जाज्वल्यमान लगते हैं, कभी कोटि चन्द्रमाओं की तरह तरल और शीतल लगते हैं। मानवों ने अनुभव किया कि आँख और मन से आगे का है यह सौन्दर्य, जो प्रतिक्षण नित नव्यमान है।

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/६

वैशाली का भविष्य, केवल महावीर ?

(हिन्दी के कथा-हस्ताक्षर श्री वीरेन्द्रकुमार जैन के सुविख्यात उपन्यास 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' के अप्रकाशित चतुर्थ खण्ड का प्रथम अध्याय)

आज से बाईस वर्ष पूर्व की बात है। वैशाली के यायावर राजपुत्र वर्द्धमान पहली और अन्तिम बार वैशाली आये थे। अपने ही द्वार पर अतिथि की तरह मेहमान थे। अपने ही घर के उस सयाने बेटे की वह निराली भंगिमा देख सारी वैशाली पागल हो उठी थी। विदेह देश की प्रजाओं को लगा था कि उनका एकमेव राजा आ गया, एकमेव प्रजापति आ गया; जिसकी उन्हें चिरकाल से प्रतीक्षा थी।

फिर महावीर संथागार में बोले थे। तो इतिहास की बुनियादों में क्विपलव के हिलोरे दौड़े थे। वैशाली के गौरव को उन्होंने झंझोड़ कर जगाया था। बेहिचक अपने ही घर में आग लगा दी थी। संथागार में प्रबल आवाज उठी थी : 'आयं वर्द्धमान वैशाली के लिए खतरनाक हैं। उन्हें वैशाली में निर्वासित हो जाना चाहिये।'

और वर्द्धमान ने हँस कर प्रतिसाद दिया था : 'मेरा चेतन कब से वैशाली छोड़ कर जा चुका। अब यह तन भी वैशाली छोड़ जाने की अनी पर खड़ा है। लेकिन भन्ते गण सुनें, वैशाली का यह राजपुत्र, उससे निर्वासित हो कर उसके लिए और भी अधिक खतरनाक हो जाएगा।'

आज वैशाली का वह बागी बेटा, तीर्थंकर हो कर प्रथम बार वैशाली आ रहा है। इस खबर से लिच्छवियों के अष्टकुलक सहम उठे हैं। गण-राजन्वियों की भृकुटियों में बल पड़ गये हैं। राज्य-सभा संकट की आशंका से चिन्ता में पड़ी है। वयोवृद्ध गणपति चेटक सावधान हो कर सामायिक द्वारा समाधान में रहना चाहते हैं।

लेकिन जनगण का आनन्द तो पूर्णमा के समुद्र की तरह उछल रहा है। विदेहों का सदियों से संचित वैभव और ऐश्वर्य पहली बार एक साथ बाहर आया है। वैशाली के सहस्रों सुवर्ण, रजत और ताम्र कलशों की गोलाकार पंक्तियाँ अकूत रत्नों के शृंगार से जगमगा उठी हैं। आकाश का सूर्य धरती के हीरों में प्रतिबिम्बित हो कर सौ गुना अधिक प्रतापी और जाज्वल्य हो उठा है।

सारे नगर में व्याप्त रंगारंग फूलों, पातों, रत्नों के तोरणों, बन्दनवारों और द्वारों तले रात-दिन हज़ारों नर-नारी नाच-गान में डूबे रहते हैं। हर चौक-चौराहे पर, उद्यानों और चौकानों में नाट्य और संगीत का अटूट मिलसिला जारी है। सारे विदेह देश की असूर्यम्पश्या सुन्दरियाँ जाने किस अमोघ मोहिनी से पागल हो

कर सरे राह गाती-नाचती निकल पड़ी हैं। शंख, घंटा-घड़ियाल, तुरही, शहनाई और जाने कितने प्रकार के विचित्र वाजित्रों की समव्रत ध्वनियों में सारा महानगर सतत गुंजायमान है।

प्रत्याशा है कि भगवान के आगमन के ठीक मुहूर्त की सूचना मिलेगी ही। देवों के यान उतरते देखेंगे। दिव्य दंडुभियों के घोष सुनायी पड़ेगे। और तब वैशाली अपूर्व सुन्दरी नववधू की तरह सर्वांग शृंगार कर अपने प्रभु के स्वागत को द्वार-देहरी पर आ खड़ी होगी। महलों कुमारिकाएँ परस्पर गुंथ-जुड़ कर, अनेक पंक्तियों में ऊपरा-ऊपरी खड़ी हो कर, श्री भगवान का प्रवेश-द्वार हो जाएंगी। गांधारी रोहिणी मामी वैशाली के सूरज-बेटे की आरती उतारेगी। सूर्यविकासी और चन्द्र-विकासी कमलों के पाँवों पर बिछ-बिछ कर अनेक रूपसियाँ उनके पग-धारण को झेलती हुई, उन्हें संथागार में ले जाएंगी।

...ऐसे ही रंगीन सपनों में वेसुध वैशाली न जाने कितने दिन उत्सव के आह्लाद से झूमती रही। लेकिन श्री भगवान के आगमन का कोई चिह्न दूर दिगन्तों तक भी नहीं दिखायी पड़ता था। सारा जन-मन चरम उत्सुकता की अनी पर केन्द्रित और व्याकुल था। सिंहतोरण के झरोखे में बजती शहनाई अनन्त प्रतीक्षा के आलाप में बजती चली जा रही थी। उत्सव की धारा भी मन्थर हो कर अलक्ष्य में खोयी जा रही थी।

फिर भी सारे दिन तोरण-द्वार के आगे कुमारिकाओं की गुंथी देहों के द्वार, अदल-बदल कर फिर बनते रहते हैं। श्री भगवान जाने किस क्षण आ जाएँ।...

जाने कितने दिन हो गये, गान्धारी रोहिणी मामी, सिंहतोरण पर मंगल-कलश उठाये खड़ी हैं। निर्जल, निराहार उनकी इस एकाग्र खड्गासन तपस्या से राजकुल त्रस्त है, और प्रजाएँ मन ही मन आकुल हो कर धन्य-धन्य की ध्वनियाँ कर रही हैं। सेवकों ने देवी पर एक मर्कत-मुक्ता का शीतलकारी छत्र तान दिया है। उनके पीछे, बैठने को एक सुखद सिंहासन बिछा दिया है। पर देवी को सुध-बुध ही नहीं है। उन्हें नहीं पता कि वे बैठी हैं, कि खड़ी हैं, कि लेटी हैं, कि चल रही हैं, कि लास्य-भुद्रा में लीन हैं। उनकी यह अगवान्ती मानो चेतना के जाने किम अगोचर आयाम और आस्तरण पर चल रही है।

एक दोपहर अचानक सेनापति सिंहभद्र का घोड़ा सिंहतोरण पर आ कर रुका। एक ही छलांग में उतर कर कोटिभट सिंहभद्र देवी रोहिणी के सम्मुख अनजाने ही नमित से खड़े रह गये। योद्धा का कठोर हृदय पसीज आया। भरभराये कण्ठ से बोले :

‘देवी, यह सब क्या है? महावीर इसे सह सकता है, हम मनुष्य हो कर तुम्हारे इस कायोत्सर्ग को कैसे सहें? हम कैसे खायें, कैसे पियें, कैसे जियें, कैसे अपना कर्तव्य करें। भद्रन्त महावीर...’

और एक आकस्मिक उल्कापात-सा देवी का स्वर फूटा : 'भावधान सेनापति ! भदन्त महावीर नहीं, भगवान महावीर, त्रिलोकपति महावीर !'

'देवी के भक्तिभाव का आदर करता हूँ; मगर तुम्हारे भगवान के श्रमण और तीर्थंकर रूप को मगध ने देखा है, वैशाली का वैसा सौभाग्य कहाँ ?'

'आप की ईर्ष्या नग्न हो गयी, आर्य सेनापति ! उन सर्वदर्शी प्रभु के भीतर तो भूमि और भूमिज को ले कर कोई भेदाभेद नहीं। उन समदर्शी भगवान तक से आपको ईर्ष्या हो गयी ? आप उनके प्रताप को सह नहीं सकते ? श्रमण भगवान तो अपने तपस्याकाल में भी कई बार वैशाली आये। लुहारों, चर्मकारों, चाण्डालों, महामानी नवीन श्रेष्ठ तक को अपनी कृपा से धन्य कर गये; लेकिन महा-सेनापति सिंहदेव को राज्य और युद्ध से कहाँ अवकाश ?'

'क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य पर नियुक्त है, कल्याणी। श्री भगवान की कृपा-दृष्टि हम पर कभी न रही। वे पंचशैल में ही तपे, और मगध में ही उनकी चरम-समाधि हुई। वहीं वे अर्हत् केवली हो कर उठे। वहीं के विपुलाचल पर तीर्थंकर महावीर का प्रथम समवसरण हुआ। वैशाली उनकी चरणधूलि होने योग्य तक न हो सकी। हमारा महा दुर्भाग्य, और क्या कहें !'

'विपुलाचल का समवसरण तो त्रिलोक के प्राणि-मात्र का आवाहन कर रहा था। सारा जम्बूद्वीप वहाँ आ कर नमित हुआ; लेकिन आप और आपका राजकुल वहाँ न जा सका। अपने सूर्यपुत्र तीर्थंकर बेटे को देखना लिच्छवियों को न भाया; लेकिन वैशाली की प्रजाओं ने अपने प्रजापति के, इन्द्रों और महेन्द्रों से सेवित त्रैलोक्येश्वर रूप का दर्शन किया है। उस ऐश्वर्य और सत्ता को वाणी नहीं कह सकती !'

'क्या गान्धार-नन्दिनी ने भी तीर्थंकर महावीर के दर्शन किये हैं ?'

'उनके दर्शन न किये होते, तो मैं क्यों कर जीती, क्यों कर यहाँ खड़ी होती ! ...' देवी का गला भर आया। आँखें बह आयीं।

'कभी तुमने बताया नहीं, रानी ! मुझ से भी छुपाया ?'

'बता कर क्या करती, स्वामिन्। जानती थी, तुम साथ नहीं चलोगे। और यह भी जानती थी कि मेरे जाने और लौट कर सम्वाद देने से भी तुम्हें प्रसन्नता न होगी। कितना जी टूटा, कि बताऊँ तुम्हें, क्या देख आयी हूँ; लेकिन तुम्हारी तनी भृकुटि से अपनी इस निधि को मलिन नहीं होने देना चाहती थी। सो चुप रही, और वह छबि आँख से पल-भर भी ओझल न हो सकी।'

'परम सत्ताधीश महावीर की वह छबि, जिसने वैशाली के कट्टर शत्रु श्रेणिक बिम्बिसार को शरण दी ! उसे आगामी उत्सर्पिणी का प्रथम तीर्थंकर घोषित किया। वैशाली को हरा कर, स्वयम् हार कर, वैशाली के बेटे ने हमारे प्राणों के हत्यारे

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/९

को त्रिलोकी के सिंहासन चढ़ा दिया। उम छबि के आगे तुम अपने धनुष-बाण फेंक आयीं, वीरगना गान्धारी? धन्य है तुम्हारा वीरत्व !'

'मैंने पराजय का नहीं, परम विजय का दृश्य देखा, स्वामिन् । मैंने महावीर के एक कटाक्षपात-तले श्रेणिक बिम्बिसार को धूल में लौटते देखा। मैंने महावीर का वह सूरज-युद्ध देखा, जिसकी माक्षी रहने का आमंत्रण वे मुझे दे गये थे। मैंने देखा कि अयुद्धचमान महावीर ने महायोद्धा श्रेणिक को पलक-मात्र में पछाड़ दिया है। मैं इन्हीं आँखों से देख आयी हूँ, आर्यपुत्र, कि श्रेणिक भग्नासार ने अपना वीरत्व, सम्राटत्व, सिंहासन, सम्पदा सब को महावीर के चरणों में हार दिया। वे खाली हो कर महलों में लौटे, और भीतर झाँका तो पाया कि पोर-पोर में महावीर भर उठा है। वापसी में राजगृही के महालय गयी थी, और चेलना बुआ से मिलती हुई लौटी थी। बताया उन्होंने कि सम्राट तो प्रभु के प्रेम में पागल हो गये हैं। सारे दिन चेलना बुआ को बाँहों में भर—मेरे भगवान—मेरे प्रभु—मेरे महावीर—पूकारते रहते हैं। महानायक सिंहभद्र सुनें, श्रेणिक ने सिंहासन त्याग कर दिया है। मगध की गद्दी सूनी है। निःसन्देह चम्पा में हमारे दोहितृलाल अजातशत्रु राज कर रहे हैं; लेकिन मगध का साम्राज्य सिंहासन खण्डित और सूना पड़ा है !'

'श्रेणिक और सिंहासन-त्याग? क्षमा करें देवि, मेरी समझ काम नहीं करती।'

'यह समझ की नहीं, बोध की भूमि है, आर्यपुत्र। महाभाव में ही यह अनुभूयमान है। आप आँखों से देख कर भी विश्वास न कर सकेंगे। तो उपाय क्या?'

'त्रिलोकपति तीर्थंकर महावीर, कभी वैशाली नहीं आयेंगे, यह तुम मुझ से जान लो, देवि! ...'

ठीक मध्याह्न का घंटा राज-द्वार में बजा। और गान्धारी रोहिणी अचानक आविष्ट-सी हो कर फूट पड़ी :

'ओह तुम...तुमने मुझे धोखा दे दिया, भगवान? तुमने मेरी सारी अगवानियों को ठुकरा दिया? निष्ठुर...तुम...तुम...आ गये मेरे नाथ! लेकिन...'

सिंह सेनापति फटी आँखों से ताकते रह गये। अबूझ है यह लीला !

...अपनी मूर्च्छाओं में भी निरन्तर बेचैन, आम्रपाली ने अपने प्रासाद के अत्यन्त निजी कक्ष की शैया में करवट बदली। मूर्च्छित आम्रपाली ने अनुभव किया कि—उसके वक्षोजमण्डल पर कमलों की चरण-चाप धरता यह कौन चला आ रहा है? उसने चौंक कर आँखें खोलीं : 'ओह तुम...आ...गये! सिंहपौर से नहीं आये। मेरे पौर से मेरी राह आना तुमने पसन्द किया। अभी-अभी तुम इस सप्तभूमि

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१०

प्रासाद के आगे से निकलोगे। कैसे कहें तुम्हारी अगवानी? क्या है इम वारवनिता के पास, तुम्हें देने को? एक कलंकित रूप, सुवर्ण के नीलाम पर चढ़ी भोगदासी!’
 ...और आम्नपाली रो आयी। उसका जो चाहा कि ठण्डी रत्न-शलाओं पर सर पछाड़ दे। क्या करे वह? ...नहीं, आज क्षोभ नहीं। मेरा भवन तुम्हारी अगवादी करेगा। लेकिन मैं? पता नहीं...

...और अगले ही क्षण देवी आम्नपाली की आज्ञा सप्तभूमिक प्रासाद के खण्ड-खण्ड में सन्निभ हो गयी। विपल मात्र में सारे महल में सुन्दरियों और परिचारिकाओं के आवागमन, और मंगल आयोजन का उत्सव मच गया। रागिकृत पुष्पमालाओं से प्रवाहित अष्टगन्ध धूप की धूम्र-गन्ध ने सारे वातावरण को पावनता से प्रसादित कर दिया। मुख द्वार के गवाक्षों में शहनाइयों, शंखनादों और दंडुभियों की ध्वनियाँ गूँजने लगीं। देवी आम्नपाली के प्रासाद के सारे द्वार, वातायन, गवाक्ष और छज्जों पर फूलों में बिछलती सुन्दरियाँ नृत्य कर उठीं। और प्रासाद के जाने किस अज्ञात गोपन कक्ष में से 'शिवरंजिनी' की धीर प्रीत-रागिनी वीणा में समुद्र-गर्भा हो कर गहराती चली गयी।

सारी वैशाली चकित हो गयी। देवी आम्नपाली के घर आज किसकी पहनाई है, वैशाख की इस सन्नाट-भरी तपती दोपहरी में? ...लेकिन हाय, हमारे प्रभु नहीं आये। वे जाने कहाँ अटक हैं? जन-जन के हृदय ने पीड़ा की एक टीसती अंगड़ाई भरी। हाय, हमारे भगवान नहीं आये। सिंह पीर पर बजती शहनाई में प्रतीक्षा की रागिनी अन्तहीन रुलाई होकर गूँज रही है।

□

...और ठीक तभी वैशाली के पश्चिमी द्वार पर एक दस्तक हुई।

जब से मगध के साथ वैशाली का शीत-युद्ध जारी है, वरसों से नगर के उत्तर, दक्षिण और पश्चिम के द्वार बन्द हैं। परकोट सेनाओं से पटे हैं, और बन्द द्वारों पर किले, भाले और बल्लम गड़े हैं। केवल पूर्वीय सिंहतोरण से ही सारा आवागमन होता है। और श्री भगवान का आगमन भी नगर के पूर्वीय और प्रमुख तोरण-द्वार से ही तो हो सकता था। सो वहीं तो सारे स्वागत के आयोजन थे। वहीं कुमारी देहों के तोरण तने थे, वहीं रोहिणी मामी अविचल पग, मंगल-कलश साजे खड़ी थी। इस क्षण वे मूर्च्छित हो गयी हैं। और देवी को वहाँ से उठाने की हिम्मत, स्वयम् उनके आर्यपुत्र सिंह सेनापति भी नहीं कर पा रहे हैं। ...

मध्याह्न का सूर्य आकाश के बीचोबीच तप रहा है। और ठीक उसके नीचे सहस्रार के चन्द्रमण्डल-सा एक दिगम्बर पुरुष, वैशाली के शूलों और साँकलों-जड़े बन्द पश्चिमी द्वार के सम्मुख आ खड़ा हुआ है। उसने सहज आँखें उठा कर द्वार की ओर देखा। और विपल मात्र में सामने जड़े शूल और साँकल फूलमाला की तरह छिन्न हो गये। अर्गलाएँ पानी की तरह गल कर ढलक पड़ीं। और वे प्रचण्ड वज्र-कपाट हठात् यों खुल गये,

तिर्थकर : अप्रैल ७९/११

जैसे सूर्य की प्रथम किरण पड़ते ही नीहारिका सिमट जाती है। और एक विशाल डग भर कर वह शलाका पृथ्व वैशाली में प्रवेश कर गया।

यह क्या कि एक नीरवता जादुई सम्मोहन की तरह सारी वैशाली पर व्याप गयी। जनगण के हृदय में दिनों से उमड़ती जयकारों भीतर ही लीन हो रहीं। समस्त पौरजनों की चेतना एक गहरी शान्ति में स्तब्ध होकर श्री भगवान के उस नगर-विहार को देखने लगी। एक गहन चुप्पी के बीच सहस्र-सहस्र सुन्दरियों की गोरी बाँहें भवन-वातायनों से श्री भगवान पर फूल बरसाती दिखायी पड़ीं।

हजारों-हजारों मुण्डित श्रमणों से परिवरित श्री भगवान वैशाली के राजमार्ग पर यों चल रहे हैं, जैसे सप्त सागरों से मण्डलित सुमेरु पर्वत चलायमान हो। हिमालय और विन्ध्याचल उनके चरणों में डग भर रहे हैं। कभी वे कोटि सूर्यों की तरह जाज्वल्यमान लगते हैं, कभी कोटि चन्द्रमाओं की तरह तरल और शीतल लगते हैं। मानवों ने अनुभव किया कि आँख और मन से आगे का है यह सौन्दर्य, जो प्रतिक्षण नित नव्यमान है।

सब से आगे चल रहा है, हिरण्याभ सहस्रार के समान धर्मचक्र। भगवती चन्दन-बाला की उद्बोधक अंगुलि पर मानो उसकी धुरी घूम रही है। और पुण्डरीक के उज्ज्वल वन जैसी सहस्रों सतियाँ भगवती को घेर कर चल रही हैं। और मानो कि श्री भगवान और उनके सहस्र-सहस्र श्रमण उनका अनुसरण कर रहे हैं। महाकाल शंकर ने जैसे शक्ति को सर्पमाला की तरह अपने गले में धारण किया है।

घर-घर के द्वारों से नर-नारी के प्रवाह निकल कर नदियों की तरह, इस चलायमान महासमुद्र में आ मिले हैं। जहाँ से श्री भगवान अपने विशाल श्रमणसंघ के साथ गुजर जाते हैं, पुरजन और पुरांगनाएँ वहाँ की धूलि में लोट-लोट कर अपनी माटी को धन्य कर रहे हैं। और अथाह नीरवता के बीच यह शोभायात्रा चुपचाप चल रही है।

अनेक चक्रपथों को पार करती हुई यह शोभायात्रा, वैशाली के प्रमुख चतुष्क में प्रवेश करती हुई मंथर हो चली है। सप्तभौमिक प्रासाद के सामने आकर श्री भगवान हठात् थम गये। सुवर्ण-मीना-खचित इस वारांगना-महल के प्रत्येक द्वार, वातायन, गवाक्ष, छज्जे पर से अप्सरियों-जैसी हज़ारों सुन्दरियाँ फूलों और रत्नों की राशियाँ बरसाती हुई अघर में झूल-झूल गयीं। प्रमुख द्वार उत्कट प्रतीक्षा की आँखों-सा अपलक खुला है। समस्त पुरजनों की दृष्टि द्वार पर एकटक लगी है, कि अभी-अभी देवी आम्न-पाली वहाँ अवतीर्ण होंगी। वे अपनी कर्पूरी बाँहें उठाकर श्री भगवान की आरती उतारेंगी, लेकिन उस द्वार का सूनापन ही सर्वोपरि होकर उजागर है।

श्री भगवान रुके हुए हैं, तो काल रुक गया है। सारी स्थितियाँ और गतियाँ स्तम्भित होकर रह गयी हैं। मानव मात्र मानो मनातीत होकर केवल देखता रह गया है।

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१२

सप्तभीमिक प्रासाद के द्वारपक्ष में अन्तरित कंगन का एक नीलाभ हीरा चमका और ओझल हो गया। सहस्रदीप आरती का नीराजन उठाकर देवी आम्रपाली ने डग भरती चाही; लेकिन उनका वह पद्मराग चरण हवा में टँगा रह गया। . . .

किवाड़ की पीठ पर टिकी ठुड्डी और छाती पर एक बड़ी सारी आँसू की बूँद ढरकती चली आयी। एक मिसकी फूटी। और आरती उठायी बाहें शिलीभूत हो रही। . . . 'नहीं, मैं तुम्हारे योग्य न हो सकी। मैं तुम्हारी आरती कौन-सा मुँह लेकर उतारूँ। तुम सारे जगत के भगवान हो गये, लेकिन मेरे भगवान न हो सके। वैशाली का सूर्यपुत्र मेरा न हो सका, तो भगवान को लेकर क्या करूँगी? भगवान नहीं . . . मनुष्य चाहिये मुझे। मेरा एकमेव पुरुष। जो मुझे छू सके, मैं जिसे छू सकूँ। जो मुझे ले सके, मैं जिसे ले सकूँ। तुम तो आकाश होकर आये हो, तुम्हें कहीं से पकड़ूँ। नहीं . . . नहीं . . . नहीं . . . मैं तुम्हारे सामने न आऊँगी। . . .

देवी आम्रपाली का द्वार स्वागत-शून्य ही रह गया। वहाँ श्री भगवान की आरती उतारी गयी। अगले ही क्षण श्री भगवान चल पड़े। काल गतिमान हो गया। इतिहास वृत्तायमान हो गया। शोभायात्रा श्री भगवान का अनुसरण करने लगी। नगर के तमाम मण्डलों, चौराहों, त्रिकों, पथों, अन्तरायणों को धन्य करते हुए प्रभु अविकल्प क्रीड़ाभाव से वैशाली की परिक्रमा करते चले गये।

अपराह्न बेला में श्री भगवान वैशाली के विश्व-विश्रुत संधागार के सामने से गुजरे। असूर्यपश्या सुन्दरियों की उन्मुक्त देहों से निर्मित द्वार में प्रभु अचानक रुक गये। गान्धारी रोहिणी मामी ने जाने कितने भंगों में बलखाते, नम्रीभूत होते हुए माणिक्य के नीराजन में उजलती जोतों से प्रभु की आरती उतारी। उसकी आँखें आँसुओं में डूब चलीं। श्री भगवान के अमिताभ मुख-मण्डल को हज़ारों आँखों से देखकर भी वह न देख पायी।

देवी रोहिणी ने कम्पित कण्ठ से अनुनय किया :

'वैशाली के सूर्यपुत्र तीर्थंकर महावीर, फिर एक बार वैशाली के संधागार को पावन करें। यहाँ की राजसभा प्रभु की धर्मसभा हो जाए। प्रभु वैशाली के जनगण को यहाँ सम्बोधन करें।'

सुनकर वैशाली के अष्टकुलक राजन्वों को काठ मार गया। उन्हें लगा कि वैशाली के महानायक की अर्द्धांगना स्वयम् वैशाली के मत्यानाश को न्यौता दे रही हैं। अचानक मुनार्या पड़ा :

'महावीर के सूरज-युद्ध को साक्षी होकर भी रोहिणी इतनी छोटी बात कैसे बोल गयी ! जानो गान्धारी, दिगम्बर महावीर अब दीवारों में नहीं बोलता, वह दिगन्तों के आरपार बोलता है। तथास्तु देवी। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। शीघ्र ही वैशाली मुझे सुनेगी। मैं उसके जन-जन की आत्मा में बोलूँगा।'

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१३

अचानक अब तक व्याप्त निस्तब्धता टूट गयी। असंख्य और अविराम जयकारों की ध्वनियों से वैशाली के सुवर्ण, रजत और ताम्र कलशों के मण्डल चक्राकार घूमते दिखायी पड़ने लगे।

और भगवान नाना वाजिंत्र ध्वनियों से घोषायमान, सुन्दरियों की कमानों से आवेष्टित वैशाली के पूर्वे द्वार को पार कर, 'महावन उद्यान' की ओर गतिमान दिखायी पड़े।

और तभी हठात् वैशाली के आकाश देव-विमानों की मणि-प्रभाओं से चौधिया उठे। और देव-दुंदुभियों तथा शंखनादों से वैशाली के गर्भ दौलायमान होने लगे।

□

अगले दिन सूर्योदय के साथ ही सारी वैशाली में जंगली आग की तरह यह सम्वाद फैल गया, कि कठोर कामजयी महावीर, वैशाली के जगत्-विख्यात केलि-कानन 'महावन उद्यान' में समवसरित हुए हैं। मंदिरालय, झूतालय, वेश्यालय, देवालय से लगाकर भद्र जनों के लोकालय तक में एक ही अपवाद फैला हुआ है। जिस महावीर की वीतरागता लोकालोक में अतुल्य मानी जाती है, वह कुलिश-कठोर महावीर वैशाली के विश्व-विश्रुत प्रमदवन की रागरंग से आलोडित वीथियों में विहार कर रहा है।

वैशाली का तारुण्य इस घटना से सन्त्रस्त और भयभीत हो उठा। क्या महावीर ने हमारी प्रणय-केलि के प्रमदवन को हम से छीन लेना चाहा है? क्या वे हमारे युवा मन के मदन की विदग्ध और मादिनी लीला का मूलोच्छेद करने आये हैं? ऐसे महावीर हमारे क्रीडाकुल तन और मन के भगवान कैसे हो सकते हैं? प्राण मात्र की सब से बड़ी ह्लादिनी शक्ति है काम। महाकाल शंकर ने परापूर्वकाल में जब क्रुद्ध होकर काम का दहन कर दिया था, तो सारी सृष्टि उदास हो गयी थी। शाश्वत संसार की लीला रुक गयी थी। काल की गति मूच्छित हो गयी थी। तब जगत की धात्री पार्वती ने दारुण तपस्या करके, फिर से शंकर को आह्लादित और प्रसन्न किया था। जगज्जननी ने दुर्द्धर्ष विरागी जगन्नाथ शंकर के मनातीत चैतन्य को फिर अपनी मोहिनी में अवश कर दिया था। तब फिर से कण-कण में कामदेव उन्मेषित होकर जाग उठे। शंकर की गोद में शंकरी उत्संगित हुई, और सकल चराचर में फिर से प्राण की धारा प्रवाहित हो उठी। जगत उस महाप्रसाद से प्रफुल्लित और लीलायमान हो उठा। जीवन की धारा फिर अस्खलित वेग से बहने लगी।

...मदन-दहन महेश्वर ने जिस काम के बीज को ही भरमीभूत कर दिया था, उससे आखिर वे धूर्जटि भी हार गये। क्या उसी काम का मूलोत्पादन करने आये हैं तीर्थंकर महावीर? तो उन्हें एक दिन निश्चय ही उससे हार जाना पड़ेगा। ... और इस भावधारा के साथ ही वैशाली के युवजनों और युवतियों का काम पूर्णमा के समुद्र के समान सम्पूर्ण वेग से उद्वेलित होने लगा। ... ओह, यह कैसा परस्पर विरोधी चमत्कार है?

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१४

... और महावन उद्यान के समवसरण में अनाहत ओंकार ध्वनि के साथ, श्री भगवान ने प्रभा-मण्डल में से लोहित, पीत, कृष्ण, नील, और श्वेत ज्योति से स्फुरित 'ॐ' के असंख्य विग्रह ग्रह-नक्षत्रों की तरह प्रवाहित होने लगे। और हुआत वह अनहद ओंकारनाद शब्दायमान हुआ :

'सत्य-प्रकाश सत्य-प्रकाश, सत्यानाश सत्यानाश, यही महावीर है, यही महेश्वर है। महेश्वर शंकर ने मदन-दहन किया था, सृष्टि में कुण्ठित हो गये सहज काम को निर्ग्रथ और मुक्त करने के लिए। विकृत हो गयी रति को, प्रकृत और सम्मित बनाने के लिए। पतित हो गये, काम के पुनरुत्थान के लिए। तब पार्वती की आत्माहृति में से नूतन और मुक्त काम उत्थायमान हुए। सृष्टि फिर सहज और प्रसन्न हो गयी। ...

श्री भगवान चुप हो गये। एक सत्राया वातावरण में कोई अपूर्व सम्बेदन उभारने लगा। मौन इससे अधिक गर्भवान शायद पहले कभी न हुआ। अनायास पारमेश्वरी दिव्यध्वनि उच्चरित होने लगी :

'ओ वैशाली के तरुणो, तुम महावीर से नाराज हो गये? सुनो, मेरे प्रियतम युवजनों, कल की सन्ध्या में वैशाली पूर्णिमा का उदीयमान पीताभ चन्द्रमण्डल 'महावन' में झॉकता दिखायी पड़ा। परम प्रिया के आनन का दर्शन पाया। प्रमदवन की कोयल ने डाक दी। उसके आभ्रवनों की अँबियों ने मुझे अपने में खींचा। औचक ही एक बाला किमी आभ्र डाल से अँबिया-सी चू पड़ी। वह अँगड़ाई लेती हुई उठी, और नाना भंगों में अपने तन को तोड़ती हुई, सारे महावन में एक उन्मादक लास्य-नृत्य करने लगी। ... अचूक था अनंग का वह आवाहन। और अनंगजयी महावीर बरबस ही मोहरात्रि के उस महाकान्तार में प्रवेश कर गया। अखण्ड रात उसके मेचक केशों की शैया में महावीर अधिक से अधिकतर दिग्म्बर होता गया। यहाँ तक कि उसका तन ही तिरोधान पा गया। केवल एक नग्न ली उस निखिल-मोहिनी के वक्षोज-मण्डल पर खेलती रही। और उसमें वह परम कामिनी गलती रही, गलती रही, और अन्ततः निरी नग्न विदे-हिनी होकर उस नभन जोत में मिल गयी। ...'

और श्री भगवान सहसा ही चुप हो गये; किन्तु एक महाशून्य अनेक मण्डलों में उत्थान करता हुआ, सृष्टि के स्रोत पर नये बीजाक्षर लिखता रहा। श्री भगवान का धण-मात्र का मौन, निर्वाण का तट छू कर फिर मुखरायमान हुआ :

'वैशाली के विलासियों, वारांगनाओं, प्रणयाकुल युवा-युवतियों, मैं तुम्हारे केलि-कानन में चला आया, तो कल साँझ तुम वज्राहत से रह गये। अपने मनो को मारकर महावन के किनारों में ही लौट आये। मेरे वहाँ होते, तुम्हें अपने प्रमदवन में प्रवेश करने की हिम्मत न हुई। तुम खिन्न और उदास हो गये।

'तो क्या मान लूँ कि तुम्हारा प्रमदवन पापवन है? मान लूँ कि सन्ध्याओं और रात्रियों में तुम वहाँ रमण करने नहीं आते, प्यार करने नहीं आते, पाप करने आते हो? जहाँ पाप हो, वहाँ दुराव हो सकता है। जहाँ आप हो, वहाँ दुराव कैसे हो सकता है?

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१५

मुने वैशाली की तरुणाई, उसका तारुण्य मैं हूँ, उसकी कामकौल मैं हूँ। मेरे कैवल्य से बाहर कुछ भी नहीं। मुझसे तुम क्या छुपाना चाहते हो? मुझसे तुम्हारा पाप भी नहीं छुपा, आप भी नहीं छुपा। तुम्हारे अस्तित्व का कण-कण, क्षण-क्षण मेरे ज्ञान में तरंगायित है। फिर मुझ से कैसा बिलगाव, मुझ से कैसा दुराव?

‘मेरे परम प्रिय जनों, मुनो! तुम्हारे तारुण्य और काम का प्रेमी है महावीर, इसी से वह सदा कामेश्वर तरुण है। मेरा कौमार्य, वीतमान नहीं, नित न्यथमान है। सदा बसन्त है अर्हत् की चेतना। परात्पर चैतन्य के भीतर से ही वह काम प्रवाहित है, जिसने तुम्हें इतना अवश कर दिया है। काम की एकमात्र अभीप्सा है—अपनत्व, आप्तभाव, किसी के साथ अत्यन्त तदाकार, एकाकार, अभिन्न हो जाना। मैं तुम्हारे उस काम का अपहरण करने नहीं आया, उसका धरण करके, उसे परम शरण कर देने आया हूँ। क्या तुम्हें अपनी प्रियाओं की गोद में वह परम शरण कभी मिली? मिली होती, तो ऐसी सत्यानाशी जलन और भटकन क्यों होती? तुम्हारी प्यास का अन्त नहीं, पर तुम्हारे विलास का क्षण-मात्र में अन्त आ जाता है। उत्संग भंग हो जाता है, तुम परस्पर से बिछुड़ कर, पल-मात्र में परस्पर को पराये और अजनबी हो जाते हो। जो सम्भोग हो जाए, स्खलित हो जाए, वह सम्भोग कैसे हो सकता है, सम्पूर्ण भोग कैसे हो सकता है? वह तो विषम और अपूर्ण भोग ही हो सकता है। तुम्हारा रमण अपने में नहीं, पराये में है। कुछ पर है, पराया है, अन्य है, इसीसे तो ऐसी अदम्य विरह-वेदना है। तुम्हारा रमण स्वभाव में नहीं, पर-भाव में है। इसी से वह पराधीन परावलम्बी है। पराधीन प्यार को एक दिन टूटना ही है, पराजित होना ही है। जिसमें स्खलन है, वह रमण नहीं, विरमण है। जिसमें योग नहीं, वह भोग नहीं, वियोग है।’

‘मुनो देवानुप्रियो, महावीर तुम्हारे काम को छीनने और तोड़ने नहीं आया, उसे अखण्ड से जोड़ कर अटूट, अक्षय्य, अस्खलित करने आया है। वह तुम्हारे आलिंगनों और चुम्बनों को भंग करने नहीं, उन्हें अभंग और अनन्त कर देने आया है। सत्यकाम वह जिसमें अन्तर न आये, जिसमें अवरोध और टकराव न आये। जिसमें रक्त-मांस और हड्डियाँ न टकरायें। सच्चा काम तो अगाध और अक्षय्य मार्दव और सौन्दर्य है। उस सत्य-काम के आलिंगन में अन्यत्व नहीं, अनन्य एकत्व होता है। उसमें होता है एक अध्यावाध लोच, लचाव, नम्यता, मुरम्यता, सामरस्य। देह, प्राण, मन। इन्द्रियाँ सब स्वभाव में लीन होकर अपने ही शान्त शयित हो रहती हैं। ऐन्द्रिक विषय मात्र तन्मात्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर, अन्ततः चिन्मात्रा में स्तब्ध हो जाता है। परमानन्द के चरम पर जिस मिलन-मुख की धारा स्खलित हो जाए, उसे आनन्द कैसे कहें, प्रेम कैसे कहें, सौन्दर्य कैसे कहें? जो अविरल है, जो निरन्तर है, जो अध्यावाध है, वही एक मात्र सच्चा काम है, मिलन है, आनन्द है, अनाहत सौन्दर्य और प्रेम है। जो मैथुन विरल है, भंगुर है, जिसमें पर है और अन्तर है, जिसमें सदा परायेपन की

तीर्थकर : अप्रैल ७९/१६

शंका है, भय है; जिसमें सदा खो जाने का, बिछुड़ जाने का दंश है, जिसमें सदा पर-भाव का आतंक है, संदेह है, उद्वेग है, व्याकुलता है; वह काम नहीं, कर्म है; वह प्रेम नहीं, पीड़न है, पराजय है, पाप है। वह आप से बिछुड़ जाता है।

‘वैशालको, आप हुए बिना पाप से निस्तार नहीं। तुम्हारा काम, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा राज्य, तुम्हारा सुख, तुम्हारा विलास, सभी कुछ तो परतन्त्र है। परतन्त्र न होता, तो भयभीत क्यों होता? तुम्हारा प्रणय-काम स्वतंत्र होता तो वह कायर होकर महावन के अन्धकारों में चोरी-चोरी क्यों क्रीड़ा करता? तुम्हारा राज्य स्वतंत्र और निर्भय होता, तो तुम्हारे नगर-प्राचीर सैन्यों और शस्त्रों से पटे क्यों होते? तुम्हारा सुख और विलास स्वतंत्र होता, तुम्हारा ऐश्वर्य और वैभव स्वतंत्र होता, तो वह लक्ष-लक्ष जन के शोषण और पीड़न पर निर्भर क्यों होता? तुम्हारा सब कुछ पराधीन, है, तुम कैसे स्वतंत्र, तुम कैसे प्रजातंत्र? जिस वैशाली का सहज काम भी गुलाम है उसकी स्वतंत्रता शून्य का अट्टहास्य मात्र है! ...’

श्री भगवान हठात् चुप हो गये। तभी एक वैशालक युवा सामन्त का तीव्र प्रति-वाद स्वर सुनायी पड़ा :

‘वैशाली का काम गुलाम नहीं, भन्ते महाश्रमण, उसका प्रेम पराधीन नहीं भन्ते भगवान्। स्वतंत्रता ही हमारे विदेह देश की एक मात्र आराध्य देवी है। सर्व-प्रिया देवी आम्रपाली हमारी उस स्वतंत्रता का मूर्तिमान विग्रह है। वे साक्षात् मुक्ति-रूपा है। उन पर किसी एक का अधिकार नहीं हो सकता। सब उन्हें प्यार करने को स्वतंत्र हैं। स्वातंत्र्य का इससे बड़ा आदर्श पृथ्वी पर कहाँ मिलेगा, भगवन्?’

‘क्या देवी आम्रपाली भी किसी को प्यार करने को स्वतंत्र है?’

‘वे एक साथ सब को प्यार करने को स्वतंत्र हैं।’

‘बेशर्त, बेदाम?’

सामन्त निरुत्तर होकर शून्य ताकता रह गया। प्रभु प्रश्न उठाते चले गये :

‘क्या देवी आम्रपाली अपना प्रियतम चुनने को स्वतंत्र है? क्या वे चाहें तो किसी अकिंचन चाण्डाल या निर्धन, निर्बसन भिक्षुक को प्रेम कर सकती हैं?’

सारे लिच्छवियों की तर्हें काँप उठीं। भगवान बोलते चले गये :

‘तुम्हारे सुवर्ण-रत्नों की साँकलों में जकड़ी है आर्यावर्त की वह सौन्दर्य-लक्ष्मी। तुम्हारे राज्य में सुवर्ण ही सौन्दर्य का एक मात्र मूल्य है। वही प्रेम-प्यार और परिणाम का निर्णायक है। तुम्हारे यहाँ चैतन्य काम भी जड़ कांचन का कैंदी है। तुम्हारे यहाँ जड़ का निर्णायक चैतन्य नहीं, चैतन्य का निर्णायक जड़ पुद्गल है। यहाँ गणमाता गणिका होकर रहने को विवश है, वह गणराज्य नहीं, गणिका-राज्य है। ...’

एक प्रलयंकर सन्नाटे में गण राज्ञियों के क्रोध का ज्वालामुखी फट पड़ने को कसमसाने लगा। तभी सेनापति सिंहभद्र का रोपभरा तीखा प्रश्न सुनायी पड़ा।

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१७

‘वैशालक तीर्थंकर महावीर वैशाली के प्रति इतने निर्दय, इतने कठोर क्यों हैं ? अहिंसा के अवतार कहे जाते महावीर को, वैशाली के प्रति इतना वैर क्यों है ?’

‘अहिंसा के अवतार से बड़ा हिंसक और कौन हो सकता है ? क्योंकि वह स्वयम् हिंसा का हिंसक होता है ।’

‘तो उसका आखेट वैशाली क्यों हो ?’

‘क्योंकि वैशाली महावीर न हो सकी, पर महावीर वैशाली हो रहने को वाध्य है । लोक में विश्वरूप महावीर वैशाली का प्रतिरूप माना जाता है, क्योंकि वह वैशाली की मिट्टी में से उठा है । वह अपनी जनेत्री धरिणी को इतनी कदर्य और कुशील नहीं देख सकता । जो पूर्णत्व मुझमें से प्रकट हुआ है, वह वैशाली का अणु-मात्र अपूर्णत्व भी सह नहीं सकता । तो वह वैशाली के पतन को कैसे सहें, वह इतनी जघन्य कुत्सा और कुरूपता को कैसे स्वीकारे ?’

‘दया के अवतार महावीर वैशाली पर दया तो कर ही सकते हैं ।’

‘महावीर सर्व पर दया कर सकता है, पर अपने ऊपर नहीं । वह सर्व को क्षमा कर सकता है, पर अपने को नहीं । इसी से महावीर अपने हत्यारे और बलात्कारी श्रेणिक को क्षमा कर सका, लेकिन वैशाली को क्षमा न कर सका । सारे जम्बूद्वीप में आज वैश्य और वेश्या-राज्य व्याप्त है । लेकिन अपनी जनेता वैशाली को महावीर वेश्या नहीं देख सकता । भगवती आम्रपाली का सौन्दर्य जहाँ एक हजार सुवर्ण के नीलाम पर चढ़ा है, वहाँ भगवान् महावीर का वीतराग सौन्दर्य भी शर्त और सोदे की वस्तु हो ही सकता है । उसके अभिषेक और पूजा की भी यहाँ बोलियाँ ही लगायी जा सकती हैं । जो सब से बड़ी बोली लगा दे, वही महावीर का प्रथम अभिषेक और पूजन करे !’

रुदन से फूटते कण्ठ से रोहिणी चीत्कार उठी :

‘त्रिलोकीनाथ का यह अत्याचार अब और नहीं सहा जाता । वैशाली की लक्ष-लक्ष प्रजा तुम्हारे पगों में पाँवड़े होकर बिछी है, उसकी ओर तुमने नहीं देखा । क्या अष्टकुलक गणराजा ही वैशाली हैं, यह विशाल प्रजा वैशाली नहीं ?’

‘वैशाली की धरती पर इसकी प्रजा का राज्य नहीं, राजवंशी अष्टकुलक राज्य करते हैं । यहाँ व्यवस्था उनकी है, प्रजा की नहीं । प्रजा की छन्द-शलाकाएँ (मतदान), उनके धूर्त और वंचक गणतंत्र का मुखौटा मात्र है । वैशाली और अम्बपाली को किसी चाण्डाल या चर्मकार या कुम्भार ने वेश्या नहीं बनाया, उसे वेश्या बनाया है, उसके सत्ताधारियों और साहूकारों ने । उन्होंने, जो सृष्टि के कोमलतम हृदय और सौन्दर्य को भी क्रय-विक्रय के पण्य में ले आते हैं । जहाँ पुरुष स्त्री से सम्भोग नहीं करता, सुवर्ण, सुवर्ण से सम्भोग करता है । जिनके कानून में मनुष्य, मनुष्य को प्यार नहीं करता, पैसे-पैसे को प्यार करता है । जहाँ अघोर चैतन्य पर घनघोर जड़त्व का फोलादी पंजा बैठा हुआ है । जहाँ अर्हन्त का सौन्दर्य भी कांचन की कसौटी पर ही परखा जा सकता

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१८

है। उसे यहाँ कौन पहचानेगा ? फिर भी लाखों वैशालक उसे पहचानते हैं और प्यार करते हैं, लेकिन उनकी पहचान और प्यार यहाँ निणयिक नहीं। वह मूल्य और व्यवस्था का मानदण्ड नहीं। . . .

क्षणैक चुप रह कर श्रीभगवान फिर बोले :

“अर्हत् महावीर अपने पूर्ण सौन्दर्य के मुख-मण्डल को देखने का दर्पण खोज रहा है। वैशाली के कांचन-कामी के दर्पण में वह चेहरा नहीं झलक सकता। तमाम प्रजाओं की असंख्य आँखों में मेरे सौन्दर्य का दर्पण खुला है, निःसन्देह, लेकिन सत्ता और सम्पत्ति के खनीय व्यापारों और युद्धों ने उसे अन्धा कर रक्खा है। निर्दोष और घायल प्रजाएँ, अपने भगवान प्रजापति को प्यार करने और पहचानने से बंचित और मजबूर कर दी गयी हैं। महावीर अपना चेहरा देखने को एक अविकल दर्पण खोज रहा है। क्या वैशाली वह दर्पण हो मकेगी ?”

नर्वशक्तिमान, वीतराग प्रभु का स्वर कातर और याचक हो आया। . . . और वैशाली के लाखों प्रजाजन सिसक उठे। उनके घुटते आक्रन्द में ध्वनित हुआ : ‘झाँक सको तो इन फटते हृदयों में झाँको, देख सको तो देखो इनमें अपना चेहरा।

और गांधारी रोहिणी स्त्री-प्रकोष्ठ से छलांग मार कर गन्धकुटी के पादप्रान्त में आ खड़ी हुई। और पुकार उठी :

‘रोहिणी यहाँ भी निःशस्त्र नहीं आयी, नाथ, जहाँ हर कोई अपना शस्त्र बाहर छोड़ आने को बाध्य है। लेकिन रोहिणी अपना अन्तिम तीर लेकर यहाँ आयी है। ताकि उसकी नोक में तुम अपना चेहरा देख सको। . . .’

और रोहिणी ने अपनी बाहु के धनुष पर उस तीर को तान कर, उससे अपनी छाती बंध देनी चाही।

‘रोहिणी, तुम्हारा यह तीर महावीर की छाती छेदने को तना है। महावीर प्रस्तुत है, जो चाहो उसके साथ करो।’

रोहिणी चक्कर खा कर, वहीं चित हो गयी। तीर अधर में स्तम्भित रह गया। और रोहिणी के हृदय-देश से रक्त उफन रहा था। श्री भगवान ने अपने तृतीय नेत्र से उसे एकाग्र निहारा। . . . वह रक्त एक रातुल कमल में प्रफुल्लित हो उठा।

“माँ वैशाली के हृदय में महावीर ने अपना अमिताभ मुख-मण्डल देखा। जनगण की असंख्य आँसू भरी आँखों में केवल महावीर झाँक रहा है। तीर्थंकर महावीर कृतकाम हुआ। उसे अपना दर्पण मिल गया। मुझे लो वैशालको। मुझे अपने में ढालो। मुझे अपने आश्रय में देकर इस अन्तरिक्षचारी को धरती दो, आधार दो। मेरी कैवल्य-ज्योति को सार्थक करो।’

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/१९

लाखों अध्रु-विगलित कण्ठों से जयध्वनि गुंजायमान हुई :

‘परम क्षमावतार, प्रेमावतार, अहिंसावतार भगवान महावीर जयवन्त हों।’

एक महामौन में श्री भगवान अदृश्यमान होते-से दिखायी पड़े। और लक्ष-कोटि मानवों ने अनुभव किया कि वे उनके हृदयों में भर आये हैं। अचानक सुनायी पड़ा :

‘महावीर की अहिंसा वैशाली में मूर्त हो। महावीर की क्षमा वैशाली की धरित्री हो। महावीर का प्रेम वैशाली में राज्य करे। वह उसे विश्व की सर्वोपरि सत्ता बना दे। वैशाली की प्रजा ही यह कर सकती है, उसका राज्य नहीं, उसका सत्ता-सिंहासन नहीं।’

तभी जनगण का एक तेजस्वी युवा तरुण सिंह की तरह कूद कर सामने आया :

‘वैशाली में गृह-युद्ध की आग धधक रही है, भगवन्। महावीर को यहाँ मूर्त करने के लिए, यह गृहयुद्ध हमें लड़ लेना होगा। हम इसी क्षण प्रस्तुत हैं। श्री भगवान आज्ञा दें, तो गृहयुद्ध का शंखनाद करूँ, और हम इन राजन्यों से वैशाली की सड़कों पर निपट लें। वैशाली के भाग्य का फैसला हो जाए।’

‘गृहयुद्ध अनिवार्य है, युवान्। यह सर्वत्र है। उसे लड़े बिना निस्तार नहीं। हर मनुष्य अपने भीतर एक गृहयुद्ध ले कर जी रहा है। रक्त, मांस, हड्डी, मज्जा, मस्तिष्क, हृदय, प्राण, मन, साँस, बहत्तर हजार नाड़ियाँ, सब एक-दूसरे के साथ निरन्तर युद्ध लड़ रहे हैं। साँस और साँस के बीच युद्ध है। घर-घर में गृहयुद्ध अनिवार्य चल रहा है। मनुष्य और मनुष्य के बीच, मित्र और मित्र के बीच, आत्मीय स्वजनों के बीच भी निरन्तर गृहयुद्ध बरकरार है। वस्तुओं और व्यक्तियों के बीच हर समय लड़ाई जारी है। हम एक-दूसरे के घर में घुसे बैठे हैं। हम परनारी पर बलात्कार करने की तरह एक-दूसरे के भीतर बलात् हस्तक्षेप कर रहे हैं। हम अपने घर में नहीं, दूसरे के घर में जीने के व्यभिचार से निरन्तर पीड़ित हैं। तेजस्वी युवान् अपने में लौटी, अपने साथ शान्ति स्थापित करो। अपने स्वभाव के घर में ध्रुव और स्थिर हो कर रहो। अपने आत्मतेज को अपराजेय बना कर, निश्चल शान्ति में वैशाली के संथागार का द्वार तमाम प्रजाओं के लिए खोल दो। वहाँ विराजित प्रजापति ऋषभदेव के सिंहासन पर से अष्टकुलक नहीं, वैशाली का जनगण राज्य करे। अपने भाल के सूरज से लड़ो युवान, ताकि राजन्यों के सारे अस्त्रागार उसके प्रताप में गल जाएँ। और उस गले हुए फौलाद में हो सके तो महावीर को ढालो। उस वज्र में महावीर के मार्दव, आर्जव, प्रशम, ध्यार और सौन्दर्य को मूर्त करो।’

तभी जनगण का एक और युवान बह्निमान होकर उठ आया :

‘वैशाली में रक्त-क्रान्ति हो कर रहेगी, भगवन् ! उसके बिना जनराज्य सम्भव नहीं। राज्य-दल और उसके पृष्ठ-भोषक श्रेष्ठी-साहुकार एक ओर हैं। और समस्त

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/२०

सामान्य प्रजाजन दूसरी ओर एकजुट कटिबद्ध हैं। बरसों हो गये, प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राज्य ने उस पर युद्ध थोप रक्खा है। प्रजा युद्ध नहीं चाहती, सैनिक युद्ध नहीं चाहते, यह केवल सत्ता-सम्पत्ति के लोभी वृद्धों का आपसी युद्ध है। और निर्दोष प्रजा उसमें पिसते ही जाने को मजबूर है। वैशाली के हज़ारों-लाखों मासूम जवान इस युद्ध की आग में झोंक दिये गये हैं। हम इस युद्ध को अब और नहीं सहेंगे। रक्त-क्रान्ति अनिवार्य है, भगवन् ! हम इन राजन्वियों का खून वैशाली की सड़कों पर बहा कर, अपने मासूम खून का बदला इतसे भुना कर रहेंगे। आज्ञा दें भगवन्, तो रक्त-क्रान्ति की घोषणा कर दें ...'

'निश्चय ही रक्त-क्रान्ति अनिवार्य है, आयुष्यमान लिच्छवि। रक्त का प्रकृत प्रवाह अवरुद्ध हो गया, तो रक्त-क्रान्ति होगी ही। सड़े और ग्रंथीभूत रक्त का बह जाना ही प्राकृत है, मंगल है। सारे जम्बूद्वीप के रक्त में जड़ सुवर्ण की गठिं पड़ गयी हैं। सारी मनुष्य-जाति का नाड़ीमण्डल लोभ के मवाद से टीस रहा है। एक प्रकाण्ड अर्बुद-ग्रंथि (कैसर) से सत्ता का चैतन्य केन्द्र जड़ीभूत हो गया है। अपना ही रक्तदान करके, सत्ता को इस महामृत्यु से मुक्त करो, आयुष्यमान्। आत्माहृति की यज्ञ-ज्वालाओं में ही, यह वज्र गल सकेगा। इसी से कहता हूँ, रक्त-क्रान्ति अनिवार्य है, देवानुप्रिय। यदि अवरुद्ध रक्त, क्रान्त न हो, निष्क्रान्त न हो, तो अतिक्रान्ति कैसे हो; अतिक्रान्ति न हो, तो उत्क्रान्ति कैसे हो; मुक्ति-मन्थ पर अगला उत्थान कैसे हो? ...'

'जनगण सुने, कल वैशाली में रक्त-क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। महावीर के उत्तोलित रक्त ने पूर्व द्वार के स्वागत-समारोह को नकार दिया। वह वैशाली के बन्द और वज्र-जड़ित पश्चिमी द्वार पर टकराया। मेरे सहस्रार के सूर्य-मण्डल को भेद कर उस रक्त ने दिक्काल पर पछाड़ खायी। और मेरे एक दृष्टिपात मात्र से सत्ता की साँकलें तोड़ कर वे बरसों के वज्रीभूत कपाट स्वतः खुल गये। और उसी के अनुसरण में उत्तरी और दक्षिणी द्वार भी आपोआप खुल पड़े। अलक्ष्य में एक प्रलयंकर नीरव विस्फोट हुआ। जन-जन उससे स्तब्ध हो गया। वैशाली के लाखों सैनिक परकोट छोड़ कर, शस्त्र त्याग कर, महावीर के नगर-विहार का अनुगमन कर गये। आज वैशाली के चारों द्वार सारे संसार के लिए खुले हैं। तमाम परचक्रों और आक्रमणकारियों के लिए खुले हैं। परकोटों-तले शस्त्र धूल चाट रहे हैं। वैशाली के तमाम राजा और सामन्त अपनी तलवारें त्याग कर ही इस समवसरण में प्रवेश कर सके हैं। केवल रोहिणी एक तीर ले कर यहाँ आयी : अपनी ही छाती उससे छिद्रवा देने के लिए। लेकिन वह तीर व्यर्थ हो कर शून्य में टँगा रह गया। रोहिणी के हृदय का रक्त आपोआप ही फूट आया। वह माँ के प्यार का रक्त है, वह अर्हत् महावीर के हृदय का रक्त है। वह फूट कर कमल ही हो सकता था। यही महावीर की वैश्विक रक्त-क्रान्ति है। महावीर के इस रक्त कमलासन को कौन

तीर्थकर : अप्रैल ७९/२१

अपने हृदय पर धारण करेगा ? आने वाली रक्त-पिच्छिल शताब्दियों में कौन इस रक्त-क्रान्ति का नेतृत्व करेगा ? ...'

एक अफाट मरुस्थल की भयंकर निरुत्तरता में श्री भगवान के शब्द काल और इतिहास के आरपार अप्रतिहत गूँजते चले गये । उन्हें प्रतिमाद देने वाली क्या कोई वाणी पृथ्वी पर विद्यमान नहीं है ?'

हठात् रोहिणी का रुदनाकुल, प्रेमाकुल कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा :

'सृष्टि और मनुष्य की माँ हैं मैं, हे परमपिता त्रिलोकीनाथ ! भावी के सारे युद्धों और रक्त-क्रान्तियों को सहूँगी अपनी इस छाती पर । और मारे रक्तपातों और हत्याओं के बीच भी सर्वकाल में तुम्हारे चरणों के कमल मेरे वक्षोजों से फूटते रहेंगे । और उनमें अनाथ, पराभूत और घायल मानवता को सदा प्यार की परम शरण गोद प्राप्त होती रहेगी । हर बार वहाँ से उठ कर मनुष्य का आत्महारा बेटा उत्क्रान्ति और उत्थान के उच्च से उच्चतर शिखरों पर आरोहण करता जाएगा । श्री भगवान के पग-धारण को मेरी यह छाती मदा इतिहास के शूलों प्यार बिछी रहेगी । मैं नारी हूँ, भगवन् ! मैं माँ हूँ—मकल चराकर की, यह मेरी परवशता है । समर्पित हूँ प्रभु, मुझे अंगीकार करें, मुझे अपनी सती बना लें । मुझे पारमेश्वरी दीक्षा दे कर, अपनी सहस्रमंचारिणी बना लें ।'

'तुम अन्तों में चिरकाल सत्ता की परम सती के ध्रुवासन पर बिराजोगी, रोहिणी । भगवती चन्दनबाला मनुष्य की माँ के भावी पथ का अनुसन्धान करें ।'

एक अब्याहृत मौन लोकान्तों तक व्याप गया । ...'

और औचक ही महासती चन्दनबाला के कर्ण-मधुर कण्ठ की साम्द्र वाणी उच्चरित हुई :

'आर्यावर्त की महाचण्डिका रोहिणी, सन्यासिनी नहीं होगी । वह सत्या-नाशिनी होकर, भव-त्राण में चिरकाल नियुक्त रहेगी । वह भगवान की महाशक्ति है । अन्धकार की दानवी शक्तियों की मुण्डमाला अपने गले में धारण कर, वह अनाथ सृष्टि को सदा अपनी सर्ववत्लभा छाती में अभय और शरण देती रहेगी । वह सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रबाहु, महस्रपाद हो कर रहेगी । अपने हज़ारों हाथों में, हज़ारों अस्त्र-शस्त्र धारण कर, वह जगत को निःशस्त्र कर देगी । अपने हज़ारों पैरों से असुर-बहिनियों का निर्दलन करती हुई, वे भगवती अहिंसा का साक्षात् विग्रह हो कर चलेंगी सर्वकाल इस पृथ्वी पर । नारी का दूसरा नाम ही अहिंसा है । माँ हिंसक कैसे हो सकती है ! युद्धाक्रान्त वैशाली के लक्ष-कोटि नर-नारी तुम्हारी भवतारिणी, सुन्दर बाहों में शरण खोज रहे हैं, देवि ! तुम्हारी दायी भुजा में वैशाली का उत्थान है, तुम्हारी बायीं भुजा में वैशाली का पतन है । वैशाली के सत्ताधारी तुम्हें पहचान सकें, तो वैशाली के संथागार में आदि प्रजापति वृषभनाथ का धर्म-

तीर्थकर : अप्रैल ७९/२२

वृषभ अवतरित होगा। और वह सारी पृथ्वी पर संचरित हो कर, इस धरित्री को प्राणिमात्र की कामधेनु बना देगा। और नहीं तो प्रलय की सहस्रचण्डी बन कर तुम वैशाली के तोरण पर ताण्डव करोगी। सत्यानाश सत्यानाश, सत्य-प्रकाश सत्यप्रकाश ! तथास्तु प्रियाम्बा रोहिणी देवी। जयवन्तो, जयवन्तो, त्रिकाल में जयवन्त होओ।'

इस कुलिश-कोमला वाणी में पृथ्वी के धारक कुलाचल पर्वतों की चूले धरती उठीं। देव, दनुज, मनुज के मारे दर्प और अहंकार धूल में लौटते दिखायी पड़े। भगवती ने प्रलय के नाशोन्मत्त समुद्र की तरंग-चूड़ा पर से मनुष्य की जाति को उद्बोधन दिया था। भयभीत, संव्रस्त मानवों ने इस भूकम्प में आशवासन और आधार पाने के लिए श्री भगवान की ओर निहारा और सहसा ही भगवान अपने रक्त-कमलासन से उठ कर, गन्धकुटी के पश्चिमी सोपानों पर ओझल होते दिखायी पड़े। सहस्रों घुटती आहों की मूक चीत्कार ने वातावरण को संव्रस्त कर दिया।

श्री भगवान हमें पीठ देकर चले गये !

□

मवेरे की धर्म-पर्यदा में वैशाली के गणपति चेटकराज आँख मीच कर जबर-दस्ती सामायिक में लीन रहे। फिर भी उनकी आँख आत्म पर नहीं, बाहर के आवर्तनों पर लगी थी। वे सब देख और सुन रहे थे। श्री भगवान और भगवती चन्दनबाला के पुण्य-प्रकोप से उनकी तहें हिल उठी थीं।

अपगह्न की धर्म-पर्यदा में श्री भगवान का मौन अन्तहीन होता दिखायी पड़ा। ओंकार ध्वनि भी गुप्त और लुप्त हो रही। वृद्ध और जर्जर गणपति चेटके-श्वर का आमन डोल रहा है। उनका अंग-अंग थरथरा रहा है। उन्हें पल को भी चैन नहीं। श्री भगवान अपलक उन्हें अपने नागाग्र पर निहारते रहे।

एकाएक मुनार्या पड़ा :

'गणनाथ चेटकराज, सामायिक जबरदस्ती नहीं, वह सहज मस्ती है, स्वरूप-स्थिति है। वह प्रयास नहीं, अनायास आत्म-गहवास है। सामायिक करने से नहीं होता। भगवान आत्मा जब प्रकट हो कर स्वयं अपने ऊपर प्रसन्नोदय होते हैं, तब वह आपोआप होता है। सम होने पर ही सामायिक हो सकता है। जहाँ इतना विषम है, वहाँ सम कहाँ? जहाँ स्वामित्व है, वहाँ समत्व कैसे प्रकट हो? और सम नहीं, तो सामायिक कैसे प्रकट हो?'

चेटकराज के भारी और डूबे गले से आवाज फूटी :

'मगधेश्वर श्रेणिक से अधिक विषम और कुटिल और कौन हो सकता है? उसे वीतराग अर्हन्त ने समत्व के सिंहासन पर चढ़ा दिया। उसे भावी तीर्थंकर की

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/२३

गन्धकुटी पर आसीन कर दिया। लोक के सारे समत्व को उसने विषम कर दिया, वह आज अर्हन्त महावीर का दायँ हाथ हों गया।'

'महावीर ने कुछ न किया, राजन्, श्रेणिक स्वयम् वह हों गया। वह अर्हन्त के सम्मुख आते ही निःशेष समर्पित हो गया, तो अनायास मम हो गया। और मम दूसरे से नहीं, अपने से पहले आता है, और दूसरे तक जाकर उसे मम कर देता है। यही सत्ता का स्वभाव है, महाराज।'

श्रेणिक चुप रह कर भगवान फिर बोले :

'मानस्तम्भ देखते ही श्रेणिक का अहम् कैचल की तरह उतर गया। वह नग्न निर्वसन ही महावीर के सामने आया। अहम् से मुक्त वह निरा स्वयम् और मम ही प्रस्तुत हुआ। समत्व आते ही, स्वामित्व उसका लुप्त दीखा। उसने अपने मम को हार दिया महावीर के भामने। वह हतशस्त्र और हतयुद्ध दिखायी पड़ा। स्वामित्व उसने त्यागा नहीं, वह आपोआप छूट गया। वह लौट कर राजगृही के साम्राज्य सिंहासन पर नहीं बैठा।'

लेकिन गणेश्वर चेटकराज, महानायक सिंहदेव और अष्टकुलीन राजन्व्य समत्व के इस समव्यकरण में आकर भी नमित न हों सके। अपने को हार न सके। वे महासत्ता के समक्ष अपनी राजसत्ता का दावा ले कर आये हैं। श्रेणिक और उसका साम्राज्य उनके अस्तित्व की शर्त है। वे अपनी हार-जीत के स्वामी नहीं, उसका निर्णायक उनके मन श्रेणिक है। श्रेणिक को हराने पर उसकी विजय निर्भर करती है। जो इतना परतंत्र है, वह प्रजातंत्र कैसा? जिसका स्वामित्व औरों का कायल है, वह स्वामी कैसा? और दासों का तंत्र स्वाधीन गणतंत्र कैसे हो सकता है?'

कांपते स्वर में महाराज चेटक ने अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाही :

'जो भी सीमाएँ या वृष्टियाँ हमारी हों, पर वैशाली आज संसार के गणतंत्रों का मुकुट-मणि माना जाता है। यह तो आकाश की तरह उजागर है, प्रभु! यह दासों का नहीं, स्वाधीन नागरिकों का तंत्र है।'

तथाक् से महावीर का प्रतिकार सुनायी पड़ा :

'प्रातःकाल की धर्म-सभा में वैशाली के जनगण ने अपने शासक राजतंत्र को नकार दिया, महाराज! वैशाली में गृहयुद्ध और खूनी क्रान्ति का दावानल धधक रहा है। एक ही जंगल के पेड़ परस्पर टकरा कर अपने ही अंगों में आग लगा रहे हैं। इस अराजकता को स्वराज्य कैसे कहें, महाराज!'

'यह राज्य-द्रोह है, यह गण-द्रोह है, भन्ते धिलोकपति। आपने इस द्रोह का आज समर्थन किया, उसे उभारा।'

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/२४

‘यह गणद्रोह नहीं, राज्य-द्रोह निश्चय है, क्योंकि राज्य जहाँ गण का नहीं, गण-राजन्यों का हो, वहाँ राजद्रोह अवश्यम्भावी है। और जानें चेटकराज, यह द्रोह नहीं, विद्रोह है। यह स्थापित जड़ीभूत वाद और व्यवस्था का प्रतिवाद है। जड़त्व के अवरोध को अनिवार्य चेतन्य सदा तोड़ेगा ही। इसी का नाम रक्त-क्रान्ति है। यह सृष्टि और इतिहास का स्वाभाविक तर्क है। यह सत्ता की अदम्य प्रज्ञा और प्रक्रिया का प्रकटीकरण है।

‘और जानें महाराज, महावीर पहल है, वह केवल परिणाम नहीं। जो नितान्त अकर्ता है, वही सर्वोपरि कर्ता है। वह अनायास, अकारण सिर्जनहार और विसर्जन-हार है, एक ही बिन्दु पर। वह एक ही क्षण में उत्पाद, विनाश, ध्रुव तीनों है।

‘और सुनें राजन्, महावीर स्वपक्षी भी नहीं, विपक्षी भी नहीं, वह प्रतिपक्षी है। जहाँ सारे पक्ष और वाद समाप्त हैं, वहीं महावीर का आरम्भ है। वह सर्वपक्षी है, समपक्षी है, और कोई पक्षी नहीं। वह कुछ करता नहीं, वह केवल होता है, जो उसे होना चाहिये, जो उसका स्वरूप है, स्वभाव है।’

और सहसा ही भगवान के स्वर में अंगिरा दहक उठे :

‘लेकिन उस महासत्ता के सम को जो भंग करता है, वह उसके विस्फोट की ज्वाला में भस्मसात् हो कर ही रहता है। चेतन्य केवल शामक ज्योति ही नहीं, वह संहारक ज्वाला भी है। वही आत्मा को परम शान्ति में सुला देती है, और वही कर्म-कान्तार को जला कर खाक कर देती है। श्रेणिक ने महासत्ता के मस्तक पर अपने अहंकार का सिंहासन बिछाना चाहा था। वह समत्वासीन यशोधर मुनि के रूप में महावीर के संहार तक को उद्यत हुआ ! उसने परमसत्ता के ज्वालागिरि को ललकार कर जगाया। तो उसे सागरों पर्यन्त नरकाम्नि में जलना होगा। महासत्ता कुछ नहीं करती, अपना विनाश और नरक हम स्वयम् पैदा करते हैं। वैशाली ने अपना नरकानल स्वयम् भड़काया है। उसका दोष औरों पर डाल कर, कब तक अपने धर्मात्मापन को बचाते रहेंगे, राजन्।’

‘परचक्रियों ने ईर्ष्याविष हमारे युवानों को भड़का दिया है। युवानों ने गण को भड़का दिया है। क्रान्ति के नाम पर स्वच्छन्दाचार, भ्रष्टाचार, अनाचार फैल रहा है सारे जनपद में। जन-जन भ्रष्ट और अनाचारी होता जा रहा है। घूस-खोरी, कालाबाजारी, चोरबाजारी आज यहाँ आम दस्तूर हो गया है। इस भ्रष्टाचार का उत्तरदायी कौन?’

श्री भगवान मेघ-मन्द्र स्वर में गरज उठे :

‘वे, जो सत्ता की मूर्धा पर बैठे हैं। वे ही यदि स्वच्छ न हों, तो शासन कैसे स्वच्छ रह सकता है, महाराज। और शासन स्वच्छ न हो, तो प्रजा कैसे स्वच्छ रह सकती है। पहले शासक भ्रष्ट होता है, तब प्रजा भ्रष्ट होती है। भ्रष्टाचार

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/२५

का मूल मूर्धन्य सत्ताधीश में होता है। वह मूलतः शासन में नहीं, शासित में नहीं, सत्ताधारी में होता है। पहले वह अपना निरीक्षण करे, तो पायेगा कि उसके भीतर न्यस्त स्वार्थ के कैसे-कैसे गुप्त और सूक्ष्म अँधेरे सक्रिय हैं। वही पाप के विषम अँधेरे सारे नाष्ट की नसों में व्याप्त होकर, उसे घुन की तरह खा जाते हैं। इस भ्रष्टाचार के मुखोच्छेद की पहल कौन करे, देवानुप्रिय चेटकराज ?'

'आजीवन जिनेश्वरों का व्रती श्रावक चेटक वीतराग केवली महावीर की दृष्टि में भ्रष्टाचारी है ? तो बात समाप्त हो गयी, भगवन् !'

वृद्ध गणपति का गला भर आया। श्री भगवान् अनुकम्पित हो आये :

'भ्रष्टाचारी आप स्वयम् नहीं, गणनाथ। आप स्वयम् तो स्फटिक की तरह निर्मल है, महाराज। लेकिन अष्टकुलक राजन्वों ने आपके मरलपन का लाभ उठा कर आप को अपने हाथों का हथियार बना रक्खा है। आप जागें, और पहल कर के इस कूटचक्र को तोड़ दें, तो वैशाली में क्रान्ति आपोआप हो जाएगी।'

'क्या मेरा व्रती जीवन ही अपने आप में एक पहल नहीं ?'

'क्षमा करें गणेश्वर चेटकराज ! आपका व्रत तो कहीं वैशाली में फलीभूत न देखा। व्रत अन्यों को लेकर है, पर-सापेक्ष है। अन्यों के साथ सम्बन्ध-व्यवहार में वह प्रकट न हो, तो व्रत कैसा ? अपने से इतर के साथ हमारा सम्यक् सम्बन्ध और आचार क्या हो ? उसी का निर्णायक तो व्रत है। सम्यक् निश्चय ही सम्यक् व्यवहार का निर्णायक है। असम्यक् निश्चय में से सम्यक् व्यवहार कैसे प्रकट हो सकता है ?'

श्री भगवान् का स्वर गंभीर होता आया :

'व्रती वह जो विरत हो। व्रत की आड़ में विरति यदि कुछ विशिष्ट प्रांत-ज्ञाओं में बँध कर जड़ हो जाए, तो समूचे जीवन-व्यवहार में वह जीवन्त और प्रतिफलित कैसे हो ? जो विरति, जो व्रत व्यक्ति में ही बन्द रह कर अलग पड़ जाए, तो वह विरति नहीं आत्म-रति है। लोक में विच्छिन्न हो कर, वह लोक में प्रकाशित कैसे हो सकती है ? और यदि व्रत केवल अपने ही वैयक्तिक आत्मिक मोक्ष के लिए हो, तो फिर व्रती जीवन में इतना रत क्यों ? औरों को लेकर इतना आरत क्यों ? वह हर व्यक्ति और वस्तु पर अपने आधिपत्य की छाप क्यों लगाना चाहता है ? अपने-पराये का हिसाब-किताब क्यों करता है ? व्रत अपने से अन्य तमाम जीवों को ले कर है। इसी से अन्य के साथ के अपने सम्बन्धों में वह आचरित न हो, तो वह आत्मिक मुक्ति के नाम पर अन्यों को, और सब से अधिक अपने को, धोखा देना है। वह आत्म-साधना की आड़ में निरी आत्म-छलना है।

'पूछता हूँ देवानुप्रिय, क्या आपने कभी गण की चाह को जाना है, उसकी पीड़ा को पहचाना है ? उसकी पुकार को सुना है ? क्या वैशाली का जनगण यह

वर्षों व्यापी युद्ध मगध के साथ चलाना चाहता है, जिसे वैशाली के शासक चला रहे हैं? मैं फिर पूछता हूँ वैशाली के यहाँ उपस्थित जनगण से—क्या वह युद्ध चाहता है? . . .'

'नहीं, नहीं, नहीं! हम युद्ध नहीं चाहते। यह युद्ध राजाओं का है, प्रभुवर्गों का है, प्रजाओं का नहीं। प्रजाएँ कभी युद्ध नहीं चाह सकतीं। . . . यह युद्ध बन्द हो, बन्द हो, तत्काल बन्द हो!'

श्री भगवान ऊर्जस्वल हो आये :

'जनगण के प्रचण्ड प्रतिवाद को सुना आपने, महाराज? जिसमें प्रजा की इच्छा सर्वोपरि न हो, वह गणतंत्र कैसा? वह तो अधिनायकतंत्र है! इसमें और अन्य साम्राज्यी तंत्रों में क्या अन्तर है? यह गणतंत्र नहीं, निपट नम्न राजतंत्र है। इसे साक्षात् करें, राजन, इससे पलायन न करें। प्रत्यक्ष देखें, गणेश्वर, कि यहाँ शासक और शासित के बीच परस्पर उत्तरदायित्व नहीं है। जो राज, समाज और व्यवस्था जन-जन के प्रति उत्तरदायी नहीं, वह व्यवस्था प्रातांत्रिक नहीं, सत्तातांत्रिक है। वैशालीनाथ चेटक देखें, उनकी वैशाली कहाँ है? कहाँ है उसका अस्तित्व? यदि जनगण वैशाली नहीं, तो जिसे आप और आपके सामन्त राज हमारी वैशाली कहते हैं, वह निरी मरीचिका है। वह प्रजातंत्र नहीं, प्रजा का निपट प्रेत है। इस प्रेतराज्य की रक्षा आप कब तक कर सकेंगे, महाराज? धोखे के पुतले को कब तक खड़ा रखेंगे?'

श्री भगवान चुप हो गये। कुछ देर गहन चुप्पी व्याप रही। उस अथाह मौन को भंग करते हुए चेटकराज जाने किस असम्प्रज्ञात समाधि में से बोले :

'मैं निर्गत हुआ, मैं उद्गत हुआ, भगवन्! मैं सत्य को सम्यक् देख रहा हूँ, सम्यक् जान रहा हूँ, सो सम्यक् हो रहा हूँ। देख रहा हूँ प्रत्यक्ष, महावीर के बिना वैशाली का अस्तित्व नहीं। महावीर के शब्द पर से ही विदेशों की सच्ची वैशाली पुनस्त्यान कर सकती है। आज से वैशाली के गणनाथ महावीर हैं, मैं नहीं। मैं समर्पित हूँ भगवन्, मैं प्रभु के उत्संग में उद्बुद्ध हूँ, त्रिलोकीनाथ!'

और चेटकराज महावीर की भेतना में तडाकार हो कर समाधिस्थ हो गये। अष्टकुलीन राजन्य और सामन्त निर्जीव, निराधार माटी के ढेर हो रहे। हताहत महानायक सिंहभद्र ने साहस बटोर कर पूछा :

'वैशाली का भविष्य क्या है, भन्ते त्रिलोकीनाथ?'

'वैशाली का भविष्य है, केवल महावीर! और सब फुहेलिका है, मरीचिका है।'

'नब तो वैशाली की अन्तिम विजय निश्चित है, भगवन्!'

तीर्थकर : अप्रैल ७९/२७

‘महावीर की वैशाली विजय और पराजय से ऊपर है। सो उसका पतन असम्भव है। लेकिन तुम्हारी वैशाली, तुम्हारे परकोटों में शस्त्र-बद्ध है। उस वैशाली का त्राण तुम्हारे हाथ है। उसकी विजय तुम्हारे हाथ है। उसका त्राण तुम्हारे सैन्यों और शस्त्रों पर निर्भर है। उसका उत्तरदायी महावीर नहीं।’

‘वैशाली का निःशस्त्रीकरण चाहते हैं, महावीर? इस शस्त्रों के जंगल में? इन भेड़िये राजुल्लों के डेरे में? और अकेला सिंहभद्र तो वैशाली के भाग्य का निर्णायक नहीं, भगवन्।’

‘जगत का त्राता, और भाग्य-विधाता सदा अकेला ही होता है। वह पहल केवल एकमेव पुरुष ही कर सकता है। सम्भवामि युगे-युगे का अवतार कृष्ण, अपने धर्मराज्य के महाप्रस्थान में कितना अकेला था। कुरुक्षेत्र की अठारह अशौहिणी सेनाओं के बीच भी वह कितना अकेला था। और आखेटकों के इस अरण्य में, एक दिन वह अकेला ही, एक आखेटक का तीर खाकर मर गया। उस क्षण अपने प्राणाधिक भाई तक को अपने से दूर कर दिया। अपनी महावेदना में उसने एकाकी ही मर जाना पसंद किया।’

भगवान् क्षणिक चुप रह गये। फिर बोले :

‘और देखो आयुष्यमान्, त्रिलोकी की इस चूड़ा पर, तीनों लोक के ध्यार और ऐश्वर्य के बीच भी महावीर कितना अकेला है! कि उसकी आवाज अकेली पड़ गयी है। वैशाली के भाग्य-विधाताओं ने उसका प्रतिसाद न दिया।’

‘अपना प्रतिसाद तो अर्हत् महावीर आप ही हो सकते हैं। हमारी क्या सामर्थ्य कि उनके सत्य की तलवार का वार हम लौटा सकें। लेकिन यदि वैशाली की पराजय हुई, तो क्या वह महावीर की ही पराजय न होगी? यदि वैशाली का पतन हुआ, तो क्या वह महावीर का ही पतन न होगा?’

‘जानो महानायक सिंहभद्र, महावीर जय और पराजय एक साथ है। वह पतन और उत्थान एक साथ है। वह इष्ट और अनिष्ट एक साथ है। वह जीवन और मरण एक साथ है। वह नाश और निर्माण एक साथ है। सारे द्वंद्वों के बीच एकाग्र और द्वंद्वतीत खेल रहा है, महावीर।’

‘इन द्वन्द्वों के दुश्चक्र में वैशाली का कोई तात्कालिक भविष्य? कोई अटल नियति?’

‘केवल महावीर, और सब अविश्वसनीय है। जय-पराजय, उत्थान-पतन, प्रलय और उदय के इस नित्य गतिमान चक्र में, तुम कहीं जैंगली रख सकते हो सेनापति?’

‘रख सकता, तो सर्वज्ञ महावीर से क्यों पूछता वैशाली का भविष्य?’

तीर्थंकर : अप्रैल ९/२८

‘वह तुम्हारे चुनाव और पहल पर निर्भर करता है, सेनापति !’

‘वैशाली का सेनापति निश्चय ही उसकी विजय चुनता है, उसका उत्थान चुनता है ।’

‘तो तुमने महावीर को नहीं चुना ? शस्त्र और सैन्य की शक्ति को चुना । अन्तहीन संघर्ष और द्वन्द्व को चुना । जानता हूँ, महावीर के यहाँ से प्रस्थान करते ही, तुम्हारे परकोट और भी भयंकर शस्त्रों से पट जाएँगे । तुम्हारे द्वार और भी प्रचण्ड वज्र के शूलों और साँकलों से जड़ दिये जाएँगे ।’

और एक चीखती आवाज ने प्रतिसाद किया :

‘नहीं...नहीं...नहीं...नहीं, ऐसा हम नहीं होने देंगे । या तो वैशाली में महावीर का शब्द राज्य करेगा, नहीं तो हम सर्वनाश का ताण्डव मचा देंगे । महावीर का धर्मचक्र यदि वैशाली का परिचालक न हुआ, तो...हे सर्वचराचर के नाथ, वैशाली के भस्तक पर सर्वनाश मँडला रहा है । त्राण करो, त्राण करो, त्राण करो...हे परिव्राता !’

महाचण्डी रोहिणी की इस आर्त पुकार में वैशाली की लक्ष-लक्ष आवाजें एकाकार हो गयी थीं ।

और गन्धकुटी के रक्तकमलासन में ज्वाला उठती दिखायी पड़ी । उस पर आसीन विश्व के प्रलय और उदय ताटक का नित्य-साक्षी महेश्वर महावीर गर्जना कर उठा :

‘सत्यानाश...सत्यानाश । सत्य-प्रकाश...सत्य-प्रकाश । सत्यानाश...सत्यानाश !’

कल्पान्तकाल के उस समुद्र-गर्जन में सारे जम्बूद्वीप के सत्ता-सिंहासन उलट-पलट होते दिखायी पड़े ।

अकस्मात् श्री भगवान का रक्तकमलासन शून्य दिखायी पड़ा । उन्हें किसी ने वहाँ से उठ कर सीढ़ियाँ उतरते नहीं देखा ।

असंख्यजिह्व ज्वालाओं का एक सहस्रार समवसरण के तमाम मण्डलों में मँडलाता दीखा ।

और श्री भगवान का धर्मचक्र महाकाल के मेरुदण्ड को भेद कर, दिक्काल का अतिक्रमण कर गया । □ □

(लेखक तथा श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर के सौजन्य से)

“यह यहाँ प्रासंगिक और दृष्टव्य है कि हमारी सदी के आठवें दशक में इतिहास अब महज तिथि-क्रमिक घटनाओं का ब्यौरा नहीं रह गया है; मनो-विज्ञान की तरह ही इतिहास में भी गहराई का आयाम प्रमुख हो गया है ।”

—वीरेन्द्रकुमार जैन

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/२९

जैन विद्या : विकास-क्रम/काल, आज (८)

○ अपभ्रंश-साहित्य ○ हिन्दी-साहित्य ○ कोश-साहित्य ○ हस्तलिखित
अप्रकाशित ग्रन्थों की सूचियों का निर्माण ○ विज्ञान एवं गणित ○ चिकित्सा
○ पत्रकारिता ○ विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में जैन विद्या का अध्ययन-
अनुसन्धान ○ समाज-सेवा ○ श्रेष्ठिवर्ग।

□ डा. राजाराम जैन

अपभ्रंश-साहित्य के क्षेत्र में

भाषा-वैज्ञानिकों ने अपभ्रंश-भाषा को आधुनिक बोलियों, या भाषाओं की जननी माना है। वैसे अपभ्रंश में बौद्ध एवं वैदिक कवियों ने भी साहित्य-रचनाएँ की हैं, किन्तु परिमाण में वे जैन अपभ्रंश-साहित्य की अपेक्षा नगण्य ही हैं। दि. जैन कवियों ने अपभ्रंश-भाषा में छठवीं सदी से लेकर १६वीं-१७वीं सदी तक सहस्रों रचनाएँ कीं। इन अपभ्रंश-ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके आदि एवं अन्त भाग में विस्तृत प्रशस्तियाँ अंकित हैं। जिनके माध्यम से तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। महाकवि विबुध श्रीधर (१३वीं सदी) की एक ग्रन्थ-प्रशस्ति में दिल्ली का आँखों-देखा जैसा हाल वर्णित है वैसे अन्यत्र देखने में नहीं आया। महाकवि रङ्गू ने ग्वालियर के तोमर-वंशी राजाओं, वहाँ के जैन नगर-सेठों एवं समकालीन जैन समाज का जितना सुन्दर वर्णन किया है, वैसे अन्यत्र बहुत कम देखने में आया। ग्वालियर-दुर्ग की जैन मूर्तियाँ कैसे बनीं, इसका वृत्तान्त रङ्गू-साहित्य-प्रशस्तियों में मिल जाता है। महाकवि पुष्पदन्त ने महामन्त्री नन्द एवं भरत का जितना प्रामाणिक वर्णन किया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। महाकवि धवल ने अपने रिद्वणैमिचरिउ की प्रशस्ति में जिन अनेक साहित्यकारों एवं कवियों का उल्लेख किया है, यदि खोजने पर उन सभी के साहित्य की उपलब्धि हो जाती है, तो उससे हमारे इतिहास को नया आलोक मिल सकता है।

इतना महत्वपूर्ण साहित्य सदियों तक अन्धेरी कोठरियों में बन्द पड़ा रहा, किन्तु हम आभारी हैं पं. नाथूराम प्रेमी, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. हारालाल आदि विद्वानों के, जिन्होंने इस ओर ध्यान दिया और 'जैन-हितैषी', 'अनेकान्त' एवं अन्य माधनों से विद्वज्जगत् को इन ग्रन्थों का परिचय दिया।

पं. नाथूराम प्रेमी ने अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू तथा उनके पउमचरिउ का विस्तृत परिचय देकर अन्वेषक-विद्वानों का इस महनीय कृति की ओर सर्वप्रथम ध्यानाकर्षित किया।

तीर्थकर : अप्रैल ७९/३०

डॉ. हीरालाल जैन ने करकंडचरिउ, णायकुमारचरिउ, मावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, सुगन्धदशमी कथा, मयणपराजयचरिउ, तथा वीरजिण्णिदचरिउ का सर्वप्रथम एवं सुयोग्य सम्पादन एवं प्रामाणिक अनुवाद कर विस्तृत समीक्षात्मक प्रस्तावनाएँ तैयार कीं।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने 'परमात्म प्रकाश' का सम्पादन कर उसकी अंग्रेजी प्रस्तावना में अपभ्रंश-साहित्य की विविध प्रवृत्तियों पर मात्र सुन्दर प्रकाश ही नहीं डाला, अपितु यह स्पष्ट घोषित किया कि हिन्दी साहित्य के रहस्यवादी कवियों पर जैन रहस्यवाद का स्पष्ट प्रभाव है।

पं. परमानन्दजी शास्त्री जैन साहित्य के उन मूक सेवकों में हैं, जिन्होंने निस्पृहवृत्ति से साहित्य-साधना में अपना तिल-तिल गला दिया है। वे एक चलते-फिरते विश्वकोश हैं, किस शास्त्र-भण्डार में कौन-कौन-से हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं तथा उनके विषय-क्रम क्या-क्या हैं, ये सब उन्हें कण्ठस्थ है। उन्होंने अनेक शोध-निबन्ध लिखे हैं, किन्तु उनके पाण्डित्य का परिचय तो उनके 'अपभ्रंश-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह' से ही मिल जाता है, जिसमें ऐतिहासिक महत्त्व की प्रशस्तियाँ संग्रहीत हैं तथा जिसकी विस्तृत समीक्षात्मक प्रस्तावना में उन्होंने उक्त प्रशस्तियों के आलोक में भारतीय इतिहास के अनेक प्रचलन तथ्यों का उद्घाटन किया है।

डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन (वाँदरी, सागर; मध्यप्रदेश)—नवीन पीढ़ी के वरिष्ठ अन्वेषक विद्वान् हैं जिन्होंने 'अपभ्रंश-प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा और उसके माध्यम से सर्वप्रथम 'अपभ्रंश-व्याकरण' तथा उसका भाषा-वैज्ञानिक विवेचन किया। डॉ. जैन ने अपभ्रंश के प्राचीनतम तथा सशक्त महाकवि स्वयम्भूकृत 'पउमचरिउ' जैसे दुरूह ग्रन्थ का सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत कर अपनी असीम शक्ति, प्रतिभा एवं धैर्य का परिचय दिया है। 'अपभ्रंश-भाषा और साहित्य' नामक शोध-ग्रन्थ के माध्यम से आपने अपभ्रंश-भाषा का सांगोपांग भाषा-वैज्ञानिक विवेचन तथा उसके साहित्य का प्रवृत्तिमूलक एवं सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया है। आपके अन्य प्रकाशित ग्रन्थों में नरसेनकृत 'भिरिवाल चरिउ' है। अभिमानमेरु पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' अपभ्रंश-साहित्य में लोहे के चने के रूप में विख्यात है। डॉ. जैन ने उसका भी सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद कर प्रेम में दे दिया है। इसके प्रकाशन से महाकवि पुष्पदन्त के भक्त-नाटक उनकी इस महनीय कृति का रसास्वादन शीघ्र ही कर सकेंगे।

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री (धिरगाँव, झाँसी, १९३३ ई.) ने 'अपभ्रंश-भाषा और शोध-प्रवृत्तियाँ' नामक ग्रन्थ लिखकर एतद्विषयक देश-विदेश में १७वीं-१८वीं सदी से अर्थात् जो कार्य हुए हैं, उनका क्रमबद्ध प्रामाणिक समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। उनका दूसरा ग्रन्थ 'भविष्यदत्त कथा' और 'अपभ्रंश कथा-काव्य' है। जिसमें उन्होंने अपभ्रंश कथा-काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर भविष्यदत्त-कथाओं का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। जैन साहित्य में

नीर्यंकर : अप्रैल ७९/३१

भविष्यदत्त एवं श्रीपाल जैसे नायकों के माध्यम से जैन कवियों ने मध्यकालीन भारत के विदेशों के साथ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला है। डॉ. जैन के अन्य ग्रन्थों में नरसेनकृत 'बड्डमाण कथा' 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' आदि हैं। वर्तमान में आप अपभ्रंश-कोश तैयार करने में संलग्न हैं। इसके तैयार होने से अपभ्रंश-जगत् की दीर्घकाल से खटकनेवाली एक बड़ी भारी कमी दूर होगी।

डॉ. राजाराम जैन (मालथीन, सागर, मध्यप्रदेश; १९२९ ई.) महाकवि रङ्गु एवं विबुध श्रीधर के समस्त उपलब्ध हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज कर उनके सम्पादन, अनुवाद एवं समीक्षात्मक अध्ययन में व्यस्त हैं। सुनिश्चित योजना के अनुसार समस्त रङ्गु-साहित्य १६ खण्डों अर्थात् लगभग ९००० पृष्ठों में तथा विबुध श्रीधर-साहित्य तीन खण्डों अर्थात् लगभग १५०० पृष्ठों में प्रकाशित होगा। इनमें से अभी तक 'रङ्गु ग्रन्थावली' का एक खण्ड प्रकाशित हुआ है, दूसरा खण्ड आधा छप चुका है तथा अगले दो खण्ड प्रेम में जाने की तैयारी में हैं। विबुध श्रीधर कृत 'बड्डमाणचरिउ' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होकर अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा पुरस्कृत हुआ है तथा 'पासणाहचरिउ' की प्रेसकॉपी तैयार है। अन्य प्रकाशमान ग्रन्थों में महाकवि पदमकृत महावीररास, वृचराजकृत 'मयणजुञ्ज कव्व', एवं विबुध श्रीधर कृत संस्कृत भविष्यदत्त चरित्र की प्रेसकॉपी तैयार की जा रही हैं। अन्य प्रकाशित समीक्षात्मक ग्रन्थों में 'रङ्गु साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन' प्रमुख है जो बिहार सरकार के शिक्षा-विभाग से प्रकाशित है तथा वीर निर्वाण भारती, मेरठ से २५०१) रुपयों की सम्मान-निधि से पुरस्कृत तथा स्वर्णपदक से सम्मानित है। इसके पूर्व इस ग्रन्थ पर शास्त्रि-परिषद् ने भी ११०१) रुपयों का पुरस्कार प्रदान किया था।

श्री प्रफुल्लकुमार मोदी (गाँगई, गाडरवारा, मध्यप्रदेश) डॉ. हीरालाल जैन के सुपुत्र हैं। सम्प्रति मध्यप्रदेश शासन के अन्तर्गत महाकोशल महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। वृत्ति, स्मृति, प्रतिभा एवं स्वभाव में वे अपने पिता के सद्गुणों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। आपने १० वीं सदी के अप्रकाशित पदमकीर्ति कृत अपभ्रंश 'पासणाहचरिउ' का अधुनातन पद्धति में सम्पादन किया है जो प्राकृत टैक्सट सोमाइटी, अहमदाबाद से प्रकाशित है।

डॉ. विमलप्रकाश जैन (मुजफ्फरनगर, १९३२ ई.) नवीन पीढ़ी के प्रगतिशील एवं प्रतिभासम्पन्न युवक विद्वान् हैं। अपभ्रंश-भाषा एवं साहित्य में उनकी गहरी अभिरुचि है। उन्होंने महाकवि वीरकृत 'जंबूमासिचरिउ' का सर्वप्रथम सम्पादन, अनुवाद कर उस पर विस्तृत गम्भीर प्रस्तावना लिखी है।

श्रीमती विद्यावती जैन (जबलपुर, १९३८ ई.) जिनवाणी की उन मूक-सेविकाओं में हैं, जिन्होंने गृहस्थी के कठिन दायित्वों के साथ-साथ माँ सरस्वती की

साधना का दृढ़ व्रत ले रखा है। हस्तलिखित ग्रन्थों की दुर्दशा देख-सुनकर वे मर्महित हुई हैं तथा हस्तलिखित ग्रन्थों पर ही शोध-कार्य करने का निश्चय किया है। वर्तमान में वे १३ वीं सदी के अपभ्रंश कवि सिंहकृत 'पञ्जुणचरित' के सम्पादनादि कार्यों में व्यस्त हैं।

हिन्दी जैन साहित्य के क्षेत्र में

जैन कवियों द्वारा लिखित हिन्दी-साहित्य भी कम महत्त्व का नहीं। पुराण इतिहास, धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, आचार, अध्यात्म की दृष्टि से तो वह महत्त्वपूर्ण है ही; रस, छन्द, अलंकार एवं भाषा की दृष्टि से उसके वैशिष्ट्य को हिन्दी-जगत् ने भी स्वीकार किया है। यही कारण है कि विविधता, मौलिकता एवं गुणवत्ता के कारण जैनतर शोधकर्त्ताओं का ध्यान इस साहित्य ने आकर्षित किया है। इस क्षेत्र में दि. जैन विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।

पं. नाथूरामजी प्रेमी ने महाकवि बनारसीदास कृत 'अर्द्धकथानक' का सर्व-प्रथम सम्पादन एवं प्रकाशन कर हिन्दी में सर्वप्रथम लिखित आत्मकथा को हिन्दी-जगत् के लिए प्रदान किया। उसके बाद उन्होंने 'हिन्दी-जैन साहित्य का इतिहास' लिखकर तद्विषयक अनेक भ्रमों का निराकरण किया।

डॉ. कामताप्रसाद जैन ने 'कृपणजगावन चरित' जैसी सुन्दर एवं सरस रचना का सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशन कर हिन्दी-जगत् को जैन कथा-साहित्य की गरिमा का परिचय दिया। बाद में उन्होंने अप्रकाशित एवं प्रकाशित अनेक हिन्दी जैन ग्रन्थों का अध्ययन कर 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' लिखा।

डॉ. हीरालाल जैन ने विविध कान्फ़ेंसों एवं साहित्य-सम्मेलनों में अपभ्रंशों को हिन्दी की जतनी घोषित किया।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने पूर्व प्रकाशित सामग्री का अध्ययन कर तथा वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों का मनन कर 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन' (दो खण्ड) नामक ग्रन्थ लिखा।

प्रो. श्रीचन्द्र जैन (अमरा, झांसी, १९११ ई.) ने जैन साहित्य के बारहमासा, पूजा-विधान एवं अन्य कथाओं का अध्ययन कर हिन्दी जैन साहित्य की प्रवृत्तियों पर अच्छा तुलनात्मक प्रकाश डाला है। जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन कर उन्होंने नवीन एवं मौलिक शोध-कार्य किया, जिसका मूल्यांकन कर विद्वत्परिषद् ने उन्हें (१०००) की द्रव्य राशि से पुरस्कृत किया है।

डॉ. प्रेमसागर जैन (मैनपुरी १९२४ ई.) हमारी पीढ़ी के गम्भीर विचारक विद्वान् हैं। उनकी लेखनी एवं वाणी दोनों को ही सरस्वती का वरदान प्राप्त है। उनकी अनेक रचनाओं में से (१) जैन भक्तिकाव्य की भूमिका, (२) हिन्दी जैन भक्तिकाव्य, (३) जैन शोध-समीक्षा एवं (४) पार्वनाथ भक्तिगंगा प्रमुख हैं।

नीरर्थकर : अप्रैल ७९/३३

डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन का कार्यक्षेत्र अहिन्दी भाषी क्षेत्र रहा है। पूर्व में वे तिरुपति विश्वविद्यालय में थे। वर्तमान में दक्षिण भारत हिन्दी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा संचालित हिन्दी-शोध संस्थान, मद्रास के निदेशक हैं। उन्होंने जीवन-भर संघर्ष किया। विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने स्वाभिमान पर आँच नहीं आने दी। उनके जीवन की झाँकी उनकी कविताओं में मिलती है। इस दिशा में उनकी कविताओं का संग्रह 'तप्तगृह' पठनीय है। डॉ. जैन ने महाकवि बनारसीदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सर्वप्रथम शोध-कार्य प्रस्तुत किया है।

जैन कोश-साहित्य के क्षेत्र में

हमारे प्रबुद्ध जैनाचार्यों ने कोश-साहित्य के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इस प्रकार के कोश-ग्रन्थों में धनञ्जय नाममाला एवं विश्वलोचन कोश पर्यायवाची शब्दों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। विषय-संग्रह की दृष्टि से 'थिरुक्कुरल' एवं 'सुभाषित रत्न सन्दोह' अद्वितीय ग्रन्थ माने गये हैं।

जैन साहित्य में आधुनिक कोशों की कमी बड़ी खटकती रहती थी। विशिष्ट शब्दावली, विशिष्ट पदावली तथा अन्य सन्दर्भ आदि की खोज में शोधकर्ताओं को अनावश्यक रूप से कष्ट उठाना पड़ता था, अतः इस दिशा में भी दि. जैन विद्वानों ने क्रम, किन्तु अच्छे प्रयत्न किये हैं। उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

नाम संग्राहक अथवा सम्पादक	नाम ग्रन्थ एवं पृ. सं.	प्रकाशक एवं प्रकाशन-वर्ष	विशेष
१. श्री बिहारीलाल चैतन्य (बुलन्दशहर जन्म १९६७ वि.सं.)	हिन्दी साहित्य का अभिधान के अंत- गंत वृहत् जैन शब्दार्णव (१९२५ ई.) (पृ. सं. २८६)	स्वल्पार्थ ज्ञान रत्न माला, बुलन्दशहर १९२५ ई.	दुर्भाग्य से संपादक के आकस्मिक स्वर्गवास के कारण प्र. सं. छपकर ही रह गया।
२. श्री उमरावसिंह टैक दिल्ली	ए. डिक्शनरी ऑफ जैन बिब्लियो- ग्राफी, पार्ट १	सेन्ट्रल जैन पब्लि- शिंग हाउस, आरा १९१७	दुर्भाग्य से संपा. एवं प्रकाशक की आकस्मिक मृत्यु के कारण इसका प्रथम अंश छपकर ही रह गया।
३. बाबू छोटेलाल जैन, कलकत्ता	जैन बिब्लियो- ग्राफी	—	यह कार्य भी अधूरा ही रह गया।
४. पं. जुगलकिशोर मुख्तार	पुरातन वाक्य सूची	वीर सेवा मंदिर, सरमाया	—

५. ब्र. जिनेन्द्र वर्णी पानीपत (पंजाब)	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (४ खण्ड)	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	अपने क्षेत्र में सर्वप्रथम
६. पं. बालचन्द्रजी शा. सौरई (उत्तरप्रदेश)	लक्षणावली (दो खण्ड)	वीर सेवा मंदिर, दिल्ली.	„ „
७. पं. बाबूलाल जमा- दार एवं विमल कुमार सौरया आदि	श्री विद्वत् अभि- नंदन ग्रंथ	अ. भा. शास्त्री परिषद्, बड़ौत	„ „
		१९७६	

हस्तलिखित-अप्रकाशित ग्रन्थों की सूचियों के निर्माण-क्षेत्र में

साहित्य समाज के मानसिक धरातल का मापदण्ड माना गया है। जिस समाज का कोई साहित्य नहीं होता उसका न तो कोई अतीत होता है और न भविष्य। साहित्य से सामाजिक संस्कारों एवं विचार-धारा का पता चलता है। जैन समाज संख्या में कम किन्तु अपने उच्च संस्कार, उच्च विचार, राष्ट्र के प्रति निष्ठा तथा सदाशयता के बल पर आज भी गौरव के साथ जीवित है। हमारा विशाल साहित्य हमें बतलाता है कि हमारा अतीत महिमामय रहा है तथा भविष्य समुज्ज्वल है।

युग-युगों से जैन साहित्य विविध भाषाओं में लिखा गया, किन्तु दुर्भाग्य से उसका अधिकांश भाग नष्ट-भ्रष्ट हो गया। जो कुछ सुरक्षित है उसकी मात्रा भी कम नहीं, किन्तु उसका अभी पंचमांश भी प्रकाशित नहीं हो पाया है। किसी भी स्वस्थ एवं समृद्ध समाज के लिए यह लक्षण अच्छा नहीं। सुनते हैं कि यूरोप, अमेरिका, मिश्र एवं अन्य अरब देशों ने हस्तलिखित ग्रन्थों को राष्ट्रीय निधि मानकर उसका समूचा प्रकाशन करा लिया है, किन्तु एशिया महाद्वीप में अभी साहित्यिक गौरव की भावना का स्फुरण नहीं हो पाया है। उसमें भी भारत तथा भारत में भी जैन समाज सब से अधिक पिछड़ा हुआ है।

हमारा अधिकांश साहित्य अभी अंधेरी कोठरियों में ही भरा पड़ा है। उसका प्रकाशन एवं मूल्यांकन होना अत्यावश्यक है। यह प्रक्रिया श्रम एवं समय-साध्य है, किन्तु क्रमशः ही सही, यह कार्य होता रहना चाहिये। तत्काल आवश्यकता है, उसके सूचीकरण की। वर्गीकृत ग्रन्थ-सूचियों के तैयार हो जाने से शोध-कार्यकर्ताओं को अपने शोध-विषय के निर्धारण में सहायता मिलेगी।

ग्रन्थ-सूचियों के निर्माण में सर्वप्रथम कार्यारम्भ किया—पं. नाथूराम प्रेमी ने। उन्होंने 'जैन हितैषी' के माध्यम से 'दि. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता' के नाम से बम्बई एवं आसपास के शास्त्र-भण्डारों में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियाँ प्रकाशित कीं। उसी के आस-पास डॉ. हीरालाल जैन की सहायता से राय बहादुर हीरालाल ने 'कैटलॉग ऑव ओल्ड मेन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी. पी. एण्ड बरार' नामक ग्रन्थ में कारंजा, नागपुर तथा बुन्देलखण्ड के कुछ हिस्सों में प्राप्त कुछ जैन ग्रन्थों की विवरणात्मक सूचियाँ प्रकाशित कीं।

दिल्ली के श्री बाबू पद्मालालजी अग्रवाल (दिल्ली, वि. सं. १९६०) ने दिल्ली के जैन ग्रन्थधारियों में उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की बड़े ही परिश्रम के साथ सूचियाँ तैयार की तथा उनका 'अनेकान्त' में क्रमशः प्रकाशन कराया। आज भी आपका जीवन इस कोटि के साहित्य के उद्धार के लिए समर्पित है। हस्तलिखित ग्रन्थों पर कार्य करने वाले अन्वेषक विद्वान् उनकी सहायता के बिना शायद ही अपना कार्य सम्पूर्ण कर पाने में समर्थ हों।

डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इस दिशा में होने वाले अभी तक के कार्यों में सर्वाधिक कार्य किया है। उन्होंने राजस्थान के कई शास्त्र-भण्डारों में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों की वर्गीकृत सूचियाँ ५ खण्डों में तैयार की हैं। उनका विवरण देखकर डा. कासलीवाल के घोर परिश्रम की सराहना अनिवार्य हो जाती है। उन्होंने अभी तक लगभग १६-१७ हजार ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया है। यदि अकेले राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध हस्तप्रतियों की सूचियाँ तैयार हों तो अभी लगभग ३० खण्ड और तैयार हो जाएँगे। यही स्थिति भारत के कोने-कोने में बिखरे हुए ग्रन्थों की है। यदि ये सूचियाँ तैयार कर प्रकाशित करायी जा सकें तो वह साहित्य की सर्वश्रेष्ठ ठोस सेवा होगी।

जैन विज्ञान एवं गणित के क्षेत्र में

वि. जैन विद्वानों ने विज्ञान के क्षेत्र में भी उत्साहवर्धक शोध-कार्य किये हैं। जैन साहित्य वस्तुतः आचार, सिद्धान्त या धर्म-दर्शन मात्र का साहित्य नहीं है। उसमें विविध ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य सामग्री भी उपलब्ध है।

प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन (सागर, १९२६ ई.) ने पिछले लगभग २० वर्षों से तिलोपपण्णति, षट्खण्डागम, गोममटसार, त्रिलोकसार एवं महावीराचार्य कृत गणित-सार-संग्रह में वर्णित जैन गणित का आधुनिक गणितशास्त्र के सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन कर जैन गणित की कुछ मौलिकताओं की ओर विश्व का ध्यान आकषिप्त किया है। उस दिशा में प्रो. जैन के लगभग ५० महत्वपूर्ण शोध-निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं।

जैन गणित के अतिरिक्त जैन-भौतिकी, जैन रसायन-शास्त्र, जैन प्राणिशास्त्र, जैन वनस्पति-शास्त्र जैसे गम्भीर विषयों पर भी कार्य हो रहे हैं। इस दिशा में प्रो. घासीराम जैन, डॉ. दुलीचन्द्र जैन, डॉ. नन्दलाल जैन एवं श्री सुलतानसिंह (हड़की) के नाम बड़े आदर के साथ लिये जा सकते हैं। इनके प्रकाशित शोध-निबन्धों को पढ़कर ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि यदि इन जैन वैज्ञानिकों को प्रयोग हेतु समुचित सुविधाएँ प्राप्त हों, तो ये लोग जैन साहित्य में उपलब्ध वैज्ञानिक सामग्री पर आश्चर्यजनक शोध-कार्य प्रस्तुत कर सकते हैं।

चिकित्सा-सम्बन्धी जैन साहित्य के क्षेत्र में

जैनाचार्यों ने धार्मिक एवं आध्यात्मिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक साहित्य पर भी अपनी लेखनी चलायी है। उग्रादित्य, पूज्यपाद एवं अकालंक प्रभृति आचार्यों ने

चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु दुर्भाग्य है कि उनके तुलनात्मक अध्ययन एवं प्रकाशन की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जा रहा है। इस क्षेत्र के दो ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित हुए हैं। उग्रदित्य कृत 'कल्याणकारक' जिसका सम्पादन, अनुवाद श्री पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, शोलापुर ने किया है। दूसरा ग्रन्थ है 'वैचसार संग्रह' जिसका प्रकाशन श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा से हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आये। इस कोटि के साहित्य का प्रकाशन एवं शोध-कार्य अत्यावश्यक है।

पत्रकारिता के क्षेत्र में

पत्र-पत्रिकाओं का समाज एवं राष्ट्र के उत्थान में विशेष योगदान रहता है। वस्तुतः वे किसी समाज, वर्ग-विशेष अथवा जन-सामान्य की आशाओं एवं आकांक्षाओं को मुखरित करने की मणिकत साधन हैं। अनेक जैन विद्वानों ने समाज-सेवा हेतु इस दिशा में भी कार्य किये हैं। वर्तमान में अनेक जैन पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं। साप्ताहिक एवं पाथिक पत्रों में जैन सन्देश, जैनमित्र, जैन गजट, जैन बोधक, वीर, जैन दर्शन आदि तथा मासिक, त्रैमासिक, षण्मासिक शोध-पत्रिकाओं में अनेकान्त, जैन सिद्धान्त भास्कर, सन्मतिवाणी, तीर्थंकर, गुरुदेव आदि प्रमुख हैं। यदि अन्तर्बाह्य साज-सज्जा एवं गुणवत्ता की दृष्टि से देखा जाए तो वर्तमान कालीन समस्त दि. जैन पत्र-पत्रिकाओं में 'तीर्थंकर' (मासिक, इन्दौर) उच्चकोटि की पत्रिका सिद्ध होती है। इसकी विशेषता यही है कि यह सामाजिक गतिविधियों पर नज़र रखकर भी शोध को दिशा देने में पर्याप्त जागरूक है। अनुभव वृद्धों के लिए लेखन-प्रेरणा, शोधार्थियों के अनुभवों का सदुपयोग, नवीन प्रतिभाओं की सुप्त प्रतिभा का स्फुरण, बोधकथाओं के माध्यम से आबालवृद्ध नर-नारियों के लिए सरस एवं मासिक सामग्री का प्रकाशन उसकी अपनी विशेषता है। इनके अतिरिक्त भी इसकी भाषा एवं शैली बिल्कुल अपनी है। संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि तीर्थंकर प्रबुद्ध एवं सुबुद्ध पाठकों की प्रतिनिधि पत्रिका है, जिसका भविष्य स्वर्णिम है।

विश्वविद्यालयों में एवं महाविद्यालयों में प्राकृत एवं जैन विद्या के अध्यापन एवं शोधकार्यरत दि. जैन विद्वान्

दादा गुरुओं एवं वर्तमान गुरुओं की परम्परा ने नवीन पीढ़ी को भी अध्ययन के क्षेत्र में प्रभावित एवं प्रेरित किया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में प्राकृत एवं जैन विद्या के अध्यापन एवं शोध के क्षेत्र में वर्तमान में निम्न विद्वान् कार्यरत हैं—बिहार विश्वविद्यालय के अन्तर्गत राजकीय प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली में डॉ. लालचन्द्र जैन (छतरपुर, मध्यप्रदेश); मगध विश्वविद्यालय में डॉ. राजाराम जैन; संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में पं. अमृतलाल शास्त्री; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्रो. उदयचन्द्र जैन एवं डॉ. गोकुलचन्द्र जैन; उदयपुर विश्वविद्यालय में डा. प्रेमसुमन जैन, डा. के. सी. सोमानी, पूना विश्वविद्यालय में प्रो. एस. एम. शाहा; मैसूर

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/३७

विश्वविद्यालय में डा. टी. जी. कालघाटगी; जबलपुर विश्वविद्यालय में डॉ. विमल-प्रकाश जैन; जैन विश्व भारती, लाडनू में डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी एवं डॉ. कमलेशकुमार जैन; हाम्बुर्ग वि. वि. जर्मनी में डॉ. राजेन्द्र जैन; विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में डॉ. हरिन्द्र भूषण जैन; तथा नागपुर वि. वि. में डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर ।

समाज-सेवा के क्षेत्र में

साहित्य-सेवा प्रकारान्तर से समाज-सेवा ही है, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण की समाज-सेवा के अन्तर्गत विधवा-विवाह, दस्मा-पूजा, शूद्र मन्दिर-प्रवेश, मृतक-भोज, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, अन्तर्जातीय विजातीय या सगोत्र विवाह जैसे विषय आते हैं। इन सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों के विरोध में कई जैन विद्वानों ने अथक कार्य किये, यद्यपि उन्हें सफलता बहुत ही कम मिली। ऐसे सुधारवादी विद्वानों में पं. अर्जुनलाल सेठी, ब्रह्म. शीतलप्रसाद, पं. नाथूरामजी प्रेमी, डा. हीरालालजी जैन, पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं. परमेष्ठीदासजी न्यायचौध, डॉ. नरेन्द्र विद्यार्थी आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उक्त कुरीतियों के विरोध में लघु एवं दीर्घ निबन्ध एवं ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं।

जैन पण्डितों की सामाजिक सेवाओं के प्रसंग में हम उन विद्वानों को नहीं भूल सकते; जिन्होंने जिनवाणी के उद्धार, सम्पादन, अनुवाद, समीक्षा के साथ-साथ जैन-ग्रन्थों को शुद्ध विधि से प्रकाशित करने हेतु प्रेम की विशेष व्यवस्थाएँ भी कीं। इस क्रम में प्रातःस्मरणीय श्रद्धेय पं. पन्नालालजी वाकलीदास, पं. श्रीलालजी, पं. गजाधर-लालजी के नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने जैन सिद्धान्त प्रकाशनी सभा की ओर से क्रमशः कलकत्ता एवं वाराणसी में प्रेम की स्थापना की। पं. अजितकुमारजी शास्त्री ने मुलतान (पाकिस्तान) में अकलक प्रेस, डा. कामताप्रसादजी ने अलीगंज में महावीर प्रेस, श्री दुलीचन्द्र पन्नालाल परिवार ने कलकत्ते में जिनवाणी प्रेस, मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया ने मुरत में जैन विज्ञान प्रेम, श्री पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने शोलापुर में कल्याण पाठशाला प्रेम की स्थापना कर जैन साहित्य के प्रकाशन को तीव्रगति प्रदान की। ये विद्वान् प्रेम-संस्थापक, लेखक, सम्पादक, टीकाकार एवं अनुवादक होने के साथ-साथ कम्पोजीटर, व्यनस्थापक, प्रकाशक एवं मुद्रक भी थे। इन विद्वानों की कार्य करने की तथा जिनवाणी-सेवा के प्रति समर्पित वृत्ति की प्रशंसा के लिए आज हमारे पास शब्द नहीं हैं; केवल मूक श्रद्धांजलियाँ ही हैं।

हम उन ग्रन्थमालाओं के प्रति भी नतमस्तक हैं, जिन्होंने देश के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें हस्तलिखित ग्रन्थों के अध्ययन एवं सम्पादन की शिक्षा एवं प्रेरणा दी। इस दिशा में हम श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमी के उपशरों को कभी नहीं भूल सकते, जिन्होंने पं. पन्नालाल सोनी, पं. दरवारीलाल, डा. हीरालाल जैन, डॉ. जगदीशचन्द्र, डा. उपाध्ये जैसे विद्वानों की एक सुन्दर टीम तैयार की और उनसे अनेक ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थों का सम्पादन कराकर उनके प्रकाशन के लिए माणिकचन्द्र दि. जैन

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/३८

ग्रन्थमाला स्थापित की। इस ग्रन्थमाला से संस्कृत एवं प्राकृत के लगभग ५० मूल ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, जो परवर्ती साहित्यिक कार्यों के लिए उपजीव्य बने रहे। अन्य ग्रन्थशालाओं में जैन साहित्य प्रसारक ग्रन्थ माला, बम्बई; अनन्तकीर्ति दि. जैन ग्रन्थमाला, महाराष्ट्र; मनातन जैन ग्रन्थमाला, जे. एल. जेनी ट्रस्ट ग्रन्थमाला, सेक्रेड बुक्स ऑफ दी जैन सिरीज (आरा), जैन मित्रमण्डल ग्रन्थमाला, मूर्तिदेवी ग्रन्थ-माला आदि प्रमुख हैं; जहाँ से अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन का क्रम आज भी जारी है।

जैन श्रेष्ठिवर्ग

प्राचीन जैन ग्रन्थ-प्रशस्तियों से विदित होता है कि अनेक जैन श्रेष्ठियों ने जैन कवियों एवं लेखकों के लेखन-कार्य में अभूतपूर्व उत्साह एवं प्रेरणा प्रदान की है। ऐसे श्रेष्ठियों में नन्न, भरत, तक्खड, कृष्ण श्रावक, कण्ह (कृष्णादित्य), साहू वामाधर, हेमराज, साहू नटूल, साहू श्रील्ला, साहू टोडरमल, साहू कमलसिंह, साहू खेड, करमू पटवारी, कुन्धुदास, जुगराज आदि के नाम विस्मृत नहीं किये जा सकते; क्योंकि इनके विनम्र अनुरोधों एवं आश्रयदान से विशाल जैन साहित्य का निर्माण हुआ था।

वर्तमान युग में भी अनेक जैन श्रेष्ठिद्वय, जिन्होंने परम्परा के युगानुकूल परिवर्तन कर शिक्षा-संस्थाएँ, स्वाध्याय-मन्दिर, ग्रन्थमालाएँ एवं शोध-संस्थानों की स्थापना कर जैन विद्वान् तैयार किये तथा उन्हें प्राचीन ग्रन्थों के जीर्णोद्धार, शोध, सम्पादन एवं मौलिक ग्रन्थ-लेखन में प्रेरणाएँ प्रदान कीं। ऐसे श्रेष्ठियों में सेठ हनुमन्चन्द्रजी (इन्दौर), सेठ मूलचन्द्र सोनी, सेठ भागचन्द्र सोनी (अजमेर), श्री माणिकचन्द्रजी जे. पी. (बम्बई), रावजी मखाराम दोशी (शोलापुर), बाबू निर्मलकुमारजी (आरा, बिहार), सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी (बिदिशा), पन्नालालजी (अमरावती), सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी (बमराना, ललितपुर), सेठ मोहनलालजी (खुरई, सागर), रज्जीवलजी कमरया (सागर), सिंघई कुन्दनलाल जी (सागर), श्रावक शिरोमणि साहू शान्तिप्रसादजी जैन (दिल्ली), पूरणचन्द्रजी गोदीका (जयपुर), चांदमलजी पाण्ड्या (गौहाटी), म. वि. धन्यकुमारजी जैन (कटनी) प्रभृति के नाम प्रमुख हैं, जिन्होंने जैन विद्वानों को तैयार करने एवं जैन साहित्य के लेखकों को प्रोत्साहित कर जिनकापी के कार्यों को अग्रसर करने में बहुमुम्ब्री रचनात्मक कार्य किये हैं।

इस प्रकार संक्षेप में मैंने अपनी अल्पदृष्टि से बीमवीं सदी के प्रारम्भ से जैन विद्या के विविध अंगों पर किये गये कार्यों का संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। मन्दर्भ में सामग्री के अभाव अथवा सद्भाव के कारण इस निबन्ध के प्रस्तुतीकरण में बहुत-सी सामग्री का छूट जाना अथवा प्रस्तुत सामग्री में अनेक त्रुटियों का गृह जाना बिल्कुल सम्भव है। उन सब के लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ। अपने इस विचार को दुहराना चाहता हूँ कि आसन्नभूत एवं वर्तमान कालीन जैन विद्वानों के कृतित्व एवं व्यक्तित्व-सम्बन्धी एक ऐसी पुस्तिका के प्रकाशन की तत्काल आवश्यकता है, जिसमें विद्वानों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का तथ्यमूलक, पूर्ण एवं प्रामाणिक सचित्र इतिवृत्त वर्गीकृत पद्धति से प्रस्तुत किया जा सके।

(समाप्त)

तीर्थकर : अप्रैल ७९/३९



बोधकथा : कल्याणकुमार 'शशि'

जंगली कहीं के !

विदेशी ने हबिषियों के प्रशान्त देश में पहुँच कर डुमगी पिटवायी कि हमें तुम्हारे नौजवान चाहिये, बदले में हम तुम्हें दौलत और सभ्यता देंगे।

हबिषियों की बड़ी भीड़ ने उत्सुकता से प्रश्न किया—'क्या करोगे इन नौजवानों का तुम ?'

विदेशी ने हबिषियों के भुजदण्डों की उभरती पेशियाँ निरखते हुए उत्तर दिया—'आजकल हमारे यहाँ भर्यकर युद्ध चल रहा है'।

'क्यों चल रहा है यह युद्ध?'

'...विश्व-शान्ति के लिए!'

'क्या होता है इस युद्ध में?'

'इसमें दुश्मन से लड़ाई होती है और दोनों ओर के बहुत से नौजवान रोज मारे जाते हैं'।

'...क्या करते हो उन नौजवानों की लाशों का फिर तुम ?'

विदेशी ने गर्व से कहा—'हम उन्हें जमीन में दफना देते हैं और अज्ञात शहीदों का दर्जा देते हैं'।

यह सुनते ही उस आदमखोर असभ्य निरक्षर समुदाय ने एक स्वर में भयानक चीत्कार करते हुए कहा—'केवल दफनाने के लिए इतने नौजवानों को मार देते हो तुम ? निकल जाओ हमारे सभ्य देश से...। जंगली कहीं के !!'

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/४०

कसौटी

इस स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षार्थ पुस्तक अथवा पत्र-पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजना आवश्यक है।

कालजयी (खण्डकाव्य) : भवानीप्रसाद मिश्र : भारतीय साहित्य प्रकाशन, २८६ चाणक्यपुरी (नूनिथा मोहल्ला), सदर, मेरठ-१ : मूल्य—बारह रुपये पचास पैसे : पृष्ठ १०४ : डिमाई १/८, १९७८।

भवानी भाई इधर के दशकों के प्रतिनिधि कवि रहे हैं। उनकी प्रहारक सहजता, जीवन्त प्रयोग, अदम्य साहस, लोकहृदय से अनायास सीधे जुड़ने की प्रकृति; सादा, साफ-सुथरा चिन्तन—जिसकी मार केवल कुछ बुद्धिजीवियों तक ही सीमित नहीं रहती वरन् निसैनी लगाकर जन तक पहुँचती है—'कालजयी' में दृष्टव्य है। वस्तुतः 'कालजयी' एक कालजयी कृति है, जिसे भारतीय संस्कृति के मूल उपादानों की सरला, लोकमंगला गीता कह सकते हैं, एक ऐसी कृति जिसे देश के गाँव-गाँव और शहर-शहर पहुँचाया जाना चाहिये क्योंकि यह एक ऐसे गांधीवादी मनुज की कृति है, जो ऐड़ी-से-चोटी तक मनुज है और दंभ जिसे कहीं से भी छू नहीं सका है। माना, यह उसका पहला खण्डकाव्य है, जिसका मुक्त चिन्तन बावजूद एक कथा के कहीं भी अस्त नहीं हुआ है, बल्कि अधिक तेजोमय होकर प्रकट हुआ है। यद्यपि कवि एक खण्ड प्रबन्ध-लेखन के लिए प्रतिबद्ध है किन्तु वैसा होते हुए भी उसकी काव्योन्मुक्तता बरकरार है। 'कालजयी' पर अपने युग की भरपूर छाया है और इसीलिए इसकी कई पंक्तियों में आपातकाल तथा आपातकालोत्तर स्थितियों को भी सुना जा सकता है, किन्तु ज्यादातर प्रतिपाद्य ऐसा है जो भारत को परिभाषित करता है और शाश्वत जीवन-मूल्यों के प्रति खोयी हुई जागरूकता को लौटाता है। पृष्ठ १४ पर कवि ने लिखा है—“भारत के लोग/गये बाहर/किन्तु सेना लेकर न गये;/ वे जहाँ गये इसलिए/प्रेम के पौधे/पनपे नये-नये”। इसी तरह पृष्ठ २८ पर “और हर राजा का लोकाभिमुख होना ही/उसकी महत्ता है कदाचित् सबमें बड़ी—”। और पृष्ठ ५२ की ये पंक्तियाँ तो शिलालेख ही हैं : “अहंकार रह जाए अजन्मा/द्विज हो जाएँ हम,/यह मानव का भाग्य/कि ऐसा हो पाता है कम”। पृष्ठ ७८ में कवि संकल्पित हुआ है : “मैं करके देखूंगा, दिखलाऊँगा/कभी गीत जो आगामी पीढ़ी गायेगी/मैं उनका आरम्भ करूँगा,/मुक्त कण्ठ उनको गाऊँगा”। इसी रीति में—“ठीक कहती हो/बड़ा है आदमी/हर बुराई से लड़ा है आदमी/किन्तु वह आड़े न आया युद्ध के बुद्ध तक के वचन/बंध कर रह गये उपदेश में/व्याप्त करना है उन्हें अब जगत्-भर में”। (पृष्ठ ८९)। इस तरह भारतीय साहित्य प्रकाशन ने इस एक कृति को प्रकाशित कर न केवल शिक्षा-जगत् को उपकृत किया है वरन् एक ऐसी आवश्यकता को पूरा किया है, जो सामयिक है, और चिरन्तन महत्त्व की भी है। क्या भवानी भाई की इस एक कृति को केन्द्र, और राज्य सरकारें हजारों-हजार खरीद

तीर्थकर : अप्रैल ७९/४१

कर देश की शिक्षण-संस्थाओं में सत्साहित्य पहुँचाने के अपने दावे और दायित्व को पूरा करेंगी? तब, सच यह एक बड़ा काम होगा और प्रौढ़शिक्षा को आकार देने का कोई आरम्भ-बिन्दु बत पायेगा। काव्य की कसौटी पर 'कालजयी' की उत्कृष्टता को नकारना भी मुश्किल है; अतः ब्रधार्ई कवि को, ब्रधार्ई प्रकाशक को।

मल्हार (काव्य) : राजकुमारी बेगानी; प्रमीला जैन; २१४ चित्तरंजन एवेन्स्यू, कलकत्ता-७०० ००७; मूल्य—उल्लेख नहीं; पृष्ठ ४०; डिमाई १/८, १९७८।

श्रीमती बेगानी जैन जगत् की एक सुपरिचित विदुषी-प्रबुद्ध लेखिका हैं। वे एक कुशल संपादिका होने के साथ ही प्रखर समीक्षक भी हैं। कलकत्ते से प्रतिमास प्रकाशित 'तित्थयर' की वे सहसंपादिका हैं। जहाँ तक बंगला से हिन्दी में अनुवाद का प्रश्न है, 'तीर्थंकर' के पाठक उनसे अपरिचित नहीं हैं; किन्तु आलोच्य कृति उनकी व्याख्यानता १६ लोकमांगलिक कविताओं का संकलन है, लोकमांगलिक इसलिए कि व्यथा की चरम आकृति मंगल के अलावा अन्य कुछ होती नहीं है, और वही इन कविताओं में है। यद्यपि 'मल्हार' में आत्माभिव्यंजन अधिक प्रखर और मर्मस्पर्शी है, तथा व्यथा को सौन्दर्य की अंगुली धमाकर उसे लावण्य की डगर चलाना कठिन ही होता है तथापि वह इस लघुपुस्तिका में हुआ है और पूरी शक्ति से संपन्न हुआ है। "मैंने दुख को ही मुख माना है/जीवन के पतझड़ को ही नव वसन्त जाना है" जैसी अनेक पंक्तियाँ जो मन को मथ डालती हैं, और भीतर के संगीत को उद्बुद्ध करती हैं, 'मल्हार' में हैं। इन रागात्मक संवेदनाओं की पीठ पर जो व्यथा-वेदना है, उसका मिलान हम महादेवीजी के गीतों और मीरा के पदों से कर सकते हैं। वस्तुतः बंगाल ने हिन्दी को बहुत दिया है, आज भी दे रहा है; 'मल्हार' में वही सातत्य स्पन्दित है। हमें कवयित्री से अभी काफी आशा-अपेक्षा है। मुद्रण प्रांजल, आवरण कलात्मक, और संयोजन वैदग्ध्यपूर्ण है। —नेमीचन्द जैन

जयवर्धमान (नाटक) : डॉ. रामकुमार वर्मा, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ; मूल्य—दस रुपये, पृष्ठ—११६, काउन्—१९७४।

महावीर के २५०० वें निर्वाण-वर्ष के आसपास उनसे सम्बन्धित जो प्रचुर साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें गेिन साहित्य की मात्रा बहुत कम है और ललित साहित्य कहते हैं। इस कभी की पूर्ति जिन रचनाओं में होती है उनमें 'जयवर्धमान' नाटक अग्रगण्य है। हिन्दी में महावीर पर लिखा गया वह कदाचित् अकेला नाटक है।

महावीर का जीवन नाटकीयता से रहित है। एक शान्त-गहरी नदी का जीवन है उनका; घटना-रहित। न बाढ़, न सूखा; इसीलिए हिन्दी कथात्मक सृजन को उनमें कोई सामग्री नहीं दिखायी देती। अनूप शर्मा का 'वर्धमान' महाकाव्य, स्व. हरिप्रसाद हरि का अधूरा छूटा महावीर महाकाव्य, वीरेन्द्रकुमार जैन का 'अनुत्तरयोगी' उपन्यास और रामकुमार वर्मा का 'जयवर्धमान' नाटक—बस ये गिने-चुने कथात्मक प्रयत्न हैं; लेकिन नदी का बहना — भीतर-भीतर दूर तक धरती का गीला और उर्वर होते जाना अपने-

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/४२

आप में एक घटना है। कहना होगा कि यदि हिन्दी कथा-सृजन का स्वभाव अति नाटकीयता से आकर्षित होने का नहीं होता तो महावीर में उसे प्रचुर सामग्री मिलती।

वास्तव में महावीर का चरित्र आधुनिक नाट्य रचना के लिए एक चुनौती है। 'जयवर्धमान' में एक सीमा तक इस चुनौती को स्वीकार किया गया है। घटनाहीनता के बावजूद महावीर घटना-बहुल है। उनका जीवन एक मुक्तिकामी, स्पष्ट दृष्टा व्यक्ति का अकेला आत्मसंघर्ष है। वे भीतर तो जूझ ही रहे हैं, बाहर भी पिता सिद्धार्थ, माँ त्रिशला, भाई नन्दिवर्धन, पत्नी यशोदा से जूझ रहे हैं, लेकिन इस लड़ाई में उनकी मुद्रा पारम्परिक ढंग से लड़ने की नहीं है। वे सहमति, समर्थन और ममज्ञा का उपयोग करते हुए नाटक में मद्दे-सजीव अनेकान्तवाद/स्याद्वाद प्रतीत होते हैं। उनकी लड़ाई एक शान्त लड़ाई है। 'जयवर्धमान' में यह बाहरी लड़ाई एक प्रमुख मुद्दा है और नाटक के तीसरे अंक को छोड़कर शेष चारों अंकों में व्याप्त है। तीसरे अंक में भी वह लड़ाई है पर उसका अहमाम दो कारणों से नहीं होता। एक तो उसमें दीगर चर्चाएँ अधिक हैं और दूसरे उसमें महावीर के अपनी माँ त्रिशला की इच्छा को शिरोधार्य करने और इस तरह पराजित होने की स्थिति है। पहले अंक में विजय और मुक्ति; चौथे अंक में यशोदा; पाँचवें अंक में नन्दिवर्धन, सुप्रिया, रंभा, तिलोत्तमा, शूलपाणि महावीर आदि के विरुद्ध विवाद और संघर्ष निर्मित करते हैं। दूसरा अंक पहले अंक का ही विस्तार है, इसीलिए मैंने कहा है कि आलोच्य नाटक में बाहरी लड़ाई एक प्रमुख मुद्दा है। महावीर इसे अपने ढंग से लड़ते हैं। इन मन्दर्भ में वे जिन संवादों का उपयोग करते हैं उनकी रचना डॉ. रामकुमार वर्मा ने प्राचीन जैन साहित्य और जैन दर्शन के अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के आधार पर की है। फिर भी सफ और सुलझे हुए संवाद हैं ये। पाण्डित्य के बोझ से रहित, शोध और विद्वत्ता की भाषा से हटकर। रामकुमारजी ने जनभाषा के प्रथम प्रयोक्ता महावीर के साथ उनके संवादों में भरपूर न्याय किया है। भाषा का वह छायावादी तेवर जो उनके कुछ अन्य नाटकों में है वहाँ अधिकांशतः अनुपस्थित है। छोटे वाक्य, छोटे संवाद, प्रायः तद्भव शब्द, शान्त और संयमित अनुत्तजक भाषा। 'जयवर्धमान' के महावीर बोलकर चौंकाते नहीं, सहज और मुक्त करते हैं। उनके बोलने से तनाव खत्म होता है। ज्ञान उनका महज स्वभाव है। 'जयवर्धमान' में वक्ता, वक्तव्य और वक्तव्य की बाहुक भाषा एक ही रेखा में है; इसीलिए महावीर के साथ सभी पात्रों की सहज सहमति हो जाती है। वे सिर्फ माँ को नहीं ममज्ञा पाते। लेकिन माँ कुछ ममज्ञा ही नहीं चाहती। वे संज्ञाशून्य हो जाती हैं और स्वभावतः महावीर को उनकी बात मानकर विवाह के लिए स्वीकृति देनी पड़ती है।

इस प्रकार घटनाओं और विभिन्न पात्रों के घातप्रतिघात से महावीर का चरित्र उभरता है। यह स्पष्ट होता है (जैसा कि नाटककार ने 'अपनी ओर से' में स्वीकार किया है) कि महावीर का चरित्र अपने अखण्ड व्रत में स्थिर (स्टेटिक) है। नाटककार ने कथायोजना में मनोविज्ञान की भंगिमाओं को भी उभरने का अवसर दिया है;

तीर्थंकर : अप्रैल १९९४

लेकिन प्रश्न उठता है कि नाटक में महावीर के सघन आभ्यन्तर संघर्ष का चित्रण कम क्यों है? उसके चित्रण ने महावीर को अधिक स्मरणीय और विश्वसनीय बना दिया होता। वास्तविक महावीर के जीवन में आभ्यन्तर संघर्ष नहीं रहा होगा, क्योंकि उन्होंने सोव-विचार कर समझदारी और सहमति से संन्यास का निर्णय लिया था; लेकिन नाटक में सत्य की अपेक्षा सम्भाव्य सत्य अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिये। मैं सोचता हूँ कि भीतर की लड़ाई भी 'जयवर्धमान' का एक महत्त्वपूर्ण मूढ़ा होना चाहिये था। इसके लिए स्वीकृत जैन साहित्य परम्पराओं के विरुद्ध जाना पड़ता है तो भी जाना चाहिये था। रामकुमार जी में स्वीकृत परम्पराओं के विरुद्ध जाने का साहस है। यह उनके कई अन्य नाटकों से ही नहीं 'जयवर्धमान' से भी सिद्ध होता है। महावीर के आजीवन अविवाहित रहने की दिगम्बर जैन परम्परा को उन्होंने प्रस्तुत नाटक के लिए स्वीकृत नहीं किया है; इसलिए यह सोचा जा सकता है कि शायद अपने किसी एक और नाटक के लिए डॉ. वर्मा महावीर की भीतरी लड़ाई को सुरक्षित रखे हुए हैं।

'जयवर्धमान' में ये सारी खूबियाँ हैं जिनके लिए डॉ. रामकुमार वर्मा के नाटक विख्यात हैं। पाँच अंकों का पूर्णकालिक नाटक होने के बावजूद एकांकी की-सी चुस्ती, प्रतीकों का प्रयोग, केवल आवश्यक पात्रों की योजना, महावीरयुगीन परिवेश, उस परिवेश का आभास देने के लिए कई पारिभाषिक शब्दों के बावजूद भाषा की सरलता, नाटक की समूची योजना में रंगसन्दर्भ का ध्यान 'जयवर्धमान' की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। तीसरे और चौथे अंकों में अभूतपूर्व रंगसंभावनाएँ हैं। तीसरे अंक में त्रिशला सुनीता के साथ उन राजकुमारियों के चित्रों को देखती हैं जो वर्धमान के विवाह के लिए प्रस्तावित हैं। हर चित्र पर टिप्पणी करती हुई वे कुछ चित्रों का चयन करती हैं। चौथे अंक में संन्यास के पूर्व वर्धमान और उनकी पत्नी यशोदा की एकान्त भेंट है। एक विनीत सहधर्मिणी के रूप में यशोदा को नाटककार ने अशेष सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। वर्धमान ने विवाह के रत्नहार, को तालाब में विसर्जित कर दिया है। प्रतीक रूप में यह यशोदा से मुक्त होने की भूमिका है; इसलिए यशोदा ठीक ही कहती है—'तब तो मुझे अपने माता-पिता के पास लौट जाना चाहिये। ओह मैं बहुत अशान्त हो गयी हूँ प्रियतम! यदि द्रष्टि की ऐसी ही गति रहीं तो किसी दिन मैं भी विसर्जित हो सकती हूँ।' लेकिन शीघ्र ही दण्डाधिकारी एक ऐसी स्त्री को लेकर उपस्थित होते हैं जो भूख से तड़पते अपने बच्चों को एक धनी परिवार के द्वार पर छोड़कर आत्महत्या के लिए प्रयत्नशील है। दण्डाधिकारी उसे वर्धमान द्वारा विसर्जित रत्नहार की चोरी के अपराध में पकड़ कर लाये हैं। यशोदा का दुःख से यह पहला साक्षात्कार है। उसकी आँखें खुल जाती हैं और वह संसार के दुःख-निवारण के लिए वर्धमान के संन्यास लेने से सहमत हो जाती हैं। यहाँ फिर नाटककार ने प्रतीक के द्वारा ही यशोदा की परिवर्तित मनःस्थिति सूचित की है। यशोदा दण्डाधिकारी से

तीर्थकर : अप्रैल ७९/४४

कहती है—'इस रत्नहार के रत्नों को ऐसे परिवारों में वितरित कर दो जो अर्था-
भाव से पीड़ित हैं'। लेकिन इन अंकों का रंग-सौंदर्य तभी प्रकट हो सकता है जब
'जयवर्धमान' नाटक को किसी कल्पनाशील निर्देशक का निर्देशन प्राप्त हो। इन्दौर
में जहाँ नाट्यगृह, नाट्यसंस्कार, रंगकर्मियों, सहृदय प्रेक्षकों और वर्धमान के अनु-
यायियों की बन्धी नहीं है क्या 'जय वर्धमान' नाटक अभिनीत होगा? 'जय वर्धमान'
एक अभिनन्दनीय कृति है। उसका व्यापक मंचन और भी अभिनन्दनीय होगा।

□ डॉ. जयकुमार 'जलज'

श्रीमन्नारायण व्यक्ति और विचार : संपा.—यशपाल जैन; सस्ता साहित्य
मण्डल, कॅनॉट मार्केट, नई दिल्ली ११०-००१; मूल्य—पच्चीस रुपये, पृष्ठ-४०८; काउन्-
१९७९।

प्रस्तुत ग्रन्थ को अभिनन्दन-ग्रन्थ कहा जाए या स्मृति-ग्रन्थ? स्व. श्री श्रीमन्नारा-
यणजी की पुनीत स्मृति में उनकी प्रथम पुण्यतिथि (३ जनवरी, १९७९) पर आचार्य
श्री विनोबाजी द्वारा विमोचित होने के कारण यह स्मृति-ग्रन्थ होते हुए भी इसमें मामग्री
का संयोजन एवं संपादन इस प्रकार किया गया है कि यह ग्रन्थ अभिनन्दन-ग्रन्थ के
संगत-अभिप्रेत कहा जा सकता है।

उपरोक्त श्री वा. दा. जत्ती ने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि स्व.
श्रीमन्नारायणजी हमारे देश के उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने अपने को रचनात्मक
प्रवृत्तियों के लिए समर्पित कर दिया था। उन्होंने गांधीजी तथा विनोबाजी से प्रेरणा
प्राप्त की थी और उनके सिद्धान्तों को आत्मसात् किया था। आचार्य श्री विनोबाजी
के शब्दों में नाम उनका श्रीमन्नारायण था, लेकिन वे दरिद्रनारायण की संज्ञा में
निरन्तर रत रहे। प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई के अनुसार श्रीमन्जी रचनात्मक
क्षेत्र के व्यक्ति थे और उनको दृष्टि समन्वय की रही।

प्रस्तुत ग्रन्थ तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में 'व्यक्ति' शीर्षक के
अन्तर्गत श्रीमन्नारायणजी से संबन्धित ७४ संस्मरण संकलित हैं। दूसरे खण्ड के ४८
पृष्ठों में 'चरैवेति-चरैवेति' शीर्षकान्तर्गत कविधर श्री भवानीप्रसाद मिश्र ने अपनी
रोचक जैनी में श्रीमन्जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय दिया है। 'विचार' नामक तीसरे
खण्ड में श्रीमन्जी द्वारा लिखित सामग्री को निबन्ध और लेख, नई-पुरानी धार्मिक, समाज-
संरचना के आधार, चिन्तन-मनन, काव्य, पत्रावली के उपशीर्षकों के अन्तर्गत संपादित
किया गया है। परिशिष्ट में श्रीमन्नारायणजी के जीवनक्रम, कृति-परिचय, श्रद्धांजलियाँ
और अन्तिम यात्रा का विवरण है। ग्रन्थ के मध्य में आठ पेज पर १६ पृष्ठों में श्रीमन्जी
से सम्बन्धित चित्र संयोजित किये गये हैं।

'मंडा' की स्वस्थ परम्परा के अनुरूप प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी निशिष्टता रखता है।
हिन्दी में प्रकाशित अभिनन्दन और स्मृति-ग्रन्थों में इसका उल्लेखनीय स्थान रहेगा।
गेट-अप, छपाई, कागज आदि की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उत्तम है। —प्रमचन्ध जैन

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/४५

समाचार : शीर्षक-रहित; किन्तु महत्त्वपूर्ण

—देवी-देवताओं के समक्ष निरपराध पशु-पक्षियों की बलि-प्रथा को प्रतिबन्धित करनेवाला विधेयक मध्यप्रदेश विधानसभा द्वारा गत ७ मार्च को पारित कर दिया गया। २५००वें वीर निर्वाणत्सव पर राज्य शासन ने एक अल्पावधि अधिनियम पारित कर पशु-पक्षियों की बलि-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाया था, परन्तु अधिनियम की अवधि समाप्त होने से पूर्व उसे कानून का रूप प्रदान नहीं किया जा सका। अहिंसा-प्रेमी संस्थाएँ और कार्यकर्ता निरन्तर प्रयत्नशील थे। शासन के इस साहसिक कदम से लाखों मूक निरपराध पशु-पक्षियों को अभयदान प्राप्त हुआ है। इस पुनीत कार्य के लिए अनेक अहिंसा-प्रेमी संस्थाओं ने प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्रकुमार सखलेचा और राज्य शासन का आभार माना है।

—'भारतीय संस्कृति और साहित्य में रंगों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। वे काल के विभिन्न स्तरों पर पूरी जीवन्तता और महत्ता के साथ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।' ये विचार फ्रान्स की चित्रकार सिस्टर जनिविब डे ब्रुआ ने 'तीर्थंकर' विचार-मंच के तत्त्वावधान में आयोजित 'रंगों की अर्ध-वृत्ता' विषय पर व्यक्त किये। इन्दौर में गत २ मार्च को स्थानीय जाल संगोष्ठी-कक्ष में मध्यप्रदेश के महाधिवक्ता श्री सूरजमल गर्ग की अध्यक्षता में आयोजित इस कार्यक्रम में श्री गर्ग ने रंगों को लेकर भारतीय साहित्य से अनेक उदाहरण दिये। संचालन डॉ. नेमीचन्द्र जैन ने किया तथा कलाकारों की ओर से प्रो. चन्द्रेण सक्सेना ने आभार माना।

—ग्राम कमलापुर (तह. सोनकच्छ, जिला : देवास, म. प्र.) के मालवीय बलाइयों (हरिजननों) के साठ परिवारों का एक गाँव है। वहाँ लोगों ने एक धर्मसभा में मांस-भक्षण, पशुबलि, मद्यपान आदि बुराइयों का परित्याग करके सामूहिक रूप

से पूर्ण शाकाहारी जीवन व्यतीत करने का संकल्प किया है। इस प्रकार मध्यप्रदेश में एक ग्राम पूर्ण शाकाहारी बनने का संकल्प कर एक आदर्श स्थापित किया है। यह जानकारी संत-सेवक समूहम परिषद् के संयोजक श्री मानवमुनि ने दी है।

—इन्दौर में श्री दि. जैन निकलक नवयुवक मण्डल द्वारा 'गोम्मटेश्वर' नृत्य-नाटिका की तैयारी की जा रही है।

—श्री राजकृष्ण भेमारियल लेक्चर्स कमेटी के तत्त्वावधान में प्रो. बी. आर. सक्सेना के अंग्रेजी में 'जैनधर्म' विषयक द्वि-दिवसीय (१० और १२ मार्च, ७९) व्याख्यान दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित किये गये।

—कर्नाटक के होम्बुज अतिशय क्षेत्र के रथोत्सव के अवसर पर २० मार्च को सर्वोदय संस्कृति (धर्म और साहित्य) सम्मेलन आयोजित किये गये।

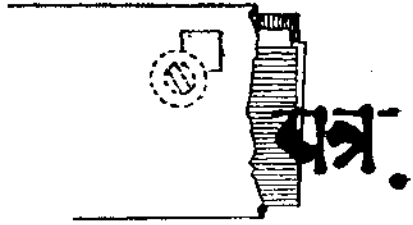
—बम्बई में श्री वर्धमान तप अनुमोदन समिति की ओर से दशाल्लिका जिनेन्द्र-भक्ति महोत्सव के उपलक्ष्य में गत १७ से २६ मार्च तक विविध भव्य कार्यक्रम आयोजित किये गये।

—एनाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी का महावीर-जयन्ती तक अजमेर में कार्यक्रम है। मध्यप्रदेश में आगामी मई के प्रथम सप्ताह में शुभगमन की संभावना है। इन्दौर में ७ जुलाई, ७९ को उनके वर्षा-योग का शुभारम्भ होगा।

—श्री अ.भा. जैन विद्वत् परिषद्, वीकानेर द्वारा जो दो निबन्ध-प्रतियोगिताएं आयोजित की जा रही हैं (जिनके समाचार 'तीर्थंकर' के मार्च-अंक में प्रकाशित किये गये थे), परीक्षाओं का ध्यान में रखकर इन दो निबन्धों को भेजने की अन्तिम तिथि ३१ जुलाई, १९७९ तक बढ़ा दी गयी है।

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/४६

—आचार्य श्री तुलसी और युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ (मुनि श्री नथमलजी) के दिल्ली आगमन पर गत ११ मार्च को लाल किले के दीवान-ए-आम में नागरिक-अभिनन्दन आयोजित किया गया।



—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के तत्त्वावधान में संघ के कार्यकर्ताओं की धर्मपाल-क्षेत्र (मध्यप्रदेश के बेरछा ग्राम से मक्सी ग्राम तक) जीवन-साधना, धर्म-जागरण एवं संस्कार-निर्माण पंच दिवसीय पदयात्रा (२० से २४ मार्च, ७९) तक आयोजित की गयी। डा. प्रेम सुमन जैन, डा. सागरमल जैन, डा. नन्दलाल बोरदिया, पं. नाथूलाल शास्त्री और डा. नेमीचन्द्र जैन ने पदयात्रियों को संबोधित किया। इसमें पश्चिम बंगाल, राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश से लगभग ७५ कार्यकर्ता सम्मिलित हुए। पदयात्रा को सफल बनाने में सर्व श्री भरदारमल काकरिया, पी. सी. चौपड़ा, गणपतराज बोहरा और मानवमुनि का उल्लेखनीय सहयोग रहा।

उच्चस्तरीय पत्र

'तीर्थकर' के प्रत्येक अंक में आप इतनी अधिक ठोस, पठनीय एवं चिन्तन योग्य सामग्री देते हैं कि उसका अधिकांश भाग अपनी डायरी में लिखकर संग्रह करने में ही मुझे लगभग पूरा एक माह लग जाता है और तब तक आपका दूसरा अंक हाथ में आ जाता है। कमाल है आपके परिश्रम को, सूझबूझ को एवं साहित्यिक दृष्टि को।

इस ढंग का उच्च स्तरीय पत्र ही आम जनता को सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है। आज इसी प्रकार की सम्यक् क्रान्तिपूर्ण विचारधारा के सतत प्रवाह की आवश्यकता है। —हीराचन्द्र बोहरा, बजबज (प. बंगाल)

—'साहित्य और कला के आयाम बहुत विस्तृत हैं। ये दोनों ही समय से जूझ सकते हैं। जो समय से जूझता है वहीं प्रतिष्ठित-कालजयी होता है। हमारा यह विशेष दावेदार है कि पुरातन और नवीन चिन्तन को समन्वित करें। दोनों की अच्छाइयों और गहिराइयों को आत्मनातु करें।' ये उद्गार डा. नेमीचन्द्र जैन ने दमोह के राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय की साहित्य एवं कला परिषद् के उद्घाटन-ममारोह में प्रमुख अतिथि के रूप में गत १५ जनवरी को व्यक्त किये। उन्होंने अन्त में यह भी कहा कि हम मुनि की तपह-साधक की भाँति साहित्य और कला-देवता की आराधना में प्रवृत्त हों तथा शाश्वत मूल्यों की सम्बर्द्धना करें।

श्री आदिजिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी को आमन्त्रित किया गया है। एक संगोष्ठी का भी आयोजन किया जा रहा है। महोत्सव में आचार्य श्री विद्यानागरजी पधार रहे हैं। प्रतिष्ठा महोत्सव-समिति के संयोजक श्री मूलचन्द्र लुहाड़िया हैं।

—दि. जैन कालेज, बड़ौत (उ.प्र.) में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा. सुखनन्दन जैन का २६ मार्च को हृदयगति रुक जाने से टीकमगढ़ (म. प्र.) में निधन हो गया। उनकी आयु ५५ वर्ष की थी।

—मदनगंज-विश्वनगढ़ (राजस्थान) में आगामी २५ से ३१ मई १९७९ तक

□

तीर्थकर : अप्रैल ७९/४७

अनूठी पत्रिका

वास्तव में 'तीर्थकर' पत्रिका अपने आप में सभी दृष्टियों से एक अनूठी पत्रिका है।

—डॉ. शीतलप्रसाद फौजदार, बड़ा मलहरा

जड़त्व पर करारी चोट करने वाला

संपादकीय (मार्च-अंक) सदा की तरह ही बहुत गंभीर है। जड़त्व पर करारी चोट करने वाला है।

—कन्हैयालाल सेठिया, कलकत्ता

गीता का मालवी में प्रथम गद्यानुवाद

पहले वाक्य से आपने 'गद्य' शब्द निकाल कर मुझ पर अन्याय किया है। गीता का राजस्थानी में पद्यानुवाद है। संपादकीय सुन्दर लिखा गया है।

—निरंजन जमीदार, इन्दौर

चर्चा, रोचक एवं दिशा बोधक

'तीर्थकर' के मार्च-अंक में आपकी चर्चा एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से भेदविज्ञान और ट्रस्टोशिप में से अपरिग्रह बड़ी रोचक एवं नयी दिशा देने वाली लगी। ऐसे ही पूज्य विद्यानन्दजी, विद्यासागरजी जैसे भेदविज्ञानी साधुओं की परिचर्चा, प्रवचन, लेख द्वारा अध्यात्म की धारा 'तीर्थकर' के प्रत्येक अंक में उपलब्ध कराये, तो निश्चय ही अध्यात्म की नयी दिशा प्राप्त होगी।

—सन्तोषकुमार जैन, सागर

चर्चा/वार्ता : मूल्यवान सामग्री

पूज्य एलाचार्य जी से हुई चर्चा/वार्ता मार्च-अंक की मूल्यवान सामग्री है। आपके मूहबूझ पूर्ण प्रश्न और पूज्यवर के अध्ययन-प्रणीत समाधान विशिष्ट और लोकोपयोगी हैं संपादकीय पूर्व-सा बेजोड़ है। डॉ. राजागम जैन मेहनत के साथ 'जैन विद्या : विकास-क्रम' दे रहे हैं। उनके सभी लेख भविष्य में पुस्तकाकार होंगे, ऐसा सोचता हूँ।

—सुरेश 'सरल', जबलपुर

लेख प्रथम कक्षा के

'तीर्थकर' में दिये जानेवाले लेख प्रथम कक्षा के होते हैं; इसलिए ही हम सदस्य बने हैं। मुनि महाराजों को भी बताते हैं।

—खेतशी राधमल शाह, बम्बई

पुराण-कथा, चर्चा-वार्ता

स्थायी स्तंभ हों

'तीर्थकर' का मार्च-अंक पढ़ कर प्रसन्नता हुई।

सुकुमारिका (पुराण-कथा) हिन्दी में नमूने की कृति है। 'त्रिशलाका' की कथाओं का अनुवाद आप कृपया नियमित प्रकाशित कीजिये।

आपके और एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के बीच हुई चर्चा एक दस्तावेज है। आपने हम-जैसे पाठकों के मन में उठने-वाले प्रश्न पूछे और एलाचार्यजी द्वारा जैनधर्म और दर्शन की जो सुगम एवं सुबोध व्याख्या की गयी है, वह तो अद्भुत है। ऐसी चर्चा-वार्ता आपकी पत्रिका में स्थायी स्तंभ होना चाहिये।

'भगवान महावीर : सेवा आज के सन्दर्भ में' विचारणीय है। खेदजनक है कि वर्तमान में हम आचार्यों से विशुद्ध धार्मिक ज्ञान न लेकर क्रियाकाण्ड और आडम्बर ले रहे हैं।

—शान्तिलाल के. शाह, सांगली

नये आजीवन सदस्य रु. १०१

३७२ श्री भेरूलाल जैन
पारस प्रिंटिंग प्रेस
पो. आगर-मालवा, जि. शाजापुर

३७३ श्री माकेशलाल बी. शाह
२२२, जवाहरनगर
गोरेगाँव (पश्चिम)
पा. बम्बई ४०००६२

तीर्थकर : अप्रैल ७९/४८

तीर्थकर : आठवाँ वर्ष (मई १९७६ से अप्रैल १९७९)

लेखानुक्रम

अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, समीक्षा : अक्टूबर, पृ. ३०।

अजानी/परिग्रही, ज्ञानी/अपरिग्रही, अक्टूबर, पृ. ४ (आवरण)।

अदीन वृत्तिवान/संघर्ष सेनानी : लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जून, पृ. ३२।

अध्यात्मयोगी सहजानन्द-अन्तिम पृष्ठ : प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, मई, पृ. १२।

अपने पर भी हँसे कभी : जमनालाल जैन, जनवरी-फरवरी, पृ. ३१।

अपने स्वर-अपने गीत : मुनि महेन्द्रकुमार 'कमल', समीक्षा, मार्च, पृ. २७।

अबे, तू आदमी है या जानवर ? : कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', अक्टूबर, पृ. ५।

अर्थमुक्त, प्रतिष्ठासुवत पण्डितजी : चारकीर्ति स्वामी, जून पृ. २४।

असली माँ (सत्यकथा) : नेमीचन्द्र पटोरिया, मई, पृ. २५।

अहिंसा की भाव-भूमि : डॉ. निजामउद्दीन अक्टूबर, पृ. १४।

आँख की पाँख (कविता) : भवानीप्रसाद मिश्र, जून, पृ. १८।

आँखों ने कहा : मुनि बुद्धमल्ल, समीक्षा, नवम्बर-दिसम्बर, पृ. १०१।

आओ बनें भेड़ : संपादकीय, सितम्बर, पृ. ३।

आचार बनाम विचार : मो. क. गांधी, समीक्षा, मार्च, पृ. २७।

आज कौन तीर्थकर आया चुपचाप (कविता), बाबूलाल जैन 'जलज' अप्रैल, पृ. २ (आवरण)।

आत्मकथन : नाथलाल शास्त्री, जून, पृ. ११।

आत्मा का क्या कुल ? ; आचार्य विद्यासागर, नव-दिस., पृ. ५२।

आदमी हो आदमी की तरह जीना जरा जानों (कविता) : नरेन्द्र प्रकाश जैन, जन-फर., पृ. ४३।

आनन्द का क्षण : कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', जन-फर., पृ. ७।

आभ्यन्तर शुद्ध, बाह्य शुद्ध : मई, पृ. ४ (आवरण)।

आवश्यकता : चारित्र-निष्ठा की (पण्डित : भावी भूमिका) : डॉ. सागरमल जैन, जून, पृ. १३५।

इतना तो करें ही : संपादकीय, अप्रैल, पृ. ३।

इतना निष्पाप क्यों ? (बोधकथा) : विनोबा, अगस्त, पृ. २२।

उपयुक्त व्यक्ति : चन्दनसिंह भरकतिया, जून, पृ. ३४।

'उत्तराध्ययन' : गाथाओं में मुंधी गचाई : डॉ. नेमीचन्द्र जैन, सितम्बर, पृ. १७।

उत्तराध्ययन सूत्र (अंग्रेजी) : अनु. के. सी. ललवानी, समीक्षा, मई, पृ. ३१।

एक और विद्यानन्दि : नीरज जैन, नव-दिस., पृ. १७।

एक तपःपूत कवि की काव्य-साधना : श्रीमती आशा मल्लिया, नव-दिस., पृ. २१।

एक तीर्थयात्रा, जिसे भूल पाना असम्भव है : डॉ. नेमीचन्द्र जैन, नव-दिस., पृ. ५२।

एक निष्काम, समर्पित व्यक्तित्व : माणकचन्द्र पाण्ड्या, जून, पृ. ३१।

एक बात साफ है : संपादकीय, अक्टूबर, पृ. ३।

कथनी-करनी में एकरूपता : डॉ. हीराबाई कोरदिया, जून, पृ. ३३।

कल्पसुनं (कल्पसूत्रम्) : स. महोपाध्याय दिनय-मागर, अंग्रेजी अनु. डॉ. मुकुन्द लाठ, समीक्षा, मई, पृ. ३२।

कहाँ-से-कहाँ (बोधकथा) : नेमीचन्द्र पटोरिया सितम्बर, पृ. १०।

कालजयी (दृष्ट काव्य) : भवानीप्रसाद मिश्र, समीक्षा, अप्रैल, पृ. ४१।

क्या आप हँस सकते हैं : संपादकीय, जन.फर., पृ. ३।

क्या भट्टारक पण्डित-पुरखे हैं ? : डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जून, पृ. १०१।

क्या हम किसी दुष्काल से गुजरने को हैं ? (पण्डित-परम्परा) : राजकुमारी बेगानी, जून, पृ. ६१।

क्या हम किसी दुष्काल से गुजरने को हैं ? (पण्डित-परम्परा) : डॉ. जयकुमार 'जलज', जून, पृ. ६३।

किताबें : अनदेखा हिंसाब : सुरेश 'सरल', अक्टूबर, पृ. ६।

कैसी भूमिका? (पण्डित: भायी भूमिका):
जमनालाल जैन, जून, पृ. १३१।

कारा! (कविता): कन्हैयालाल सेठिया,
जन.-फर., पृ. १ (आवरण)।

गहन व्यक्तित्व की तलाश (कविता): दिनकर
सोनावलकर, मई, पृ. ११।

गुह: एक आवश्यकता: कन्हैयालाल मरायगी,
जून, पृ. ७६।

गुरुवर्य पं. गोपालदाम वरैया: जून, पृ. १३६।

गुन्ताखी मुआफ: 'प्रलयकर', अगस्त, पृ. १
(आवरण); मितम्बर, पृ. १ (आवरण);
अक्टूबर, पृ. १, (आवरण)।

चर्चा/गलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से: डॉ.
नेमीचन्द जैन, मार्च, पृ. १४।

चालीस वर्ष और सिर्फ चार आने (बोधकथा):
नव.-दिस., पृ. १००।

छांटी चट्टान, बड़ी चट्टान (बोधकथा): विजय-
कुमार जैन, जुलाई, पृ. १६।

जंगली कहीं के (बोधकथा): कल्याणकुमार
'शशि', अप्रैल, पृ. ४८।

जड़ें कुतरते चूहे: संपादकीय, अगस्त, पृ. ३।

जनेऊ और जहर (बोधकथा): नेमीचन्द पटो-
रिया, जुलाई, पृ. १ (आवरण)।

जय वर्धमान (नाटक): डा. रामकुमार वर्मा,
समीक्षा, अप्रैल, पृ. ४२।

जिनवाणी का सार-आचार, जून, पृ. ४ (आवरण)
जिन्दगी/का/एक/दिन: डॉ. कुन्तल गोयल,
मार्च, पृ. ५।

जीवन: हरा हर पल, भरा हर पल: डॉ.
कुन्तल गोयल, जन.-फर., पृ. ३७।

जीवन्त प्रतीक: पूनमचन्द गंगवाल, जून, पृ.
३५।

जुलूस: आदमियों के रूप में घास-फूस: सुरेश
'सरल', मई, पृ. १ (आवरण)।

जैन आयुर्वेद साहित्य की परम्परा: डॉ. तेजसिंह
गोड़, समीक्षा, मार्च, पृ. २६।

जैनधर्म में दान: पुष्कर मुनि, समीक्षा, मई,
पृ. ३३।

जैन पण्डित-समाज: पं. दलसुख मालवणिया,
जन., पृ. ६६।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ: पहला पुरखा-जैन दीपक:
पं. दलसुख मालवणिया, जुलाई, पृ. ५।

जैन परम्परा में पण्डित और उनका योगदान:
पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जून, पृ. ६५।

जैन पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय
(टिप्पणी): केशरीमल जैन, जन.-फर., पृ. ४६।

जैन प्रार्थनाएँ: सं. प्रो. कमलकुमार जैन, समीक्षा,
मार्च, पृ. २६।

जैन विद्या: विकास-क्रम/काल, आज: डॉ.
राजाराम जैन, (१) जुलाई, पृ. १७; (२) अगस्त,
पृ. १५; (३) मितम्बर, पृ. २२; (४) अक्टूबर,
पृ. २७; (५) नव.-दिस., पृ. ८६; (६) जन.-
फर., पृ. ४७; (७) मार्च, पृ. १६; (८) अप्रैल,
पृ. ३०।

जैन शायन में निश्चय और व्यवहार: सं. वंशी-
धर व्याकरणाचार्य, समीक्षा, नव.-दिस., पृ. १०२।

जैन माधु की कथा: डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री,
नव.-दिस., पृ. १५।

जो हंसने से रोकें तोड़ें, ऐसी परम्पराएँ (कविता)
कल्याणकुमार 'शशि', जन.-फर., पृ. ४१।

टूटने का सुख, जुड़ने की व्यथा: संपादकीय,
मई, पृ. ३।

ट्रेजर्स ऑफ जैना भण्डार्स (अंग्रेजी): सं. उमा-
कान्त पी. शाह, समीक्षा, मार्च, पृ. २५।

डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये: जून, पृ.
१४८।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य: जून, पृ.
१५०।

डॉ. हीरालाल जैन: जून, पृ. १४६।

धर्मों को सखसाहूण: पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री,
नव.-दिस., पृ. ६।

तीर्थयात्रा: डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य,
नव.-दिस., पृ. ५६।

तू हंसि जग रोये: कन्हैयालाल सरावगी, जन.-
फर., पृ. २१।

तेरा-मेरा मनुवा कैसे एक होय रे?: डॉ. राम-
चन्द्र बिल्लोरे, जून, पृ. १०६।

त्याग की प्रतिमूर्ति: मत्यधरकुमार सेठी, जून,
पृ. ३६।

दहेज: दान से पुण्यदान: राम अवतार अभि-
लाषी, अगस्त, पृ. ७।

धर्म भी, रंजन भी (संदर्भ 'तीर्थकर' का):
श्रेयांसप्रसाद जैन, मई, पृ. २८।

नये युग के मंगलाचरण: बाबूलाल पटोदी,
जून, पृ. ३६।

नहीं जाऊंगा, नहीं जाऊंगा, नहीं जाऊंगा (बोध-
कथा): नेमीचन्द पटोरिया, अक्टूबर, पृ. १६।
नारी-विद्रोह: क्यों, कैसे, कितना?: कु. अर्चना
जैन, जुलाई, पृ. २१।

तीर्थकर: अप्रैल ७९/५०

निराकुलना (बोधकथा) : नेमीचन्द्र पटोरिया, नव-दिस., पृ. ३ (आवरण)।

'निराली पहचान': अब कहाँ? (संदर्भ, 'तीर्थकर' का) : दिनकर सोनवलकर, मई, पृ. २८।

निरंजन शतकम् : आचार्य विद्यासागर, समीक्षा, सितम्बर, पृ. २८।

नैनागिरि : खुलते हैं जहाँ अन्तर्नयन : सुरेश जैन, नव-दिस., पृ. ६६।

पण्डित/अपर नाम/गृहस्थाचार्य : पं. नाथूलाल शास्त्री, जून, पृ. १६।

पण्डित/आइने में : 'प्रलयंकर', जून, पृ. १०३।

'पण्डित' : इबारात की खोज : जून, पृ. ८६।

पण्डितजी/एक खुरी पुस्तक : प्रो. जमनालाल जैन, जून, पृ. २८।

पण्डितजी बनाम 'पंडुजी' : सुरेश 'सरल', जून, पृ. ८७।

पण्डितजी (नाथूलाल शास्त्री) : जीवन-झाँकी : जून, पृ. ४३।

पण्डित, नहीं ज्ञानी : ब्र. कु. कोशल, मिनम्बर, पृ. ३१।

पण्डित-परम्परा और जैन गणित-विज्ञान : प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जून, पृ. ७३।

पण्डित-परम्परा : गतिरोध और नवभूमिका : डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', जून, पृ. १२७।

पण्डित-परिभाषा (कविता) : दिनकर सोनवलकर, जून, पृ. ६।

'पण्डित' : परिभाषा की तलाश : डॉ. प्रेमसुमन जैन, जून, पृ. १११।

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैसा देखा जैसा सुना : श्रीकान्त गोयलीय, जुलाई, पृ. ११।

पं. सुखलाल संघवी : जून, पृ. १४२।

पथ के आलोक : सं. यशपाल जैन, समीक्षा, जून, पृ. १४३।

परीलोक, बुद्धिलोक : मुनि सुमेरमल, समीक्षा, मार्च, पृ. २७।

पाँव की आँख : संपादकीय, जून, पृ. ५।

पाण्डित्य के साथ चारित्र्य भी : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द, जून, पृ. २३।

पुरुष नहीं बोलेंगे, मौन नहीं खोलेंगे; संप्रति अवश्य गूंगा (कविताएँ) : आचार्य विद्यासागर, जन-फर., पृ. ५१।

पूर्णार्थ्य (मराठी) सं. पं. सुमतिबाई शहा, समीक्षा, जुलाई, पृ. २८।

प्रकाश-स्तम्भ : डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, जून, पृ. ३५।

प्रवचन-निर्देशिका : आधिका ज्ञानमती, समीक्षा, नव-दिस., पृ. १०२।

प्रश्न भी स्वाध्याय भी : नव-दिस., पृ. ४ (आवरण)

प्राकृत स्टडीज (अंग्रेजी, १९७३, प्रॉसीडिंग्स ऑफ मेमोरियल ऑन) : मं. डॉ. के. आर. चन्द्रा, मार्च, पृ. २५।

प्राथना/इन्सान की हमदर्दी का स्वर (कविता) : दिनकर सोनवलकर, मई, पृ. १२।

प्रेम का अभाव ही है तरक : भानीराम 'अलि-मुख', नव-दिस., पृ. ७३।

फिसलते सामाजिक यथार्थ : संपादकीय, जुलाई, पृ. ३।

कैसला आप दें : वनवारीलाल चौधरी, अक्टूबर, पृ. २१।

बचें हम प्रश्नों की भीड़ से : डॉ. कुन्तल गोयल, नव-दिस., पृ. ८१।

बन्दो रे तीर्थ नैनागिरि (बन्दना-गीत) : कैलाश मड़बैया, नव-दिस., पृ. १ (आवरण)।

बाबू बाबाजी की याद में (डॉ. सीतलप्रसादजी) : अयोध्याप्रसाद गोयलीय, नव-दिस., पृ. ६७।

बालक विद्याधर से आचार्य विद्यासागर : नव-दिस., पृ. ५०।

बापू का पथ : सं. यशपाल जैन, समीक्षा, जून, पृ. १४३।

बुन्देलखण्ड-यात्रा की दो बड़ी उपलब्धियाँ : श्रेयांसप्रसाद जैन, नव-दिस., पृ. ६१।

बुंद-बुंद से घट भरें : जून, पृ. ३ (आवरण); जुलाई, पृ. ३ (आवरण)।

ब्र. पं. चन्दाबाई : जून, पृ. १४४।

भगवान् महावीर : सेवा आज के संदर्भ में (टिप्पणी) : राजकुमारी बेगानी, मार्च, पृ. २३।

भारतवर्ष नामकरण, इतिहास आणि संस्कृति (मराठी) : जिनन्द्रकुमार भोमाज, समीक्षा, अगस्त, पृ. २५।

भेंट, एक भेदविज्ञानी से : डॉ. नेमीचन्द्र जैन, नव-दिस., पृ. ३८।

भेंट-स्वरूप केवल नारियल : कोमलचन्द्र वकील, जून, पृ. ३०।

मन की कृपणता (कविता) : दिनकर सोनवलकर, मई, पृ. १२।

मरा है कोई और (बोधकथा) : डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, मार्च, पृ. १ (आवरण)।

मल्हार (काव्य) : राजकुमारी बेगानी, समीक्षा, अप्रैल, पृ. ४१।

तीर्थकर : अप्रैल ७९/५१

महाकवि भट्टरायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभूषण-
कीर्ति : डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, समीक्षा,
मितम्बर, पृ. २७।

महानता की कसोटियाँ (टिप्पणी) : गुलाबचन्द
'आदित्य', नव-दिस., पृ. ६६।

महान् ज्योति/महान् तीर्थ (बोधकथा) : डॉ.
निजामउद्दीन, मार्च, पृ. ३ (आवरण)।

महावीर जयन्ती स्मारिका १९७८ : प्रधान
संपादक : भँवरलाल पोल्याका, समीक्षा, जून, पृ.
१५४।

महावीरा एण्ड हिज टीचिंग्ज (अंग्रेजी) :
संपा. डॉ. ए. एन उपाध्ये, डॉ. नथमल टाटिया, पं.
दत्तसुख मालवणिया आदि, समीक्षा, मई, पृ. ३१।

माताजी का दिव्य दर्शन; माताजी की कहानियाँ:
सं. यशपाल जैन, समीक्षा, जून, पृ. १५४।

मिथ्यात्वों का आध्यात्मिक विकास : श्रीचन्द्र
चौरडिया, समीक्षा, मई, पृ. ३३।

मुनि कौन ? : जुलाई, पृ. ४ (आवरण)।

मेघ/पुरुष : मार्च, पृ. ४ (आवरण)।

'मैंने किया ही क्या है ?' : लाला प्रेमचन्द जैन,
जून, पृ. २५।

मोक्ष : आज भी संभव : आचार्य विद्यासागर,
नव-दिस., पृ. ३०।

युवापीढी का ध्रुवतारा : अजित जैन, नव-
दिस., पृ. २५।

ये कुछ नये मंदिर, नये उपासरे : डॉ. नेमीचन्द्र
जैन, जन-फर., पृ. ५२।

ये गडबडियाँ (टिप्पणी) : विमला जैन, नव-
दिस., पृ. ६६।

रायकृष्ण उपनिषद् : चक्रवर्ती राजगोपलाचार्य,
समीक्षा, जून, पृ. १५३।

रूढ़ि के ताले ऐसे खुलते हैं : काका कालेलकर,
जन-फर., पृ. ४०।

रोशनी का वह चेहरा (कविता) : उमेश जोशी,
नव-दिस., पृ. २७।

लहनासिंह/यदि आज जीवित होता : डॉ. कान्ति-
कुमार जैन, सितम्बर, पृ. ७।

वन्दनीय छवि : नीरज जैन, जून, पृ. २४।

वह मनुष्य है : जन-फर., पृ. ४ (आवरण)।

वह लाजवाब है (शब्दचित्र) : नरेन्द्रप्रकाश जैन
पृ. २०।

बाणी मुखरित हुई धरा पर (कविता) : बाबू-
लाल जैन 'जलज', मई, पृ. २३।

बाणी मुखरित हुई : महावीर भगवान् की
(कविता) : बाबूलाल जैन 'जलज', नव-दिस.,
पृ. ७६।

वातात्मपूर्ण आशीर्ष : पं. जयसेन जैन, जून,
पृ. ३५।

विचार-यात्रा/अगले पड़ाव : पं. नाथूलाल शारदा,
जून, पृ. ३८।

विचार-यात्रा (सं. १९४०-४६) : पं. नाथूलाल
शारदा, जून पृ. ४७।

विश्वःश्रृंखला (कविता) : आशा मल्लया, नव-
दिस., पृ. २६।

विनीत स्वभाय के धर्मों : डॉ. कस्तूरचन्द्र
कासलीवाल, जून, पृ. २६।

विरामचिह्न : राजमल जैन, समीक्षा, मितम्बर,
पृ. २८।

विवेक ही वस्तुतः जीवित (बोधकथा) : नेमीचन्द्र
पटोरिया, जून, पृ. ७१।

विश्व की श्रेष्ठ कहानियाँ : सं. यशपाल जैन,
समीक्षा, जून, पृ. १५३।

वैशाला का भविष्य, केवल महावीर ? :
बीरेन्द्रकुमार जैन, अप्रैल, पृ. ६।

वे सिर्फ दिग्म्बर समाज के नहीं : मानव मुनि
जून, पृ. ३४।

वैकुण्ठ और सोजन्य का बहुमान : डॉ. गोकुल-
चन्द्र जैन, जून, पृ. २५।

द्वत : एक जाल, एक तट-बन्ध : पुष्कर मुनि,
मई, पृ. १३।

शौच : लोभ की सर्वोत्कृष्ट निवृत्ति : पण्डित-
प्रवर आशाधर, नव, दिस., पृ. २८।

श्रमणोपासक (समता-विशेषांक) : समीक्षा
नव-दिस. पृ. १०३।

श्रावक-निरूपित गुणों की साक्षात् मूर्ति : पं.
रतनलाल जैन, जून, पृ. ३४।

श्रीमद् भगवद्गीता : मालवी अनुवाद--निरंजन
जमीदार : समीक्षा, मार्च, पृ. २७।

श्रीमन्नारायण व्यक्ति और विचार, सं. यशपाल
जैन, समीक्षा, अप्रैल, पृ. ४५।

श्रीमद्व रायचन्द्र अध्यात्म कोश (गुजराती) :
सश. भोगीलाल गि. शेट, समीक्षा, नव-दिस.,
पृ. १०१।

संगीत समयसार : मूल--आचार्य पारवंदेव, संपा.
अनु. -आचार्य बहुरूपति, समीक्षा, अगस्त, पृ. २४।

सद्गुरु की पहचान (बोधकथा) : आनन्दस्वामी
नव-दिस., पृ. ५८।

संस्कृति का अभिषेक (कविता) : बाबूलाल
जैन 'जलज', अप्रैल, पृ. ३ (आवरण)।

सब रुचिकर : कुछ अरुचिकर (संदर्भ 'तीर्थकर'
का) : नरेन्द्र प्रकाश जैन, मई, पृ. ३०।

मध्व लोग देखो : अगस्त, पृ. ४ (आवरण)।
 'सभा-संस्था : आप क्या सोचते हैं ? : सुरेश 'सरल', सितम्बर, पृ. १२।
 समय थोड़ा है : डॉ. कुन्तल गोयल, अक्टूबर, पृ. १७।
 'समयसार' : गाथाओं में गुंथी सचार्ही : डॉ. नमोचन्द्र जैन, मई, पृ. १५; अगस्त, पृ. १६।
 समवसरण : समग्र सौन्दर्य का स्थायी कला-मौलिक : वीरेन्द्रकुमार जैन, मई, पृ. ७।
 समस्याओं से घिरा आज का शोध-क्षेत्र : डॉ. कस्तूरचन्द्र कामलीवाल, नव-दिस., पृ. ६६।
 समाज के अनमोल रत्न : श्रेयासप्रसाद जैन, जून, पृ. २५।
 रामाज के उत्थान में जैन पण्डित-परम्परा का योगदान : डा. पद्मलाल साहित्याचार्य, जून, पृ. ६५।
 ममाधिभरण (गुजराती) : भोगीलाल मि. शेट, समीक्षा, अगस्त, पृ. २३।
 ममीक्षा-शिविगी का आयोजन (पण्डित : भावी भूमिका) : डॉ. पुष्पलता जैन, जून, पृ. १३६।
 मध्वप्रदाय (ललित व्यंग्य) : सुरेश 'सरल', नव-दिस., पृ. ६३।
 सांसों के पंखी को : (कविता) : बाबूलाल जैन 'जलज', अगस्त, पृ. ६।
 साधना-भ्रष्ट (कविता) : दिनकर संगनवलकर, जन-फर.-पृ. ३ (आवरण)।
 साधु अर्थात् लोकमाता : सितम्बर, पृ. ४ (आवरण)।
 साधु की विनय : आचार्य विद्यासागर, नव-दिस., पृ. ३७।
 साधुओं को नमस्कार : संपादकीय, नव-दिस., पृ. ५।
 मुकुमारिका (पुराण-कथा) : गणेश ललवानी, मार्च, पृ. १०।
 स्वर्ग और नरक एक सत्य है (टिप्पणी) : हरसूचन्द्र बोधरा, जन-फर., पृ. ४४।
 स्वर्ग और नरक : कितना सत्य, कितना असत्य : कन्हैयालाल सरावगी, अगस्त, पृ. ६।
 स्वर्ग का स्वप्न : आचार्य रजनीश, अगस्त, पृ. १६।
 स्वराज्य का अर्थ : मो. क. गांधी, समीक्षा, मार्च, पृ. २७।
 स्वाध्याय : सुरेश 'सरल', मार्च, पृ. ७।

स्थितप्रज्ञ बनें (पण्डित : भावी भूमिका) : वीरेन्द्र प्रकाश जैन, जून, पृ. १२६।
 हैंसते गुलाब के साभिध्य में (कविता) : उमेश जोशी, जन-फर., पृ. १२।
 हैंसते-हैंसते जियो : डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, जन-फर., पृ. ५।
 हैंसते-हैंसते जियो : राजकुमारी बेगानी, जन-फर., पृ. १३।
 हैंसते-हैंसते जियो/करो : डॉ. निजामउद्दीन, जन-फर., पृ. १६।
 हैंसते-हैंसते जियो : कब तक ? सुरेश 'सरल' जन-फर., पृ. २५।
 हैंसते-हैंसते मरना : गणेश ललवानी, जन-फर., पृ. २६।
 हैंसते-हैंसते मृत्यु-वरण : डॉ. प्रेम सुमन जैन, जन-फर., पृ. ३३।
 हम और मन्दिर (ललित व्यंग्य) : सुरेश 'सरल', जुलाई, पृ. २३।
 हम हैंसना भूल जाते हैं : अर्चना जैन, जन-फर., पृ. १७।
 हमारी पण्डित-परम्परा और उसका भविष्य : वीरेन्द्रकुमार जैन, जून, पृ. ५५।
 हारों किताब, जीतों मैदान : संपादकीय, मार्च, पृ. ३।
 हिन्दी के मध्यकालीन जैन साहित्यकार : पं. परमानन्द शास्त्री, जून, पृ. ११५।
 हृदय में संतोष, वाणी में मृदुता : डा. पद्मलाल साहित्याचार्य, जून, पृ. २७।

लेखकानुक्रम

अजित जैन : युवा पीढ़ी का ध्रुवतारा, नव-दिस., पृ. २५।
 अयोध्याप्रसाद गायत्रीय : बाबू बाबाजी की याद में (डॉ. सीतलप्रसादजी), नव-दिस., पृ. ६७।
 अर्चना जैन, कु. : नारी-विद्रोह : क्यों, कैसा, कितना?, जुलाई, पृ. २१; हम हैंसना भूल जाते हैं, जन-फर., पृ. १७।
 आनन्द स्वामी : मद्गुण की पहचान (बोधकथा), नव-दिस., पृ. ५६।
 आशाधर, पण्डित प्रवर : शीघ्र : सोभ की सर्वोत्कृष्ट निवृत्ति, नव-दिस., पृ. २६।
 आशा मल्लया, श्रीमती : एक तपःपूत कवि की काव्य-साधना, नव-दिस., पृ. २१; विद्याञ्जलि (कविता), नव-दिस., पृ. २६।

तीर्थंकर : अप्रैल ७०/५३

उमेश जोशी : रोशनी का वह चेहरा (कविता),
नव-दिस., पृ. २७;—हैंसते हुए गुलाब के साभिध्य
में (कविता), जन-फर., पृ. १२।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' : अबे, तू आदमी
है या जानवर ? अक्टूबर, पृ. ५;—आनन्द का क्षण,
जन-फर., पृ. ७।

कन्हैयालाल सरावगी : गुरु : एक आवश्यकता,
जून, पृ. ७६;—तू हाँसे जग रोयं, जन-फर., पृ. २१;—
स्वर्ग और नरक : कितना मन्थ, कितना असत्य
अगस्त, पृ. ६।

कन्हैयालाल सेठिया : कारा ! (कविता),
जन. फर., पृ. १ (आवरण)।

कल्याणकुमार 'शशि' : जंगली कहीं के (बोध-
कथा), अप्रैल, पृ. ४८; जो हैंमने से रोके, तोड़ें
ऐसी परम्पराएँ (कविता), जन-फर., पृ. ४१।

कस्तूरचन्द कामलीवाल, डॉ. : क्या भट्टारक
पण्डित-मुरखे है ?, जून, पृ. १०१;—विनीत स्वभाव
के धनी, जन. पृ. २६; समस्याओं से घिरा आज का
बोध-छात्र, नव-दिस., पृ. ८६।

कान्ति कुमार जैन, डॉ. : लहनामिह/यदि आज
जीवित होता, मितम्बर, पृ. ७।

कालेलकर, काका : रुद्रि के ताले गेमे खुलते हैं,
जन-फर., पृ. ४०।

कुन्तल गोयल, डॉ. : जिन्दगी/का/एक/दिन,
मार्च, पृ. ५; जीवन : हरा हर पल, भरा हर पल,
जन. फर., पृ. ३७;—बचें हम प्रश्नों की भीड़ से,
नव-दिस., पृ. ८१;—ममय थोड़ा है, अक्टूबर,
पृ. १७।

कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. : जैन परम्परा में पण्डित
और उनका योगदान, जून, पृ. ६५; णमो लोग
सव्वसाहणं, नव-दिस., पृ. ६।

कैलाश मडवैया : बन्दो रे तीरथ नैनागिरि
(गीत), नव-दिस., पृ. १ (आवरण)।

कोमलचन्द वकील : भेंट-स्वरूप केवल नारियल
जून, पृ. ३०।

केशरीमल जैन : जैन पारिभाषिक शब्दों के
अंग्रेजी-पर्याय (टिप्पणी), जन-फर., पृ. ४६।

कौशल, ब्र. कुमारी : पण्डित, नहीं जानो, मित-
म्बर, पृ. ३१।

गणेश ललवाती : सुकुमारिका (पुराण-कथा),
मार्च, पृ. १०;—हैंसते-हैंसते मरना, जन-फर.,
पृ. २८।

गुलाबचन्द्र 'आदित्य' : महानता की कसौटियाँ
(टिप्पणी), नव-दिस., पृ. ६६।

गोकुलचन्द्र जैन, डॉ. : दैतुव्य और सौजन्य का
बहुमान, जून, पृ. २५।

तीर्थकर : अप्रैल ७९/५४

चन्दामिह भरकतिया : उपदुक्त व्यक्ति, जून,
पृ. ३४।

चारकीर्ति स्वामी : अर्थमुक्त/प्रतिष्ठामुक्त
पण्डितजी, जून, पृ. २४।

जमनालाल जैन : अपने पर भी हँसे कभी,
जन-फर., पृ. २१;—कैसी भूमिका (पण्डित : भावी
भूमिका), जून, पृ. १३१।

जमनालाल जैन, प्रो. : पण्डितजी/एक छुली
पुस्तक, जून, पृ. २८।

जयकुमार 'जलज', डॉ. : क्या हम किसी दुष्काल
से गुजरने को हैं ?, जून, पृ. ६३।

जयसेन जैन, पं. : वास्तवपूर्ण आशीष, जून,
पृ. ३५।

दलमुख मालवणिया, पं. : जैन पत्र-पत्रिकाएँ :
पहला पुरखा—जैन दीपक, जुलाई, पृ. ५;—जैन
पण्डित समाज, जून, पृ. ६६।

दिनकर सोनवलकर, प्रो. : गहन व्यक्तित्व की
तलाश (कविता), मई, पृ. ११;—तिराली पङ्कजान :
अब कहीं (संदर्भ, 'तीर्थकर' का) मई, पृ. २८;
—पण्डित-परिभाषा (कविता), जून, पृ. ५;
—मन की कृपणता (कविता), मई, पृ. १२;
—प्रार्थना / इस्माएल के हमदर्दी का स्वर (कविता),
मई, पृ. १२;—साधना-भ्रष्ट (कविता), जन-
फर., पृ. ३ (आवरण)।

देवेन्द्रकुमार शास्त्री, डॉ. : जैन साधु की चर्चा,
नव-दिस., पृ. १५।

नरेन्द्र प्रकाश जैन, प्राचर्य : आदमी हो, आदमी
की तरह जीना जरा जानो (कविता), जन-फर.,
पृ. ४३;—सब रचिकर : कुछ अरुचिकर (संदर्भ,
'तीर्थकर' का), मई, पृ. ३०;—स्थितप्रज्ञ बनें
(पण्डित : भावी भूमिका), जून, पृ. १२६;—वह
लाजवाब है (शब्दचित्त), नव-दिस., पृ. २०।

नाथूलाल शास्त्री, पं. : आत्मकथन, जन, पृ.
११;—पण्डित/अपर नाम/गृहस्थाचार्य, जून, पृ.
१६;—विचार-यात्रा/अगले पड़ाव, जून, पृ. ३८;
—विचार-यात्रा (मनु १६४२-४६), जून, पृ. ४७।

निजामउद्दीन, डॉ. : अहिंसा की भाव-भूमि,
अक्टूबर, पृ. १४;—महान् ज्योति, महान् तीर्थ
(बोधकथा), मार्च, पृ. ३ (आवरण);—हंसते-
हंसते जिये/करें, जन-फर., पृ. १६।

नीरज जैन : एक और विद्यानिन्द, नव-दिस.,
पृ. १७;—चन्दनीय छवि, जून, पृ. २४।

नेमीचन्द्र पटौरिया : अमली माँ (सत्यकथा),
मई, पृ. २५;—कहाँ-से-कहाँ (बोधकथा), मितम्बर,
पृ. १०;—जनेऊ और जहूर (बोधकथा), जुलाई,
पृ. १ (आवरण);—नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा,

हो जाऊंगा (बोधकथा), अक्टूबर, पृ. १६;
-निराकुलता (बोधकथा), नव.-दिस., पृ. ३
(आवरण)।

नेमीचन्द्र जैन, डॉ. : आओ वनों भेड़ (सं.),
सितम्बर, पृ. ३; इतना तो करें ही (सं.),
अप्रैल पृ. ३; -'उत्तराध्ययन' : गाथाओं में
गुंथी सचाई, सितम्बर, पृ. १७; -एक तीर्थयात्रा,
जिसे भूल पाना असम्भव है, नव.-दिस., पृ. ५३;
-एक बात साफ है (सं.), अक्टूबर, पृ. ३; -क्या
आप हंस सकते हैं (सं.), जन.-फर., पृ. ३; चर्चा:
एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी से, मार्च, पृ. १४;
जड़ें कुतरते चूहे (सं.), अगस्त, पृ. ३; -टूटने का
सुख, जुड़ने की व्यथा (सं.), मई, पृ. ३; -पाँव
को आँख (सं.), जून, पृ. ५; -फिसलते सामाजिक
यथार्थ (सं.), जुलाई, पृ. ३; -थेट, एक भेदविज्ञानी
से, नव.-दिस., पृ. ३८; ये कुछ नये मन्दिर, नये
उपासक, जन.-फर., पृ. ५२; 'समयसार' : गाथाओं
में गुंथी सचाई (गाथा क्र. ८-१७-२५३) मई, पृ.
१५; 'समयसार' : गाथाओं में गुंथी सचाई (गाथा
१-३८-३८), अगस्त, पृ. १६; -साधुओं को
नमस्कार (सं.), नव.-दिस., पृ. ५; -हारे किताब
जिते मैदान (सं.), मार्च, पृ. ३।

पद्मलाल जैन साहित्याचार्य, डॉ. : तीर्थयात्रा,
नव.-दिस., पृ. ५६; -समाज के उद्धान में जैन
पण्डित-परम्परा का योगदान, जून, पृ. ६५; -हृदय
में संतोष, वाणी में मृदुता, जून, पृ. २७।

परमानन्द शास्त्री, पं. : हिन्दी के मध्यकालीन
जैन साहित्यकार, जून, पृ. ११५।

पुष्कर मुनि : इत : एक पान, एक तट-बन्ध,
पृ. १३।

पुष्पलता जैन, डॉ., समीक्षा-शिविरों का आयोजन,
जून, पृ. १३८।

पूनमचन्द्र मंगवाल : जीवन्त प्रतीक, जून, पृ. ३५।
प्रकाशचन्द्र जैन, डॉ. : आशा-स्वप्न, जून,
पृ. ३५।

प्रेमचन्द्र जैन लाला : 'मिने किया ही क्या है ?'
जून, पृ. ३५।

प्रेम मुमन जैन, डॉ. : 'पण्डित' : परिभाषा की
तलाश, जून, पृ. १११; -हँसते-हँसते मृत्यु-वरण,
जन.-फर., पृ. ३३।

'प्रलयकर' : गुस्ताखी मुआफ, अग., पृ. १
(आवरण); -अक्टूबर, पृ. १ (आवरण);
पण्डित/आईने में, जून, पृ. १०३।

ब्रजधारीलाल चौधरी : कैमला दे, अक्टूबर,
पृ. २१।

बाबूलाल जैन 'जलज' : आज कौन तीर्थकर,
श्राया चुपचाप (कविता), (अप्रैल पृ. ३ आव-

रण); वाणी मुखरित हुई धरा पर (कविता), मई,
पृ. २३; -वाणी मुखरित हुई 'महावीर भग-
वान् की (कविता), नव.-दिस., पृ. ७६;
संस्कृति का अभिषेक (कविता), अप्रैल पृ. ३
(आवरण) -साँसों के पंखी को (कविता),
अगस्त, पृ. ६।

बाबूलाल पाटोदी : नये युग के मंगलाचरण :
जून, पृ. ३६।

भवानीप्रसाद मिश्र : आँख की पाँख (कविता),
जून पृ. १८।

भागचन्द्र जैन 'भास्कर', डॉ. : पण्डित-परम्परा :
गतिरोध और नवभूमिका, जून, पृ. १२७।

भानीराम 'अग्निमुख' : प्रेम का अभाव ही है
नरक, नव.-दिस., पृ. ७३।

माणकचन्द्र पाण्ड्या : एक निष्काम, समर्पित
व्यक्तित्व, जून, पृ. ३१।

मानवमुनि : वे निर्फ दिगम्बर समाज के नहीं,
जून, पृ. ३४।

महेश्वर सागर प्रचण्डिया, डॉ. : मरा है कोई और
(बोधकथा), मार्च, पृ. १ (आवरण)।

रजनोश, आचार्य : स्वर्ग का स्वान, अगस्त,
पृ. ६।

रतनलाल जैन : श्रावक-निर्दिष्ट गुणों की
साक्षात् सूति, जून, पृ. ३४।

राम अवतार अभिलाषी : दहेज, दान से गुप्त-
दान, अगस्त, पृ. ७।

राजकुमारी बेगानी : क्या हम किसी दुष्काल
से गुजरने को हैं (पण्डित-परम्परा), जून, पृ. ६१;
-भगवान् महावीर : सेवा आज के सदर्भ में (टिप्पणी)
मार्च, पृ. २३; -हँसते-हँसते जियें, जन.-फर.,
पृ. १३।

राजाराम जैन, डॉ. : जैन विद्या : विकासक्रम/
कल, आज; जुलाई, पृ. १७; (२) अगस्त, पृ. १५;
(३) सितम्बर, पृ. २२; -(४) अक्टूबर, पृ. २७;
-(५) नव.-दिस., पृ., ८६; -(६) जन.-फर.,
पृ. ४७; -(७) मार्च, पृ. १६; (८) अप्रैल
पृ. ३०।

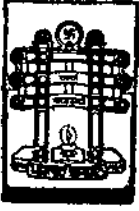
रामचन्द्र बिल्लौर, डॉ. : तेरा-मेरा मनुवा कैसे
एक होय रे?, जून, पृ. १०६।

लक्ष्मीचन्द्र जैन, प्रो. : अध्यात्मयोगी सहजानन्द :
अन्तिम पृष्ठ, मई, पृ. १६; -पण्डित-परम्परा और
जैन गणित-विज्ञान, जून, पृ. ७३।

लक्ष्मीचन्द्र 'मरोज' : अदीन वृत्तिवान्/संघर्ष
सेनानी, जून, पृ. ३६।

(शेष पृष्ठ ६७ पर)

तीर्थकर : अप्रैल ७९/५५



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन हमारे सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-उपन्यास

सुवर्णलता	: लेखिका—आशापूर्णा देवी प्र. संस्करण १९७८, डिमाई, पृ. ४१०	२५-००
गणदेवता	: ले.—ताराशंकर बन्धोपाध्याय प्र. सं. १९७७, डिमाई, पृ. ५८४	१६-००
माटी मटाल (दो भाग)	: ले.—गोपीनाथ महान्ती द्वि. सं. १९७८, डिमाई, पृ. ६२९.	भाग-१ २०-०० भाग-२ २०-००
सहस्ररूपण	: ले.—विष्वनाथ मृत्युनारायण द्वि. सं. १९७२, डिमाई, पृ. ४५६	१६-००
आधा पुल	: ले.—जयदीशचन्द्र द्वि. सं. १९७५, डिमाई, पृ. १९९	१४-००
समुद्रसंगम	: ले.—भोलाशंकर व्यास प्र. सं. १९७५, डिमाई, पृ. १६७	१७-००
जयपराजय	: ले.—सुमंगल प्रकाश प्र. सं. १९७५, डिमाई, पृ. ४०४	२६-००
मृत्युंजय	: ले.—शिवाजी धावंत प्र. सं. १९७४, डिमाई, पृ. ६८६	३५-००
पुरुष पुराण	: ले.—डॉ. विवेकीराय प्र. सं. १९७५, काउन, पृ. १०२	८-००
मृकितदूत	: ले.—वीरेन्द्रकुमार जैन च. सं. १९७५, काउन, पृ. २७०	१३-००
महाश्रमण सुने	: ले.—कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिकखु' द्वितीय सं. १९६६, काउन, पृ. १२८	४-००
अस्तंगता	: ले.—कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिकखु' द्वि. सं. १९७३, काउन, पृ. ३२०	९-००
अवतार वरिष्ठाय : रामकृष्ण परमहंस	: विवेकरंजन भट्टाचार्य प्र. सं. १९७७, डिमाई, पृ. २८९	१०-००
अपने-अपने अजनबी	: ले.—अज्ञेय मातृदाँ संस्करण, काउन, पृ. १०२	३-००
कृष्णकली	: ले.— शिवानी पाँचवाँ संस्करण, डिमाई, पृ. २४४	९-००

भारतीय ज्ञानपीठ

बो-४५-४७, कॅनॉट प्लेस, नई दिल्ली-११० ००१

नीर्यंकर : अप्रैल ७९/५६

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

हमारे नये प्रकाशन (महान् उपलब्धियाँ)

धर्माभूत अनगार और धर्माभूत सागर

दिगम्बर जैन परम्परा में साधुवर्ग (अनगार) तथा गृहस्थ श्रावक (सागर) के आचार-धर्म का निरूपण करने वाली १३वीं शती की संस्कृत श्रुति, ज्ञानदीपिका स्वोपज्ञ संस्कृत टीका एवं हिन्दी व्याख्या सहित, पहली बार प्रकाशित। दो अलग-अलग जिल्दों में। मूलकर्ता : पं. आशाधर, संपादन-अनुवाद : पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री। डबल क्राउन, कपड़े की जिल्द, पृष्ठ ८०० (अनगार), पृ. ४०० (सागर)। मूल्य क्रमशः ३०-००; १६-०० रुपये।

गोम्मटसार (जीव-काण्ड) भाग १

चार भागों में प्रकाशनार्थ नियोजित सम्पूर्ण ग्रन्थ (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड) का यह प्रथम भाग है। सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रणीत मूलग्रन्थों के साथ, केशव वर्णी द्वारा विरचित संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित कर्नाटकवृत्ति, तदनुसारणी संस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका, हिन्दी अनुवाद एवं विशेषार्थ तथा शोधपूर्ण विस्तृत हिन्दी-अंग्रेजी प्रस्तावना से अलंकृत। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण-पहली बार। संपादन : (स्व.) डा. आ. ने. उपाध्ये तथा पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री। डबल क्राउन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६४, मूल्य ३०)। द्वितीय भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

आत्मा का स्वरूप, उसकी संघटना और उसके संचरण आदि पक्षों पर जैनधर्म की मान्यताओं का विशद विवेचन करने वाली अंग्रेजी में अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक। भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में वर्णित आत्मा के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन। डा. सुमति चन्द्र जैन के दीर्घकालीन अध्ययन और चिन्तन का सुफल। डिमाई साइज़, पृ. २५४; मूल्य २०) रुपये।

महापुराण भाग १ (नाभेयचरित्तु पूर्वार्ध)

महाकवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश ग्रन्थ। अंग्रेजी प्रस्तावना तथा नोटस आदि के साथ सम्पादन : डॉ. पी. एल. वैद्य; हिन्दी-अनुवाद : डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन।

प्रथम संस्करण, डबल क्राउन, पृष्ठ ५५० (प्रेस में मुद्रण प्रायः पूर्ण)।

भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (भाग-१, २, ३, ४)

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, बम्बई की ओर से भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में छह भागों में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ के प्रथम चार भाग। प्रथम भाग में उत्तरप्रदेश (दिल्ली और पौदनपुर-तक्षशिला सहित) के, द्वितीय भाग में बिहार-बंगाल-उड़ीसा के, तृतीय भाग में मध्यप्रदेश के तथा चतुर्थ भाग में राजस्थान-गुजरात-महाराष्ट्र के समस्त तीर्थक्षेत्रों का परिचय-ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा पुरातात्विक पृष्ठभूमि में। चारों भाग क्रमशः ८४, ७९, ७१ और ९९ भव्य चित्रों तथा मार्ग दर्शाने वाले अनेक मानचित्रों सहित। मूल्य-प्रत्येक भाग ३०) रु.। दक्षिण भारत से सम्बन्धित भाग पाँच और छह प्रकाशित होंगे।

भारतीय ज्ञानपीठ

बी ४५-४७, कॅनाँट प्लेस नई दिल्ली-११०००१

तीर्थकर : अप्रैल ७९/५७

अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर

चार खण्डों में संपन्न वीरेन्द्रकुमार जैन का एक बहुपठित और बहुचर्चित
महाकाव्यात्मक उपन्यास

प्रथम खण्ड : वैशाली का विद्रोही राजपुत्र : कुमारकाल (तृतीय संस्करण)

द्वितीय खण्ड : अमिधारा का यात्री : साधना तपस्या-काल (द्वितीय संस्करण)

तृतीय खण्ड : तीर्थंकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन : तीर्थंकर-काल (द्वितीय संस्करण)

चतुर्थ खण्ड : अन्तःपुरुष की जय-यात्रा (शीघ्र प्रकाश्य)

प्रत्येक खण्ड का मूल्य रु. ३०-००; चार खण्डों का अग्रिम मूल्य रु. १००-००

(डाक-व्यय पृथक्)

'अनुत्तर योगी' के सृजनकर्ता की कलात्मक शैली की यह विशेषता है कि जितनी बार हम इस कृति को पढ़ते हैं, उतनी बार हमें इसमें नयी-नयी बातें मिलती हैं। निःसन्देह लेखक नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से संपन्न है और काल एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मूल्य का साक्षात्कार करता है।

मैं समझता हूँ कि आने वाले समय में यह रचना वैसी ही लोकप्रिय एवं श्रद्धास्पद बनेगी, जैसी तुलसी-कृत रामचरितमानस शीर्षक रचना बनी हुई है। सृजेता का परिश्रम एवं अनुचिन्तन फलदायी सिद्ध हुआ है।

—एलाचार्य विद्यानन्द मुनि

इस शती का 'अनुत्तर योगी' ग्रन्थ अनुपम है, इसमें सन्देह नहीं। जब हमारे पूर्वचार्यों ने भगवान् महावीर की जीवनी को अपने-अपने काल के अनुरूप सजाया है, तो कोई कारण नहीं कि आधुनिक लेखक आधुनिक दृष्टि से उसे न लिखे। विरोध करने वालों की दृष्टि केवल पूर्वाचार्य-लिखित कोई एक जीवनी है। किन्तु वे नहीं जानते कि उत्तरोत्तर उसमें किस प्रकार नया-नया जोड़ा गया है।

—पं. दत्तमुख मालवणिया

'अनुत्तर योगी' तो सचमुच अनुत्तर योगी है। उसमें कलाकार कवि लेखक ने भगवान् महावीर के प्रति अपने हृदय की समस्त श्रद्धा उसमें उँडेल डाली है। अनुत्तर योगी के महावीर किसी एक संप्रदाय विशेष के नहीं हैं। उन्हें उस दृष्टिकोण से देखना भी नहीं चाहिये। लेखक ने उन्हें उपन्यास के पात्र के रूप में अंकित किया है। उनके जीवन को उन्होंने जिया है। उनके श्रम का मूल्यांकन करना शक्य नहीं है।

—पं. कलाशचन्द्र शास्त्री

प्राप्ति-स्थान :

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति

४८, सीतलामाता बाजार, इन्दौर-४५२ ००२ (म. प्र.)

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/५९

(पृष्ठ ५५ का शेष)

विजयकुमार जैन : छोटी चट्टान, बड़ी चट्टान (बोधकथा), जुलाई, पृ. १६।

विद्यानन्द, ग्लाचार्य मूनि : पाण्डित्य के साथ चारित्र भी, जून, पृ. २३।

विद्यासागर, आचार्य : आत्मा का क्या कुल ?, नव.-दिस., पृ. ५२; -गुरुष नहीं बोलेंगे, मोन नहीं खोलेंगे; सप्रति अवश्य गूंगा (कविताएँ), जन.-फर., पृ. ५१; -मोक्ष : आज भी संभव, नव.-दिस., पृ. ३०; -साधु की विनय, नव.-दिस., पृ. ३७।

विनोबा, आचार्य : इतना निष्ठाप क्यों ? (बोधकथा) : अगस्त पृ. २२।

विमला जैन - ये गड़बड़ियाँ (टिप्पणी), नव.-दिस., पृ. ६६।

वीरेन्द्रकुमार जैन : वैशाली का भविष्य, केवल महावीर ?, अप्रैल पृ. ६१ समवसरण : ममग्र सौन्दर्य का स्थायी कला-मोटिफ, मई, पृ. ७; -हमारी पण्डित-परम्परा, और उसका भविष्य, जून, पृ. ५५।

श्रीकान्त गोयलोय : पं. कैलाशचन्द्रजी : जैमा देखा जैमा सुना, जुलाई, पृ. ११।

श्रेयांसप्रसाद जैन : धर्म भी, रंजन भी ('तीर्थंकर' का), मई, पृ. २८ बुन्देलखण्ड-यात्रा की दो बड़ी

उपलब्धियाँ, नव.-दिस., पृ. ६१, --समाज के अनमोल रत्न, जून, पृ. २५।

मत्यधरकुमार सेठी : त्याग की प्रतिमूर्ति, जून, पृ. ३६।

माधुरमल जैन, डॉ. : आवश्यकता : चरित्र-निष्ठा की (पण्डित : भावी भूमिका), जून, पृ. १३५।

सुरेन्द्र वर्मा, डॉ. : हैंमते-हैंसते जियो, जन.-फ. पृ. ५।

सुरेश जैन : नैनागिरि खुलते हैं, जहाँ अन्तर्नयन, नव.-दिस., पृ. ६२।

सुरेश 'सरल' : किताने : अनदेखा हिसाब, अक्टूबर, पृ. ६; जुलूम : आदिमियों के रूप में धास-फूस, मई, पृ. १ (आवरण); -'पण्डितजी' बनाम 'पंडजजी', जन, पृ. ८७; -सभा-संस्था : आप क्या सोचते हैं ?, मिनम्बर, पृ. १२; -सम्प्रदाय (तलित व्यरय), नव.-दिस., पृ. ८२; -स्वाध्याय, मार्च, पृ. ७; -हम और मन्दिर (व्यंग्य), जुलाई, पृ. २३; -हैंसते-हैंसते जियो : कब तक ? जन.-फर., पृ. २५।

हरखचन्द बोधरा : स्वर्ग और नरक एक सत्य है (टिप्पणी), जन.-फर., पृ. ४४।

हीराबाई बोरदिया, डॉ. : कथनी-करनी में एक-रूपता, जून, पृ. ३३।

रबर मोहरें लगन पत्रिका बधाई पत्र निमंत्रण पत्र

—: के :-

मध्यप्रदेश में अग्रणी निर्माता

रोगल (मेन्युफेक्चरिंग) इण्डस्ट्रीज

३७/१, नार्थ राजमोहल्ला, इन्दौर-२

कलात्मक रेडीमेड पोषाखों के

निर्माता एवं विक्रेता

रूपराज ड्रेसेज

३७११, मूलचन्द मार्केट, राजवाड़ा, इन्दौर-४

तीर्थंकर : अप्रैल ७९/६७

संस्कृति का अभिषेक

उपवन में आने दो, आत्म-सुरभि गन्ध ।
तोड़ो तम-धेरों से, पिछला अनुबन्ध ॥
सिर पर से गुजर गये, कितने तूफान ।
मिटी नहीं हस्ती पर, होम दिये प्राण ॥

देखते सदैव रहे, एक में अनेक ।
करें श्रमण संस्कृति का, अभिनव अभिषेक ॥

टूट गये, बिखर गये, पर न झुका भाल ।
जलती दिन-रात रही, जान की मशाल ॥
अनगिनती फूल झरे, पर न मरी गन्ध ।
बाणो की वीणा पर, मुखर उठे छन्द ॥

बनी रही आत्मशक्ति, जीवन की टेक ।
करें श्रमण संस्कृति का, अभिनव अभिषेक ॥

कण-कण में ऋषियों की, गुंजी अभिव्यक्ति ।
प्राणों में समा गयी, राम-बाण शक्ति ॥
समता, श्रम, संयम ही, जीवन-शृंगार ।
जड़ भी जी उठता पा, मानव का प्यार ॥

धूमिल न होता है; सत्य, शिव, विवेक ।
करें श्रमण संस्कृति का, अभिनव अभिषेक ॥

देता है दिशा-बोध, सत्य का प्रकाश ।
जीवन का संवल है, श्रद्धा-विश्वास ॥
मानव का धर्म बड़ा, सेवा निष्काम ।
मन की निर्मलता ही, आत्म दिव्य धाम ॥

फूल हैं अनेक पर, उपवन है एक ।
करें श्रमण शक्ति का, अभिनव अभिषेक ॥

□ बाबूलाल 'जलज'



मनुष्य + प्रमाद = अज्ञानी

मनुष्य - प्रमाद = ज्ञानी

- यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस तरह व्यर्थ की बकवास करने वाले पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा ले जाता है; तो फिर प्रमाद कैसा ?
- इस जगत् में ज्ञान आदि सारभूत अर्थ हैं। जो पुरुष सोते हैं, उनके वे अर्थ नष्ट हो जाते हैं; अतः सार्थकता के लिए अनवरत जागरूक तथा अप्रमत्त रहना चाहिये।
- आशुप्रज्ञ पण्डित सोये हुआ के बीच भी जागता है। वह प्रमाद में भरोसा नहीं करता। मुहूर्त्त बड़े निटुर होते हैं; शरीर दुर्बल है, अतः अप्रमत्त विचरण करना चाहिये।
- प्रमाद का अपर नाम आस्रव है और अप्रमाद के लिए अन्य समानार्थक शब्द संवर है। इसके न होने से पुरुष पण्डित (ज्ञानी) होता है और होने से बाल (अज्ञानी) कहा जाता है।
- मेधावी पुरुष लोभ और मद से अतीत तथा असन्तोष के निकट होते हैं।
- प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त अभीत होता है।
- प्रमादी मुखी नहीं हो सकता, निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता, ममत्व रखने वाला वैराग्यवान् नहीं हो सकता, और हिंसक दयालु नहीं हो सकता।
- जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है; जो सोता है, वह धन्य नहीं है, धन्य वस्तुतः वह है जो आठों याम भीतर की आँख खुली रखता है।

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

द्वारा प्रचारित]